॥ श्री ॥

हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला

२८२

कविवरश्रीहस्तिमल्लविरचित

विक्रान्तकौरवम्

'प्रकाश' हिन्दीव्याख्योपेतम्

सम्पादकोऽनुवादकश्च

श्री पन्नालाल जैनः

साहित्याचार्य



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१६६६

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, संवत् २०२५
मूल्य : ६-००

Gopal Mandir Lane
P. O. Chowkhamba, Post Box 8,
Varanasi-1 (India)
1969
Phone : 3145

प्रधान शाखा
चौखम्बा विद्याभवन
चौक, पो० बा० ६९, वाराणसी-१
फोन : ३०७६

THE

HARIDAS SANSKRIT SERIES

282

VIKRĀNTA-KAURAVA

OF

KAVIVARA HASTIMALLA

Edited with

'Prakāśa' Hindi Commentary

By

ŚRĪ PANNĀLĀL JAIN



THE

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

VARANASI-1

1969

First Edition
1969
Price Rs. 6-00

Also can be had of
THE CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Publishers and Oriental Book-Sellers
Chowk, Post Box 69, Varanasi-1 (India)
Phone : 3076

प्रस्तावना

श्रव्य और दृश्य के भेद से काव्य के दो भेद हैं। इनमें दृश्य काव्य शिक्षित अशिक्षित सभी के लिये आनन्ददायी होने से बहुत ही लोकप्रिय रहा है। दृश्य काव्य को अभिनय या रूपक कहते हैं। रूपक के शास्त्रकारों ने नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अङ्क, वीथी और प्रहसन इस प्रकार दश भेद निरूपित किये हैं। जनसाधारण में यह नाटक इसी एक नाम से व्यवहृत है। दृश्यकाव्य का विस्तृत वर्णन धनञ्जय के दशरूपक, तथा भारतीय नाट्यशास्त्र में मिलता है। पीछे चल कर विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण के षष्ठ परिच्छेद में भी इसका साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है। दृश्यकाव्य का समीचीन रूप से रसास्वाद करने के लिये नाट्यशास्त्रों का ज्ञान आवश्यक है।

संस्कृतभाषा का नाटकसाहित्य विशाल है। महाकवि भास, कालि-दास, भवभूति, भट्टनारायण, मुरारि, विशाखदत्त, शूद्रक आदि कवियों ने एक से एक बढ़ कर रचनाएं प्रस्तुत कर संस्कृतसाहित्य के इस अङ्ग को सुविस्तृत किया है। दिगम्बर जैन परम्परा में हस्तिमल्ल ने भी 'विक्रान्त-कौरव, मैथिली कल्याण, अञ्जनापवनञ्जय और सुभद्रा' इन चार नाटकों की रचना कर नाटकसाहित्य को श्रीवृद्धि की है। यहां इन चार नाटकों में से विक्रान्तकौरव पाठकों के हाथों में समर्पित करते हुए हर्ष होता है विक्रान्त कौरव के अन्य नाम 'विक्रान्तकौरवीय' 'कौरवपौरवीय' और 'सुलोचना' नाम भी ग्रन्थकर्ता को इष्ट है। क्योंकि ग्रन्थकर्ता ने प्रथम अङ्क के पुष्पिका वाक्य में 'विकान्तकौरवीय' द्वितीय अङ्क की पुष्पिका वाक्य में 'कौरव पौरवीय' और तृतीय, चतुर्थ तथा पञ्चम अङ्क की पुष्पिका वाक्य में 'सुलोचना' नाम प्रकट किया है। षष्ठ अङ्क की पुष्पिका वाक्य में ग्रन्थ का नाम न देकर मात्र अङ्क का नाम दिया है।

हस्तिमल्ल

दिगम्बरग्रन्थकारों में हस्तिमल्ल अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। इनके पिता का नाम गोविन्द भट्ट था। वे वत्सगोत्री ब्राह्मण थे। समन्तभद्र के देवागमस्तोत्र के प्रभाव से प्रभावित हो उन्होंने सम्यग्दृष्टि होकर अनेकान्तमत को स्वीकृत किया था। ये दक्षिण भारत के निवासी थे। ब्रह्मसूरि के 'प्रतिष्ठासारोद्धार' ग्रन्थ में किये हुए उल्लेख से सिद्ध होता है कि गोविन्द भट्ट पाण्ड्यदेश के गुडिपत्तन नामक नगर के रहने वाले थे। स्वर्णयक्षी के प्रसाद से इनके छह पुत्र उत्पन्न हुए—१ श्री कुमार कवि २ सत्यवाक्य ३ देवरवल्लभ ४ उदयभूषण ५ हस्तिमल्ल और ६ वर्धमान। विक्रान्तकौरव की प्रशस्ति से विदित होता है कि ये छहों पुत्र कवीश्वर थे।

विक्रान्तकौरव नाटक के कर्ता हस्तिमल्ल हैं। हस्तिमल्ल के सरस्वतीस्वयंवर वल्लभ, महाकवितल्लज और सूक्तिरत्नाकर ये विरुद थे। राजावलीकथे के कर्ता ने उन्हें उभयभाषाचक्रवर्ती लिखा है। यहां उभय-भाषा से कर्णाटक और संस्कृत भाषा समझना चाहिये। इन्हीं हस्तिमल्ल का कर्णाटक भाषा में लिखित एक आदिपुराण ग्रन्थ भी है उसकी पुष्पिका में उन्होंने स्वयं लिखा है—

'इत्युभयभाषाकविचक्रवर्तिहस्तिमल्लविरचितपूर्वपुराणमहाकथायादशम-पर्वः')।

पूर्वपुराण आदिपुराण का ही नामान्तर है।

हस्तिमल्ल न केवल कवि थे किन्तु हस्तियुद्ध में भी अत्यन्त निपुण थे। इन्होंने एक मत्त हाथी को वश करने के उपलक्ष्य में नाना कलाओं के सागर पाण्ड्यनरेश के द्वारा सभा में सत्कार प्राप्त किया था। इसका उल्लेख इसी विक्रान्तकौरव के प्रथम अंक के अन्त में स्वयं हस्तिमल्ल ने किया है यथा—

श्रीवत्सगोत्रजनभूषणगोपभट्ट-
प्रेमैकधामतनुजो भुवि हस्तियुद्धात्।
नानाकलाम्बुनिधिपाण्ड्यमहेश्वरेण
श्लोकैः शतैः सदसि सत्कृतवान् बभूव ॥ ४० ॥

अञ्जना पवनञ्जय के—

श्रीमत्पाण्ड्यमहीश्वरे निजभुजादण्डावलम्बीकृत
कर्नाटावनिमण्डल पदनतानेकावनीशेऽवति ।
तत्प्रीत्यानुसरन् स्वबन्धुनिवहैर्विद्वद्भिराप्तैः सम
जैनागारसमेतसततगमे श्रीहस्तिमल्लोऽवसत् ॥

इस उल्लेख से ऐसा मालूम होता है कि हस्तिमल्ल अपने बन्धुजनों के साथ जैनमन्दिरों से युक्त सततगम अथवा (पाठान्तर से) सततनम ग्राम में रहते थे और उस समय पाण्ड्यनरेश कर्नाटक देश की रक्षा करते थे। यह सततगम अथवा सततनम कौन स्थान है इसका निर्णय नहीं हो रहा है। सभव है कि यह गुडिपत्तन अथवा दीपगुडि का ही एक नाम हो।

हस्तियुद्ध की घटना सरण्यापुर की है जैसा कि सुभद्रा में उल्लेख है—

सम्यक्त्वस्यपरीक्षार्थं मुक्त मत्तमतङ्गजम् ।
य सरण्यापुरे जित्वा हस्तिमल्लेति कीर्तितः ॥

यह सरण्यापुर कौन है इसका भी पता नहीं है। या तो यह सततगम का ही दूसरा नाम है या फिर पाण्ड्यनरेश किसी कारण से हस्तिमल्ल के साथ कहीं गये होंगे वहा की घटना होगी।

ब्रह्मसूरि ने अपने प्रतिष्ठासारोद्धार में हस्तिमल्ल के पिता गोविन्द भट्ट का निवासस्थान गुडिपत्तन बतलाया है। श्री प० के० भुजबली शास्त्री के मतानुसार यह स्थान तजोर का दीपगुडि नामक स्थान है जो पाण्ड्यदेश में है। इसी गुडिपत्तन का उल्लेख हस्तिमल्ल ने विक्रान्तकौरव की प्रशस्ति में द्वीपगुडि नाम से किया है। यथा—

श्रीमद्वीप गुडीशः कुशलवरचिनः स्थानपूज्यो वृषेश
स्याद्वादन्यायचक्रेश्वरराजवशकृद्धस्तिमल्लाह्वयेन ।
गद्यैः पद्यैः प्रबन्धैर्नवरसभरितैराहतोऽय जिनेश
पायात्र पादपीठस्थलविकटलसत्पाण्ड्यमौलिप्रमोघः ॥

कर्नाटकविचरित के कर्ता आर० नरसिंहाचार्य ने हस्तिमल्ल का समय १३४७ विक्रम संवत् निश्चित किया है जो कि ठीक मालुम होता है

क्योंकि अय्यपार्य नामक विद्वान् ने अपने जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय नामक प्रतिष्ठापाठ में लिखा है कि मैंने यह ग्रन्थ वसुनन्दि, इन्द्रनन्दि, आशाधर और हस्तिमल्ल आदि की रचनाओं का सार लेकर लिखा है और उक्त ग्रन्थ वि० सं० १३९६ में समाप्त हुआ है अतएव हस्तिमल्ल १३९६ वि० सं० से पूर्व हो चुके थे।

अब तक हस्तिमल्ल के १ विक्रान्तकौरव, २ मैथिलीकल्याण, ३ अञ्जनापवनञ्जय और ४ सुभद्रा ये चार नाटक प्राप्त हुए हैं तथा चारों ही माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई से मूलरूप में प्रकाशित हो चुके हैं। इनके सिवाय १ उदयनराज २ भरतराज ३ अर्जुनराज और ४ मेघेश्वर इन चार नाटकों का उल्लेख और मिलता है। सम्भव है ये दक्षिण के भाण्डारों में विद्यमान हों।

अय्यपार्य के उल्लेखानुसार हस्तिमल्ल का कोई प्रतिष्ठाग्रन्थ अवश्य होना चाहिये जिसका आधार अय्यपार्य ने अपने जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदय नामक प्रतिष्ठापाठ में लिया है। आरा के जैन सिद्धान्तभवन में एक प्रतिष्ठातिलक नामक ग्रन्थ है जिस पर कर्ता का नाम नहीं है। छानबीन करने से संभव हो सकता है कि वह हस्तिमल्ल की ही रचना हो। यह पहले लिख आये हैं कि हस्तिमल्ल संस्कृत के समान कर्नाटक भाषा के भी अद्वितीय विद्वान् थे। इसीलिये वे उभयभाषाचक्रवर्ती कहलाते थे। कर्नाटक में आदिपुराण (पुरुचरित) और श्रीपुराण ये दो ग्रन्थ हस्तिमल्ल के बनाये हुए उपलब्ध हैं।

हस्तिमल्ल गृहस्थ थे उनके पुत्र पौत्रादि का वर्णन ब्रह्मसूरि ने अपने प्रतिष्ठासारोद्धार में किया है। स्वयं ब्रह्मसूरि भी उनके वंश में हुए हैं। उन्होंने लिखा है कि पाण्ड्यदेश में गुडिपत्तन के शासक पाण्ड्यनरेन्द्र थे जो बड़े धर्मात्मा, वीर, कलाकुशल और पण्डितों का सन्मान करने वाले थे। वहां वृषभतीर्थंकर का रत्न स्वर्णजटित सुन्दर मन्दिर था, जिसमें विशाखनन्दि आदि विद्वान् मुनि रहते थे। गोविन्द भट्ट यहीं के रहने वाले थे। उनके श्री कुमार आदि छह पुत्र थे। हस्तिमल्ल के पुत्र का नाम पार्श्वपण्डित था जो अपने पिता के ही समान यशस्वी, धर्मात्मा और शास्त्रज्ञ था। यह अपने वशिष्ठ काश्यपादि गोत्रज बान्धवों के साथ होटसल देश में जाकर

रहने लगा जिसकी राजधानी छत्रत्रयपुरी थी। पार्श्वपण्डित के चन्द्रप, चन्द्रनाथ और वैजय्य नामक तीन पुत्र थे। इनमें चन्द्रनाथ अपने परिवार के साथ हेमाचल (होसूरू) में जा बसा और दो भाई अन्य स्थान को चले गये। चन्द्रप के पुत्र विजयेन्द्र हुए और विजयेन्द्र के ब्रह्मसूरि, जिनके बनाये हुए त्रिवर्णाचार और प्रतिष्ठातिलक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। ब्रह्मसूरि ने अपनी जो वंशपरम्परा दी है उसके अनुसार हस्तिमल्ल उनके पितामह के पितामह थे। ब्रह्मसूरि विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के विद्वान् माने जाते हैं यदि चार पीढ़ियों में सौ वर्ष का भी अन्तर माना जाय तो हस्तिमल्ल विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के विद्वान् सिद्ध होते हैं।

विक्रान्तकौरव की कथा-वस्तु

विक्रान्तकौरव में हस्तिनागपुर के राजा सोमप्रभ के पुत्र जयकुमार और वाराणसी के राजा अकम्पन की पुत्री सुलोचना के स्वयंवर का वर्णन है। राजा सोमप्रभ और अकम्पन प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव के समय में हुए हैं। वह समय कर्मभूमि के प्रारम्भ का समय था। जैनकालगणना के अनुसार बीस कोड़ाकोड़ी(१) सागर का एक कल्पकाल होता है। इस कल्पकाल में दश कोड़ाकोड़ी सागर का एक उत्सर्पिणीकाल और दश कोड़ाकोड़ी सागर(२) का एक अवसर्पिणीकाल होता है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छह काल इस प्रकार हैं—१ दुःषमा दुःषमा २ दुःषमा ३ दुःषमा सुषमा ४ सुषमा दुःषमा ५ सुषमा और ६ सुषमा सुषमा। इनमें पहला काल इक्कीस हजार वर्ष का, दूसरा काल इक्कीस हजार वर्ष का, तीसरा काल बियालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर का, चौथा काल दो कोड़ाकोड़ी सागर का, पञ्चम काल तीन कोड़ाकोड़ी सागर का और छठवां काल चार कोड़ाकोड़ी सागर का होता है—उत्सर्पिणी काल के उक्त छह भेदों में मनुष्यों की आयु बल, विद्या, बुद्धि आदि की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है। उत्सर्पिणी के छह काल समाप्त होने पर अवसर्पिणी के निम्नलिखित छह

---

(१) एक करोड़ में एक करोड़ का गुणा करने पर जो गुणन फल हो उसे कोड़ाकोड़ी कहते हैं।

(२) असंख्यात वर्षों का एक सागर होता है।

काल क्रम से प्रवृत्त होते हैं—१ सुषमा सुषमा २ सुषमा ३ सुषमा दुःषमा ४ दुःषमा सुषमा ५ दुःषमा और ६ दुःषमा--दुःषमा। ये छह काल भी क्रम से ४ कोड़ाकोड़ी सागर, तीन कोड़ाकोड़ी सागर, दो कोड़ाकोड़ी सागर, बियालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर, इक्कीस हजार वर्ष और इक्कीस हजार वर्ष के होते हैं। अवसर्पिणीकाल के छह भेदों में मनुष्यों की आयु बल, विद्या, बुद्धि आदि में उत्तरोत्तर ह्रास होता रहता है। इस समय अवसर्पिणी का पांचवां काल चल रहा है जिसके इक्कीस हजार वर्षों में से अभी २४६८ वर्ष बीत चुके हैं। प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव तीसरे काल के अन्त में हुए थे और तीसरे काल में जब तीन वर्ष साढ़े आठ माह बाकी थे तब मोक्ष चले गये थे। इस तरह भगवान् वृषभदेव का समय आज से असंख्य वर्ष पूर्व जा पहुंचता है। भगवान् वृषभदेव के पूर्व भरतक्षेत्र में भोगभूमि की रचना थी। कल्पवृक्षों से सब-का काम चलता था। पर भगवान् वृषभदेव के समय भोगभूमि नष्ट हो कर कर्मभूमि का प्रारम्भ हुआ। भगवान् वृषभदेव ने असि, मषी, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या इन छह कर्मों का उपदेश देकर सबको निर्वाह—आजी-विका की शिक्षा दी। उन्होंने नगर, ग्राम आदि का विभाग कराया, वर्णव्य-वस्था की तथा राजवंशों की स्थापना की। सर्व प्रथम भगवान् वृषभदेव ने भरतक्षेत्र में जिन चार राजाओं को राज्याभिषेक किया था उनमें वाराणसी के राजा अकम्पन और हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ भी थे। जब भगवान् वृषभदेव संसार से विरक्त हो अरहन्त अवस्था को प्राप्त हो चुके थे और उनके बड़े पुत्र भरत चक्रवर्ती अयोध्या के राज्यसिंहासन पर आरूढ़ थे। तब सुलोचना का स्वयंवर हुआ था। यह स्वयंवर इस अवसर्पिणी युग का सर्व प्रथम स्वयंवर था। प्रशान्तवाहिनी मन्दाकिनी के तीर पर बसी वाराणसी की सजावट अद्भुत थी। वाराणसी के बाहर आगन्तुक राजकुमारों का शिविर लगा हुआ था। प्रथम स्वयंवर होने के कारण उसे देखने की उत्सुकता सब में थी। इसलिये पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सभी ओर के अनेक राजकुमार उसमें सम्मिलित हुए थे। विजयार्धपर्वत के निवासी विद्याधर भी आये थे। नगरदेवता की यात्रा के लिये सुलोचना का जुलूस निकला हुआ था। सुलोचना पालकी पर सवार थी। उसी समय एक आम्र वृक्ष

के नीचे बैठे हस्तिनागपुर के राजा सोमप्रभ के पुत्र जयकुमार पर उसकी दृष्टि पड़ी। यहीं से उसके हृदय में अनुराग शुरू होता है। कवि ने सुलोचना और जयकुमार के हृदय में अनुराग का बीजवपन बड़ी सुन्दरता के साथ किया है। दर्पण में जयकुमार का प्रतिबिम्ब लेकर उसे सुलोचना ने बड़ी शालीनता के साथ देखा है। गङ्गातीर के उद्यान में दूसरे दिन प्रातःकाल कवि ने सुलोचना और जयकुमार का पुनः साक्षात्कार कराया है। दोनों के हृदय का अनुराग क्रमशः विस्तृत होता जाता है। स्वयंवरमण्डप में सुलोचना जयकुमार के गले में स्वयंवरमाला डालती है। निराश राजकुमार भरत-चक्रवर्ती के पुत्र अर्ककीर्ति के नेतृत्व में युद्ध के लिये तैयार होते हैं। अर्ककीर्ति के साथ आया हुआ निरवद्य मन्त्री अर्ककीर्ति का बहुत समझाता है। इसी प्रकार अकम्पन अपने प्रधान प्रतीहार आर्य महेन्द्रदत्त को भेज कर बहुत ही विनय प्रदर्शित करते हैं तथा अपनी दूसरी पुत्री रत्नमाला देने का प्रस्ताव करते हैं पर अर्ककीर्ति का क्रोध शान्त नहीं होता है। फलस्वरूप अकंपन तटस्थ रह जाते हैं और जयकुमार का प्रतिपक्षी राजकुमारों के साथ युद्ध होता है। उसमें जयकुमार अर्ककीर्ति को बाँध लेता है। निरवद्य मन्त्री ने अर्ककीर्ति की इस उत्तेजना की सूचना चक्रवर्तीभरत के पास भेजी थी पर भरत महाराज ने जो गम्भीरता प्रकट की वह उनके ही अनुरूप थी। उनकी गम्भीरता देख तथा उनकी ओर से आया हुआ सदेश सुनकर अकम्पन महाराज गद्गद हो उठे। वातावरण शान्त हो गया। अकंपन ने अपने प्रस्ताव के अनुसार पहले अर्ककीर्ति के साथ रत्नमाला का विवाह किया और पीछे जयकुमार के साथ सुलोचना का। इस तरह नाटक की कथावस्तु अत्यन्त संक्षिप्त है। परन्तु कवि ने अपने कौशल से उसे इस तरह पल्लवित किया है कि पाठक का हृदय आनन्द से विभोर हो उठता है।

जयकुमार और सुलोचना का विस्तृत जीवनचरित जिनसेन के महापुराण में वर्णित है। उसी के आधार पर मात्र स्वयंवर की घटना को लेकर इस नाटक की रचना हुई है। जयकुमार दिग्विजय के समय भरतचक्रवर्ती के सेनापति रहे हैं और म्लेच्छों के युद्ध में उन्होंने अपनी अद्भुत वीरता दिखलाई है। स्वयंवर [redacted] सुलोचना को विवाह कर जयकुमार हाथी पर सवार हो जिस समय गङ्गा पार कर रहे थे उसी समय पूर्वभव के

वैरी एक देव ने ग्राह का रूप रख कर हाथी का पैर पकड़ लिया। हाथी धीरे-धीरे डूबने लगा। सब ओर आर्तनाद छा गया पर सुलोचना ने एकाग्रमन से पञ्चनमस्कार मन्त्र का जाप किया उसके फलस्वरूप पूर्व जन्म में उपकृत एक देव ने उस ग्राहरूपधारी देव का दमन कर हाथी का उद्धार किया। जयकुमार विवाह के बाद सीधे हस्तिनागपुर न जाकर अयोध्या होते हुए गये। भरतचक्रवर्ती ने बड़े प्रेम से जयकुमार और सुलोचना का स्वागत किया। जयकुमार बहुत ही नीतिज्ञ राजा थे। अन्तिम अवस्था में संसार से विरक्त होकर उन्होंने मुनि-दीक्षा धारण की और भगवान् वृषभदेव के चौरासी गणधरों में से एक गणधर हुए।

विक्रान्तकौरव की साहित्यिक सुषमा

हस्तिमल्ल की रचना अत्यन्त प्रौढ तथा व्याकरण के नियमों का पूर्ण पालन करने वाली है। माधुर्य गुण से ओत प्रोत है। नाटक के प्रारम्भ में सूत्रधार हस्तिमल्ल की प्रशंसा करता हुआ कहता है—

'सरस्वत्या देव्या श्रुतियुगवतंसत्वमयते
सुधासध्रीचीना त्रिजगति यदीया सुभणितिः।
कवीन्द्राणां चेतःकुवलयसमुल्लासनविधौ
शरज्ज्योत्स्नालीला कलयति मनोहारि रचना' ॥ ५ ॥

जिन हस्तिमल्ल की अमृतसदृश सूक्ति तीनों जगत् में साक्षात् सरस्वती देवी के कर्णयुगल की आभरणता को प्राप्त होती है और जिनकी हृदय-हारी रचना बड़े-बड़े कवियों के चित्तरूपी नीलकमलों को विकसित करने में शारदी चन्द्रिका की लीला को धारण करती है।

तथा—

'कवीन्द्रोऽयं वाचा विजितनवमोचाफलरसः'

यह कवीन्द्र अपनी वाणी से नूतनकला के रस को जीतने वाला है।

ग्रन्थ का विलोडन करने के बाद हम सूत्रधार की उक्ति को शतप्रतिशत सत्य प्राप्त करते हैं। कवि की भाषा में प्रवाह है, रस है, माधुर्य है और अलंकार की विच्छित्ति है। ऐसा जान पड़ता है कि कवि को रसानुकूल

शब्द योजना करने में किसी विशेष चिन्तन की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे सिद्धसरस्वती के समान किसी भी वस्तु का वर्णन अनायास करने में सफल हुए हैं। प्रस्तावना के अन्त में वासन्तिक दिवसों का वर्णन देखिये। यहा कितनी अव्याहत गति से शब्दावली कवि के मुखारविन्द से प्रकट हो रही है?—

पुष्यच्चूतलताप्रवालकलनामाद्यत्पिकोद्यत्स्वरा
वासन्तीलतिकालतान्तविचरद्भृङ्गारवाडम्बरा ।
फुल्लाशोकसुगन्धबन्धुरचरन्मन्दानिलस्यन्दना
यूनामुत्सुकयन्ति मानसममी वासन्तिका वासरा ॥ ७ ॥

कवि ने प्रथमाङ्क में नन्द्यावर्त के मुख से वाराणसी के जिन भीड़भाड़ से भरे हुए मार्गो का, हाथ जोड़ कर खड़े हुए हजारों भक्तजनों से व्याप्त मन्दिरों का, विकसित कुसुमों की सुगन्धि से सुगन्धित उद्यानों का, सुरवनिता सदृश सुन्दरियों से व्याप्त सौधों का, भीतर से झाकने वाली ललनाओं के मुखों से सुशोभित झरोखों का, प्रियतमाओं के अनुनय में लीन युवाओं से युक्त वेश्यावाटों का तथा वहां की अन्यान्य शोभा का प्राञ्जल गद्य द्वारा जो वर्णन किया है आज सात–आठ सौ वर्ष बीत जाने के बाद भी हम उसे उसी भाति देखते हैं।

द्वितीयाङ्क में प्रतीहार के मुख से गङ्गा का वर्णन करते हुए कवि कितना सुन्दर वर्णन करते हैं—

गङ्गा तरङ्गैर्य विधारयन्ती
सरोजजालं चलहंसमालम् ।
उल्लासिहारप्लवविहारितोया
वाराणसीसीमविहारिपूरा ॥ १० ॥

मदकलसारसलीलाकह्लारविसरणमञ्जुलसमीरा ।
तामरसरसकेसरविसराकुलसलिलकल्लोला ॥ ११ ॥

इसी द्वितीयाङ्क में प्राकृतभाषा में विदूषक के द्वारा और संस्कृत भाषा में राजा के द्वारा गङ्गा तीरो द्यान का जो वर्णन कवि ने किया है वह

बहुत ही हृदयहारी है । देखिये—विविध पुष्पकलिकाओं का रस लेता हुआ भ्रमर किस प्रकार घूमता है ?—

चूषंश्चूताङ्कुराग्रं क्षणमथ कलिकाः पाटयन् पाटलीना-
मास्कन्दन् कुन्दकोशं झटिति विघटयन् कुड्मलं कारहाटम् ।
भिन्दन्मन्दारबद्धं मुकुलमविकचं चम्पकानां च चुम्बन्
पुष्पात्पुष्पं मधुकरनिकरः प्राप्तहर्षप्रकर्षः ॥१५॥

उद्यान के उच्छिलिङ्ग—अनार और मातुलिङ्ग—बिजोरा के वृक्षों का वर्णन करते हुए कवि ने जो उपमालङ्कार की विच्छित्ति तथा सुन्दर शब्दावली की योजना की है वह दर्शनीय है—

छद्मच्छानुबावत्यधरदलरुचा रञ्जितां दन्तपङ्क्ति
गौडीनां प्रौढपाकक्रमपरिदलितैः स्वैः फलैरुच्छिलिङ्गः ।
निष्टप्तस्वर्णवर्णच्छविभिरवहितघ्राणलेढव्यगन्धैः
काश्मीरीगण्डशोभां कवलयति फलैर्निर्मलैर्मातुलिङ्गः ॥१६॥

गद्यद्वारा गङ्गावर्णन की एक झांकी देखिये—

राजा—(विलोक्य निर्वर्ण्य च) इयं खलु मदोद्धुरोद्दाममल्लिकाक्षपक्षविक्षेपक्षोभणप्रक्षरदरविन्दमरन्दावस्कन्दसान्द्रसलिला, सलीलविलोटमानपाठीनपरिपाटीजटिलकल्लोला, कलक्वणितानुमीयमानेन्दिदिरवृन्दान्दोलितविनिद्रेन्दीवरवना, विहारकेलीकलहायमानकोकनिनदमुखरितविकचकोकनद कुटीरकोटरा,सकौतुकवरटाटनानुसरणसंभ्रान्तकलहंसकुलसंकुलोत्फुल्ल पुण्डरीकषण्डा,चटुलखञ्जरीटकुटिलपदपङ्क्तिचित्रितपर्यन्तसैकततला, प्रसादलुलितनिर्मलस्फाटिकतटा विघटितसौगन्धिकगन्धसम्बन्धबन्धुरितगन्धवाहा,नन्दयति नयनानि मन्दाकिनी ।

इसी द्वितीयाङ्क के गङ्गा तीरोद्यान में सुलोचना का प्राकृतभाषा द्वारा जो आत्मगत चिन्तन लिखा गया है वह भवभूति के मालतीमाधव में मालती के आत्मगतचिन्तन का स्मरण कराता है ।

कवि द्वारा नये नये शब्दों का प्रयोग देखिये—

अयमिह महषानः संगरन् बर्हभारं
तरुविटपनिषण्णस्सेवते स्वापसौख्यम् ।

श्रयति तपनतापादुत्त्रसन्नत्र चासौ
घननलिनपलाशाभ्यन्तरं मन्दसानः ॥ ३५ ॥

यहा मयूर के लिये सहसान और हस के लिये मन्दसान शब्द का प्रयोग नूतन है।

वाराणसी का वेशवाट बहुत पहले से प्रसिद्ध रहा है। कवि भी उसके वर्णन का लोभसंवरण नहीं कर सके हैं। देखिये तृतीयाक के प्रारम्भ में विट द्वारा उसका कितना सुन्दर वर्णन है—

कथमसौ विलासवाह्यालिर्मकरध्वजस्य, सगीतशाला रते, विक्रयापण्य-स्त्रीरत्नानाम्, उत्पत्तिभवन शृङ्गारस्य, नामिगृह लीलाया, निर्माणभूमिर्वि-भ्रमाणाम्, आकर्षणवडिश तरुणजनमनोमीनानाम्, अवस्कन्दपरबलमि-न्द्रियग्रामस्य, विनयमुखराङ्घेपणरज्जो विनीतजनवारणानाम्, स्वगुणविक-स्वनस्थान पाद्गानाम्, वैदग्ध्यविनिमयहट्टश्छेकानाम्, करालगोलव्यतिकर पितृवन वेश्याजनमातृजरत्तिटाचिकानाम्, पुराणा श्मशानकुर्याणिकादारिका भुजङ्गीनाम्, अपूर्वमद्वैतदर्शन मायाप्रपञ्चस्य, पारिपन्थिको निःश्रेयसपथ-पान्थानाम्, मनोरथमात्रास्वाद्यो दुर्गतानाम्, द्रविणवता सदाप्यदत्तकवाटो वेशवाटः।

विट महाशय वाराणसी के वेशवाट में प्रवेश कर इतने तल्लीन हो जाते हैं कि वहा से निकलने का नाम ही नहीं लेते। वे एक एक कर अनेक वेश्याओं का आतिथ्य स्वीकृत करते हैं। अन्त में आप अशोकलतिका के घर रुक कर स्वयंवर में आने वाले विविध राजकुमारों की साजसज्जा का अवलोकन करते हैं। यथार्थ में यह प्रकरण आवश्यकता से अधिक लम्बा हो गया है। पाठक का चित्त इसे पढ़ते-पढ़ते ऊब-सा जाता है।

तृतीय अक में स्वयंवर सभा में आसीन राजाओं का वर्णन कविकुल-गुरु कालिदास के द्वारा रघुवश में वर्णित इन्दुमती के स्वयंवर का स्मरण करा देता है। स्वयंवर सभा में प्रवेश करती हुई सुलोचना का वर्णन देखिये कितनी मधुर भाषा में हुआ है—

राजा (सोच्छ्वासमात्मगत) कथ प्रविष्टैव (निर्वर्ण्य) इय दिशा

काशिपतेस्तनूजा स्वयंवरस्थानसभामुपैति । सुलोचना दीर्घविलोचनाभिः पुराङ्गनाभिः सह निम्ननाभिः ॥ ३५ ॥

स्वयंवरविधि की श्लाघा करते हुए कवि प्रतिहार के मुख से कहलाते हैं—

अहो महाराजस्य सर्वातिशायिनी प्रज्ञा यदुपज्ञमियं प्रज्ञावतामगर्हणीया वधूवरसमाराधनलब्धस्तोत्रास्वयंवर यात्रा ।

पिता वा माता वा भवतु स वरस्तादृगथवा
कुमारी तच्छन्दं निभृतमवगच्छेदिति तु यत् ।
तदप्येषा दत्तिर्लंघयति यदस्या रमयितु—
गुंणं वा दोष वा स्वरुचिमनुचक्षुर्विमृशति ॥ ३६ ॥

रस के अनुरूप रीति के निर्वाह और छन्दों के चयन में कवि ने असीम सफलता प्राप्त की है—तृतीय अंक के अन्त में जहां शृङ्गार की धारा वीर रस में परिवर्तित होती है वहां राजा तथा नन्द्यावर्त की उक्तियां देखिये—

राजा (सक्रोधं) अरे रे दुर्वान्तक्षत्रियकीटाः शृणुतेमां प्रतिज्ञाम्

वक्षःप्रस्थात् क्षुरप्रप्रहति विघटितग्रन्थिबन्धश्लथास्थ्न-
श्चोतन्मस्तिष्कशकलस्थपुटितपिशितादुत्खनन्मानशङ्कुम् ।
आसातकाञ्जिहासन् प्रथमतरमसून् मोघसंरम्भशोच्या
नाच्छेत्स्यत्येष रोषग्रहविहृतघृणः कौरवो भैरवो वः ॥ ७६ ॥

नन्द्यावर्तः—रे रे अस्थानोत्थितक्रोधाभिभूतविडम्बितवीररसाः पश्यन्तु विश्वेऽपि क्षुद्राः क्षत्रियकुलपांसुलाः ।

निर्मुञ्चन्बाणवृष्टीर्निविडनिपतनाकाण्डबद्धान्धकाराः
स्वैरावस्कन्दरुग्णप्रतिनृपतिशिरःस्कन्धसम्बन्धसन्धीः ।
कल्पान्तष्ठ्यूतधाराकवलितगगनाभोगसीम्नस्समन्ता-
न्नन्द्यावर्तोऽद्य लीलां रचयति समरे पुष्कलावर्तकस्य ॥ ७७ ॥

चतुर्थ सर्ग के प्रारम्भ में क्रुद्ध अर्ककीर्ति के प्रति निरवद्य मंत्री की हितावह देशना देखिये और भाषा की रसानुसार सुकुमारता पर विचार कीजिये—

'युवराज ! केयं पृथग्जनसुलभाऽप्रेक्षापूर्वकारित्वप्रवृत्तिः ? किंचेदमात्मवतामनभिमतं दुःशिक्षितजनदुरुपदेशेषु श्रोत्रदानव्यवसनम् ? कश्चायं

प्राकृतजनप्रवर्तित पुरुषान्तरगुणसमावर्जितचित्तायामाग्रहो योषिति ! क्व चायं परिचित कलुषानुषङ्गो वा कलुषेतरमानवोन्मथनमन्थाः पथाः ! कुतश्चामून्यधीतानि परिहृतविवेकयन्त्रणानि क्रोधोद्धतिस्वतन्त्राणि वचांसि ! सा खलु चक्षुष्मत्ता यदुत परपरिग्रहगर्हितेषु जनुषान्धत्व कलत्रेषु । सैव च श्रुतिमत्ता यत् किल दुर्दान्तजनदु प्रलपितेषु पुरुषस्योचैःश्रवस्त्वम् । स खलु विक्रामति यस्य निसर्गदुर्मार्गप्रसङ्गमलीमसैरिन्द्रियमलिम्लुचैर्न मुष्यते हृदयम् । अभिजातजनहास्यता च प्रथयति मानिनो यशस्विताम् । विगीता रणचुम्बिता च विधूयोति पैतामचातुर्यम् ।'

युवराज ! महाराजस्त्वामाह—

विनीतो बाल्येऽपि त्वमसि पितुरेव प्रतिनिधि.
परं प्रेचानिघ्न. प्रकृतिमनघां मास्म विसृज ।
परेषां पैशुन्यार्हाहि च वचनीयान्मलिनता
कियद्वा भिन्न मे भरत इति हेमाङ्गद इति ॥ १५ ॥

"दूराह्वान वधो युद्ध राज्यदेशादिविप्लव" आदि सिद्धान्त के अनुसार नाटक में युद्ध का साक्षात् वर्णन निषिद्ध है । इसलिये रत्नमाली विद्याधर, उसकी स्त्री रत्नमाला, मित्र मदर और अनुचर मन्थरक के वार्तालाप के द्वारा उसका परोक्ष वर्णन किया गया है । यह वर्णन इतना उदात्त और रसपूर्ण है कि इसे पढ़कर पाठक की आंखों के सामने युद्ध का साक्षात् दृश्य झूलने लगता है । युद्ध के समय धूलि उड़कर आकाश में छा जाती है इसका वर्णन देखिये कवि ने कितने मनोहर उत्प्रेक्षालकार से किया है ।

त्यात' पूर्वं जगति समरो मत्कृते भूपतीनां
कांचित्कन्यां प्रति रणमिदं क्षयशो मे प्रमार्ष्टि ।
इत्युद्भूतात् प्रकृतिसुलभात् स्त्रीषु सापत्नवैरात्
क्वापि क्षोणी घनतपरजश्छद्मना गच्छतीव ॥ ३२ ॥

अर्थात् पृथिवी सोचती है कि आज तक राजाओं के जितने युद्ध हुए वे सब हमारे लिये हुए पर यह युद्ध एक कन्या के लिए हो रहा है। इस तरह उत्पन्न हुए स्त्रीविषयक सौतियाडाह के कारण ही मानो पृथिवी सान्द्रधूलि के छल से कहीं भागी जा रही है ।

इस युद्ध के प्रसङ्ग को लेकर कवि ने वीररस का प्रवाह खूब ही प्रवाहित किया है। प्रत्येक वर्णन में हम देखते हैं कि कवि की काव्यकला अपने आप में पूर्णता को प्राप्त है। एक श्लोक देखिये जिसमें कवि ने युद्ध के समय उभय पक्ष की उक्ति प्रत्युक्तियों का सिर्फ लोट् लकार मध्यम पुरुष के एक वचन में कितना सुन्दर संग्रह किया है।

क्षुन्ध्याघूर्णय कुट्टय क्षिप दह व्यारुन्ध सधानय
भिन्धिच्छिन्धि मथान ताडय जहि व्यावर्तयापातय।
विद्धयास्फालय भञ्ज रुन्धि विकिर व्याकर्ष घर्पोद्धरे—
त्येवं प्रायमिहोच्चरद्धच इदं व्याजायते व्योमनि ॥४३॥

भूमिगोचरी राजाओं के साधारण युद्ध का वर्णन कर कवि ने विद्याधरों के छलबहुल युद्ध का भी अच्छा वर्णन किया है। उत्तररामचरित में भवभूति ने लव-कुश और चन्द्रकेतु के बीच इस छलबहुल युद्धका थोड़ा सा सूत्रपात किया है परन्तु यहां उसका बड़ी सुन्दरता के साथ पल्लवन किया गया है। इस छलबहुल युद्ध को लेकर आंधी, वर्षा तथा अग्नि आदि का भी प्रसंगोपात्त अच्छा वर्णन इसमें आ गया है। युद्ध के प्राङ्गण में डटे हुए जयकुमार और अर्ककीर्ति के बीच जो उत्तर प्रत्युत्तर होता है वह भी पाठक के हृदय में जोश उत्पन्न करने वाला है। अन्त में जयकुमार अर्ककीर्ति के रथ पर चढ़ उसे पाश से बाँध कर निम्न गर्जना करता है।

अयमयमिह युद्धाबद्धगर्वोद्धतानां भुजबलमदभारं स्वैरमथावरोप्य
नियमयति भुजौ द्वौ भारतस्यार्ककीर्तेर्युधि कुरुपतिसूनुर्मोचयन्त्वेतदीयाः ॥६६॥

देखिये युद्ध के परिणाम का उद्घोष करते हुए कवि ने अपने श्लेषचातुर्य का कैसा सुन्दर परिचय दिया है!

परा जयमसौ प्राप्ता कौरवस्य पताकिनी।
पराजयमसौ प्राप्ता पौरवस्य पताकिनी ॥१००॥

पञ्चम अंक के प्रारम्भ में भरतचक्रवर्ती के पुत्र अर्ककीर्ति को युद्ध में बद्ध सुन कर सुलोचना के पिता अकम्पन को बहुत दुःख होता है। यद्यपि जिनसेन के महापुराण में वर्णन है कि अकम्पन जयकुमार का पक्ष लेकर

युद्ध में शामिल हुए थे। पर इस नाटक में कवि ने उन्हें मध्यस्थ ही प्रकट किया है। वे युद्ध के समय वाराणसी की रक्षा करते हुए अपने दुर्दैव को ही दोष देते रहे हैं। युद्ध के बाद जयकुमार को कितनी फटकार देते हैं अकम्पन महाराज, यह निम्नश्लोकों में देखिये—

यद्वा मयानात्मन एव बन्धु नार्हत्यशङ्क भरतस्य सूनुम्।
विमुच्यतामेष तदाशु बन्धात् स मुच्यतां मुग्ध तथापि मोह ॥ ७ ॥
सुतोऽयमाद्यो ननु चक्रवर्तिनस्तवावमानेऽवमतस्स एव हि।
इति त्वया डिम्भ न हन्त चिन्तितं पितु कुरोर्नानुकरोषि चेष्टिते ॥ ८ ॥

महाराज अकम्पन की इस मध्यस्थता ने अपने आपको चक्रवर्ती के कोप से बचा लिया। अर्ककीर्ति के साथ आगत निसृष्ट मन्त्री ने चक्रवर्ती के पास जो समाचार भेजा था उसके उत्तर में चक्रवर्ती, जयकुमार के पास कितना शान्तिपूर्णनिर्णय भेजते हैं—यह देखिये—

यथार्ककीर्तिर्विनयात्प्रमाद्यन्निरस्ततन्द्र मम शासनीयः।
तथोत्पथप्रस्थित एष मोहात् त्वयापि पथ्ये पथि वर्तनीयः॥ १० ॥

महाराज अकम्पन के लिये भी चक्रवर्तीभरत ने जो लेख भेजा था उसका आदर्श देखिये—

यद्युष्माकमसौ वचांसि शिरसाम्यर्च्यानि शेषास्यया
व्यामोहादविलङ्घतेऽस्म तदयं पुत्रोऽर्ककीर्तिर्ननु।
अप्यस्मिन् भवता न कर्तुमुचितोपेक्षा समीक्षावता
मन्दाज्ञो भवति प्रमाद्यति जने को वा विनेये सुधी ॥११॥

ततश्च—

न द्वेष्टि मेघेश्वरमर्ककीर्तिर्मेघेश्वरो द्वेष्टि न चार्ककीर्तिम्।
यथा सुहृद्द्वय विवान्तवैरौ तथा भवद्भि प्रतिबोधनीयौ ॥१२॥

चक्रवर्ती की इस लोकोत्तर शान्ति और न्यायप्रियता को देख कर महाराज अकम्पन गद्‌गद होकर कहते हैं—

शर्मं दधातो योगिदुर्लभं
गुणैः कियद्वा(१) पितुरेष हीयते ।
तदस्य संचिन्त्य चरन्तु साधव—
स्सुदुःस्तवं वृत्तमदुष्टवृत्तयः ॥ १४ ॥

त्वय्येष नः(२) सार्वजनीनसूनौ
यशस्वती ह्यत्र न माति हर्षः ।
किमन्यदेते पितर यथा ते
त्वामात्मशौचाय तथा स्मरामः ॥ १५ ॥

पञ्चम अंक में कवि ने राजा, नन्द्यावर्त तथा विदूषक के मुख से प्रमद वन, चन्द्र और चादनी का जो मनोहर वर्णन किया है वह कवि कल्पनाओं का सुन्दर उदाहरण है। वह समग्र प्रकरण उद्धरणीय है पर लेख विस्तार के भय से उद्धरण न देकर पाठकों से यही अनुरोध करूँगा कि उस प्रकरण को निकाल कर स्वयं रसास्वादन करे। युद्ध के बाद सुलोचना अक्षतशरीर जयकुमार को देखने के लिये उत्कण्ठित है। दोनों एक दूसरे को देख कर परम सुख का अनुभव करते हैं। वत्सा रत्नमाला के विवाह संस्कार के लिये माता को बुलावा आने से सुलोचना वापिस चली गई। राजा बड़ी आतुरता के साथ वह रात्रि प्रमदवन में व्यतीत करते हैं। प्रभात होते होते चन्द्रमा की चांदनी समाप्त हो गई, कहा गई ? इसका उत्तर कवि की कलम से सुनिये—

चकोरैर्ज्योत्स्नाम्भः कियदपि निपीतं परिपतत्
पुटेष्वम्भोजानां कियदपि निरुद्धं निमिषदाम् ।
वियोगार्त्तैः कोकैः कियदपि गतं पक्ष विधुतं
विशुष्कं संतप्तास्वथ तनुषु शिष्टं विरहिणाम् ॥८२॥

षष्ठ अङ्क के प्रारम्भ में सुलोचना के भाई हेमाङ्गद और प्रतिहार के द्वारा विवाहोत्सव में आगत स्त्रियों का जो हाव-भाव का वर्णन हुआ है वह एकदम निराला है। देखिये—

---

(१) भगवान् वृषभदेव (२) भगवान् वृषभदेव

सस्तोत्तरीयसिचयोन्मिषितस्तनश्री-
पश्य स्तनांशुकधिया परिमृग्नपद्मा।
मूर्च्छन्नखांशुचयसवलिता करेण
हारप्रभामसकृदाच्छ्रितोह मुग्धा ॥ १३ ॥

एक स्त्री का उत्तरीयवस्त्र खिसककर नीचे गिर गया और उसके स्तनों की शोभा प्रकट हो गई। उसी समय नखों की किरणों के समूह से मिली हुई हार की प्रभा आकाश में फैल गई। वह स्त्री उस हार की प्रभा को ही वस्त्र समझ कर बार बार खींच रही है।

विलोक्य नीलाश्मतले विलोचने
विनम्रगात्रा प्रतिबिम्बिते पुरः।
विवर्तमाठीनयुगाभिशङ्कया
निवर्तयत्यन्यत आकुलं पदम् ॥ १५ ॥

एक स्त्री कुछ नम्र होकर नीलमणि के फर्स पर चल रही है उसके नेत्र उस फर्स में प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। उन प्रतिबिम्बित नेत्रों को मछलियों का युगल समझ कर वह स्त्री बड़ी घबड़ाहट के साथ अपना पैर दूसरी ओर लौटा रही है।

मणिनिर्मलस्फाटिकभित्तिलग्ना
छाया निजा वीक्ष्य सखीति मुग्धा।
मुग्धा परिष्वज्य मुदा विलक्ष-
स्मितेन सिञ्चत्यधरोष्ठमेका ॥ १७ ॥

कोई एक स्त्री स्फटिक की निर्मल दीवाल पर पड़ते हुए अपने प्रतिबिम्ब को सखी समझ उसका हर्ष से आलिङ्गन करती है और पीछे लज्जा से उत्पन्न मन्द हास से अपने अधरोष्ठ को सींच रही है।

अन्त में महाराज अकम्पन जलधारापूर्वक सुलोचना को जयकुमार के लिये समर्पित करते हैं। उस समय महाराज के जो आश्वासना वाक्य हैं वे अत्यन्त हितावह हैं।

इस नाटक में प्रधानरूप से शृङ्गार रस है और अङ्ग रूप से वीर रस है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, समासोक्ति, स्वभावोक्ति तथा अनुप्रास आदि अलंकारों का यथा स्थान प्रयोग हुआ है। छन्दों में हरिणी, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता, स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित, वसन्ततिलका, द्रुतविलम्बित, वंशस्थ और इन्द्रवज्रा आदि प्रसिद्ध प्रसिद्ध छन्दों का प्रयोग हुआ है। सिर्फ पञ्चम अङ्क के ६७ वें श्लोक में नर्कुटक नामक अप्रचलित छन्द प्रयुक्त हुआ है। नाटकीय सिद्धान्त के अनुसार संस्कृत और प्राकृत इन दो भाषाओं का इसमें प्रयोग हुआ है। जिस प्रकार संस्कृत उच्च कोटि की है उसी प्रकार प्राकृत भी उच्च कोटि की है। भाषा की प्रौढ़ता के विषय में कवि ने महाकवि भवभूति की शैली को अपनाया है ऐसा जान पड़ता है। वस्तुतः नाटकों में महाकवि कालिदास के समान सरल भाषा का प्रयोग अधिक रुचिकर होता है। सरल भाषा में लिखे नाटक सरलता से मञ्च पर खेले जा सकते हैं पर क्लिष्ट भाषा में लिखे नाटक मात्र पाठ्य नाटक रह जाते हैं।

संस्कृत जैन साहित्य नाटक, चम्पू, काव्य तथा गद्यकाव्य के रूप में जितना भी उपलब्ध है वह साहित्यिक दृष्टि से उच्च कोटि का है। उसमें साहित्य के समस्त अङ्ग विद्यमान हैं। आधुनिक शैली से उनका सम्पादन और प्रकाशन भी हुआ है। हम आशा करते हैं कि हमारे संस्कृतज्ञ विद्वान् इस साहित्य को भी पठन—पाठन के द्वारा प्रचार में लाने की कृपा करेंगे।

चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय के अधिपतियों का मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने उदारता के साथ इस नाटक का प्रकाशन कर इसे विद्वज्जनों के समक्ष रखा है। प्रस्तावना के ऐतिहासिक अंश में स्व० श्रीमान् नाथूराम जी प्रेमी, बम्बई के 'जैन साहित्य का इतिहास' नामक पुस्तक से सामग्री ली गई है इसलिये उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

इस संस्करण में मूल के साथ मात्र हिन्दी अनुवाद दिया गया है। हिन्दी अनुवाद में नाटकीय सिद्धान्तों का प्रकाशन तथा अलंकार आदि की विशेषताएं बताना दुर्भर होता है। इन सबके लिये संस्कृत टीका की आवश्यकता रहती है। यदि अवसर मिला तो आगामी संस्करण में संस्कृत

टीका भी देने का प्रयास करूँगा। बुद्धिपूर्वक तो मैंने बहुत सावधानी रक्खी है फिर भी त्रुटियों का रह जाना सब तरह संभव है। मैं उनके लिये बड़ी नम्रता के साथ विद्वानों से क्षमाप्रार्थी हूँ।

विद्वज्जनवशंवद
पन्नालाल साहित्याचार्य

लक्षणसंग्रहः

नाटकलक्षणम्—

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्पञ्चसन्धिसमन्वितम् ।
विलासद्ध्यादिगुणवद्युक्तं नानाविभूतिभिः ॥
सुखदुःखसमुद्भूतिनानारसनिरन्तरम् ।
एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा ॥
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः ।

नान्दीलक्षणम्—

नन्दति काव्यानि कवीन्द्र वर्गाः
कुशीलवाः पारिषदाश्च सन्ति ।
यस्मादलं सज्जनसिन्धुहंसी
तस्मादियं सा कथितेह नान्दी ॥

यद्वा—

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥

सूत्रधारलक्षणम्—

नाट्यप्रकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते ।
सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते ॥

प्रथमाङ्कस्य पञ्चमषष्ठयोः श्लोकयोः प्ररोचना नाम अङ्गं तस्य लक्षणम्

अङ्गान्यत्रोन्मुखीकारः प्रशंसानः प्ररोचना ।

प्रस्तावनालक्षणम्—

नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा ।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा ॥

अत्र नाटके प्रवर्तको नाम प्रस्तावनाभेदः, तल्लक्षणम्—

काल प्रवृत्तमाश्रित्य सूत्रधृग् यत्र वर्णयेत् ।
तदाश्रयश्च पात्रस्य प्रवेशस्तत्प्रवर्तकम् ॥

नायकलक्षणम्—

त्यागी कृती कुलीन सुश्रीको रूपयौवनोत्साही ।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजो वैदग्ध्यशीलवान्नेता ॥

नायकभेदाः—

धीरोदात्तो धीरोद्धतस्तथा धीरललितश्च ।
धीरप्रशान्त इत्ययमुक्त प्रथमश्चतुर्भेद ॥

इह नाटके जयकुमारो धीरललितस्तस्य लक्षणम्—

निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात् ।

विदूषकस्य लक्षणम्—

कुसुमवसन्ताद्यभिध कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः ।
हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात्स्वकर्मज्ञ ॥

विष्कम्भलक्षणम्—

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शित ॥
मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां सम्प्रयोजित ।
शुद्ध स्यात्स तु सकीर्णो नीचमध्यमकल्पित. ॥

प्रवेशकलक्षणम्—

प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ।
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा ॥

विटलक्षणम्—

संभोगहीनसम्पद्विटस्तु धूर्तं कलैकदेशज्ञ ।
वेशोपचारकुशलो वाग्मी मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम् ॥

आकाशभाषितलक्षणम्—

किं ब्रवीषीति यन्नाट्ये विना पात्रं प्रयुज्यते ।
श्रुत्वेवानुक्तमप्यर्थं तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥

कञ्चुकीलक्षणम्—

अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः ।
जरसा संश्लिष्टदेहः कञ्चुकीत्यभिधीयते ॥

पताकास्थानलक्षणम्—

यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिन् तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते ।
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत् ॥

सात्विकभावलक्षणम्—

विकाराः सत्वसंभूताः सात्त्विकाः परिकीर्तिताः ।
स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्विकाः स्मृताः ॥

कामस्य दश दशाः—

अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसंप्रलापाश्च ।
उन्मादोऽथ व्याधिर्जडतामृतिरितिदशात्र कामदशाः ॥

अथवा—

नयनप्रीतिः प्रथमं चित्तासङ्गस्ततोऽथ संकल्पः ।
निद्राछेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः ।
उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येताः स्मरदशा दशैव स्युः ॥

नाटके निषिद्धवस्तूनि—

दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः ।
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यू रतं तथा ॥
दन्तच्छेद्यं नखच्छेद्यमन्यद्व्रीडाकरञ्च यत् ।

शयनाधरपानादिनगराद्यवरोधनम् ।
स्नानानुलेपने चैभिर्वर्जितो न्यादिविस्तरः ॥

निःसृष्टार्थस्य लक्षणम्—

उभयोर्भावमुन्नीय स्वयं वदति चोत्तरम् ।
सुश्लिष्टं कुरुते कार्यं निःसृष्टार्थस्तु स स्मृतः ॥



(प्रविश्य)

पारिपार्श्वकः—भाव अयमस्मि आज्ञापयत्वार्य इति।

सूत्रधारः—शृणु तावत्। नानादिगन्तवास्तव्यपण्डितालखण्डमण्डलमण्डितामिमां परिषदं प्रार्थितवानस्मि।

मारिषः—किमिति।

सूत्रधारः—चिराभ्यासपल्लविता मदीयनाट्यशास्त्रविद्या सादरावलोकनेन सफलीक्रियतामिति।

मारिषः—भाव किमर्थमियं प्रार्थना।

अधीतैषा विद्या क्रमत इह पारं च गमिता
प्रदत्ता पात्रेषु प्रथितमनसा तत्र भवता।
यशोमल्लीवल्लीकुसुमसुभगं चाजनि फलं
ततः सैषा याच्ञा सपदि तव दैन्याय भवति ॥ २ ॥

सूत्रधारः—मारिष सत्यमेतत्। तथापीदं श्रूयताम्—

(प्रवेश कर)

पारिपार्श्वक—विद्वन्! यह हूँ, आप आज्ञा दीजिये।

सूत्रधार—अच्छा सुनो, मैंने नाना दिशाओं में रहनेवाले श्रेष्ठ विद्वानों से सुशोभित इस सभा से प्रार्थना की थी।

मारिष—क्या प्रार्थना की थी?

सूत्रधार—चिरकाल के अभ्यास से वृद्धि को प्राप्त हुई मेरी नाटयशास्त्र की विद्या, सम्मानपूर्वक देखने के द्वारा सफल की जाय।

मारिप—विद्वन्! आपने यह प्रार्थना किसलिये की?

अधीतैषा—आपने इस विद्या को पढ़ा तथा इसे नाटयशास्त्र में चरम-सीमा को प्राप्त करायी। उदारचित्त हो कर आपने यह विद्या पात्रों के लिये प्रदान की और उससे मालती लता के फूल के समान सुन्दर यश रूप फल उत्पन्न हुआ। इन सब कारणों से आपकी यह याचना शीघ्र ही आपकी दीनता प्रकट करती है ॥ २ ॥

सूत्रधार—नट! यद्यपि यह सत्य है तथापि यह सुनिये—

एतद्देहानुभाव्ये प्रचुरधनचये नास्ति कस्यापि तृप्ति-
कान्तावर्गेऽपि तद्वत्तरुणिमवयसा केवलेनानुभाव्ये ।
तस्मात्सज्जृम्भमाणे प्रसरति च विना देशकालव्यवस्थां
कीर्तिस्तोमेऽभिरामे जगति कृतमतेः कस्य वा स्याद्विरक्तिः ॥ ३ ॥

किंच । अस्मदीयां नाट्यविद्यावैशद्योल्लसितां कीर्तिमपहर्तुमुपाध्यायभरताचार्यपुत्रस्ततततन्यमानासूयानिवासपदैः नटापसदैः प्रतिबोधितः स्पर्धामाटीकते, तां निर्मूलयितुं च अनितरदुस्साध्यरूपकाभिनयारम्भसरम इति ।

मारिषः—तर्हि युक्तैवा प्रार्थना परिषदा च किमाज्ञप्तमिति ।

सूत्रधारः—

शृङ्गारवीरसारस्य गभीरचरिताद्भुतम् ।
महाकविसमाबद्धं रूपकं रूप्यतामिति ॥ ४ ॥

एतद्देहानुभाव्ये—मात्र इसी शरीर से भोगने योग्य प्रचुर धन-राशि में किसी की तृप्ति नहीं है । इसी तरह मात्र तरुण अवस्था के द्वारा भोगने योग्य स्त्री-समूह में भी किसी की तृप्ति नहीं देखी जाती। अतः उत्पन्न हुए एवं देश और काल की व्यवस्था के बिना फैलते हुए मनोहर यश के समूह में संसार के मध्य किस बुद्धिमान् को विरक्ति हो सकती है ? अर्थात् किसी को नहीं ॥ ३ ॥

किञ्च—इसके सिवाय दूसरी बात यह है कि निरन्तर बढ़ती हुई ईर्ष्या के निवासस्थान स्वरूप नीच नटों के द्वारा बहकाया हुआ उपाध्याय भरताचार्य का पुत्र, नाट्यविद्या के स्पष्ट प्रयोगों से बढ़ी हुई हमारी कीर्ति को हरने के लिये उद्यत हो कर ईर्ष्या करता है । उस ईर्ष्या को निर्मूल करने के लिये अन्य मनुष्यों के द्वारा अशक्य इस नाटक के अभिनय का प्रारम्भ किया जा रहा है ।

मारिष—तो यह प्रार्थना ठीक है । सभा ने क्या आज्ञा दी ?

सूत्रधार—सभा ने आज्ञा दी है कि—

शृङ्गार—शृङ्गार और वीररस से श्रेष्ठ किसी नायक के गम्भीर चरित्र से आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला महाकवि के द्वारा रचित नाटक दिखाया जाय ॥४॥

मारिषः—दुर्लभं खल्वीदृशं पारिषदश्रवणलोचनासेचनकं रूपकमिति ।

सूत्रधारः—(स्मरणमभिनीय) आः स्मृतम् । अस्ति किल सरस्वतीस्वयंवरवल्लभेन भट्टारगोविन्दस्वामिसूनुना हस्तिमल्लनाम्ना महाकवितल्लजेन विरचितं विक्रान्तकौरवं नाम रूपकमिति ।

मारिषः—अपि तादृशो हस्तिमल्लः ।

सूत्रधारः—

सरस्वत्या देव्या श्रुतियुगवतंसत्वमयते
सुधासध्रीचीना त्रिजगति यदीया सुफणितिः ।
कवीन्द्राणां चेतःकुवलयसमुल्लासनविधौ
शरज्ज्योत्स्नालीलां कलयति मनोहारिरचना ॥ ५ ॥

किंच ।

कवीन्द्रोऽयं वाचा विजितनवमोचाफलरसः
सभासारज्ञाढ्या वयमपि तथा नाट्यचतुराः ।

मारिष—यथार्थ में ऐसा नाटक तो दुर्लभ है जो सभासदों के कान तथा नेत्रों को अतृप्तिकर हो अर्थात् उनकी आकांक्षा को बढ़ाये रखने वाला हो ।

सूत्रधार—(स्मरण की मुद्रा बनाकर) अरे स्मरण आ गया । सरस्वती के स्वयं स्वीकृत पति, भट्टार गोविन्दस्वामी के पुत्र हस्तिमल्ल नामक श्रेष्ठ महाकवि के द्वारा निर्मित विक्रान्त-कौरव नाम का नाटक है ।

मारिष—हस्तिमल्ल भी वैसे ही हैं ।

सूत्रधार—

सरस्वत्या—तीनों लोकों में अमृत के समान जिनकी वाणी सरस्वती देवी के कर्ण-युगल में आभूषण की शोभा धारण करती है तथा जिनकी मनोहारी रचना बड़े-बड़े कवियों के चित्तरूपी नील कमलों को विकसित करने के लिये शरद् ऋतु-सम्बन्धी चांदनी की शोभा को धारण करती है ॥५॥

और भी—

कवीन्द्रोऽयं—यह कवीन्द्र अपनी वाणी से नवीन कदलीफल के रस को जीतने वाले हैं, सभासार के ज्ञाता-गुणी मनुष्यों से युक्त हैं, हम लोग

कथाप्येषा लोकोत्तरनवचमत्कारमधुरा
तदेतत्सर्वं नः प्रकटतरभाग्येन घटितम् ॥ ६ ॥

मारिष.—वसन्तसमयोऽप्यय मावत्स्योपकुरुते प्रचुरविकसितकुसुमशरमय ।

सूत्रधार.—युक्तमेतत् । अहो रमणीयता कोमलकिसलयकुलविकसितवसन्तस्य ।

पुष्पच्चूतलताप्रवालकलनामाद्यत्पिकोद्यत्स्वरा
वासन्तीलतिकालतांतविचरद्भृङ्गारवाडम्बरा ।
फुल्लाशोकसुगन्धबन्धुरचरन्मदानिलस्पन्दना
यूनामुत्सुकयति मानसममी वासन्तिका वासरा. ॥ ७ ॥

अलमतिप्रसङ्गेन तद्यावदिदानीमारभ्यतां सङ्गीतकम् ।

मारिषः—तेन हि किमिति विलम्ब्यते (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) अहो सुलोचनास्वयंवरयात्रामहोत्सवदर्शनाय चतुरङ्गबलेन सह वाराणसीं

नाटक में कुशल हैं और यह कथा भी सर्वश्रेष्ठ नये नये चमत्कारों से मधुर है। यह सब हमलोगों के तीव्र भाग्य से एकत्रित हुआ है ॥ ६ ॥

मारिष—जिसमें पुष्परूपी बाण अत्यधिक मात्रा में विकसित हो रहे हैं ऐसा यह वसन्त का समय भी आपका उपकार कर रहा है।

सूत्रधार—यह ठीक है। अहा! कोमल कोंपलों के समूह से विकसित वसन्त की सुन्दरता आश्चर्यकारी है।

पुष्पच्चूत—जिनमें खिलती हुई आम्र लताओं की कोंपलों के खाने से उन्मत्त कोयलों का स्वर उठ रहा है, जिनमें वासन्ती लताओं के फूलों पर घूमते हुए भ्रमरों के शब्दों का आडम्बर फैल रहा है और जिनमें पुष्पित अशोक की सुगन्ध से सुन्दर मन्द-मन्द वायु के झोंके चल रहे हैं ऐसे ये वसन्त के दिन तरुण पुरुषों के मन को उत्कण्ठित कर रहे हैं ॥ ७ ॥

अधिक विस्तार करना व्यर्थ है। अब इस समय संगीत प्रारम्भ किया जाय।

मारिष—तब क्यों देर की जा रही है? (परदे की ओर देख कर) अहा, सुलोचना की स्वयंवर-यात्रा का महोत्सव देखने के लिये चतुरंग सेना के साथ वाराणसी की ओर प्रस्थान करनेवाले कौरवेश्वर-जयकुमार के साथ

प्रस्थितेन कौरवेश्वरेण समानीतस्य तत्प्रियसुहृदो विशारदस्य भूमिकामादाय रंगत्तरंग इत एवाभिवर्तते। तदावामप्यनंतरकरणीयाय सज्जीभवावः।

(इति निष्क्रांतौ)

प्रस्तावना

(ततः प्रविशति विशारदः)

विशारदः—(परितो विलोक्य) अहो वसंतसमयमोदमानतरुखण्ड-मण्डितेपु नदीतटेपु मध्याह्नपर्यंतसंचारश्रातसैनिकजनप्रचुरा निवेशिता एव स्कंधावाराः।

अद्य हि।

कच्छान् केप्यधिशेरते तरुतलं प्रच्छायमध्यासते
केचित्केचन सारणीपरिसरे संस्त्यायमातन्वते।
वध्नंत्यावसथान् परेथ सरसां रोधस्सु रुद्धोष्मसु
ग्रामानेति पुरोपकण्ठसुलभानन्यस्तु भूयान् जनः॥ ८॥

आये हुए उनके प्रियमित्र विशारद का वेप रख कर रङ्गत्तरङ्ग इसी ओर आ रहा है इसलिये हम दोनों भी इसके वाद करने योग्य कार्य के लिये तैयार हो जावें।

(दोनों वाहर निकल गये)

प्रस्तावना समाप्त।

(इसके वाद विशारद प्रवेश करता है)

विशारद—(सब ओर देख कर) अहा, वसन्त के समय खिलते हुए वृक्षों के समूह से सुशोभित नदी के तटों पर मध्याह्न तक गमन करने से थके सैनिकजनों से व्याप्त डेरे खड़े कर ही दिये गये।

इस समय

कच्छान्—कितने ही लोग सजल प्रदेशों में शयन कर रहे हैं, कोई सघन छायावाले वृक्षके नीचे बैठे हुए हैं, कोई नहर के किनारे डेरे लगा रहे हैं, कोई गर्मी से रहित सरोवरों के तटों पर पाल वाँध रहे हैं और वहुत से लोग नगर के समीप सुलभ गाँवों की ओर जा रहे हैं॥ ८॥

(अन्यतोऽवलोक्य) अहो नैकविध सैनिकानामनर्घाय श्रमापहरणोपाय । तथाहि ।

शीतापान्निखनन्ति केऽप्यधिनदं तापार्दिता कूपकान्
आर्तैर्भूरिजलावगाहनरसात्पूर. परैर्वार्यते ।
ढौकन्तेऽथ फलापचायचपला केचित्फलाढ्यान् द्रुमान्
कूपोपातभुवो वहन्त्युपगतानन्यानुदन्यावत. ॥ ९ ॥

(अन्यतो दृष्ट्वा)

कुल्यायामुपशल्यभूमिषु पुरः प्रोद्यद्विहङ्गारुतौ
ज्योत्स्नास्रोतसि शीतपाद्यसलिलतासत्राघरुद्धोष्मणि ।
एते यांति कृतापगूढमधुना कान्ताभिरध्वश्रम-
क्लान्ताभिः सह कर्तुमत्र कतिचित् स्वैरावगाहोत्सवम् ॥ १० ॥

(दूसरी ओर देखकर) अहा ! सैनिकों के थकावट दूर करने के उपाय अनेक प्रकार के हैं।

जैसे—

शीतापान्—कोई धाम से दुखी होकर नदियों के बीच ठण्डे जल-वाली कुइया खोद रहे हैं, कितने ही थके लोग गहरे पानी में घुस कर स्नान का आनन्द लेने के अभिप्राय से पूर को रोक रहे हैं, फल तोड़ने में चपल कितने ही लोग फलों से लदे वृक्षों की ओर झपट रहे हैं और प्यास से युक्त होने से समीप में आये हुए कितने ही अन्य लोगों को कुओं की समीप-वर्ती भूमियाँ धारण कर रही हैं—कितने ही प्यासे लोग कुओं के समीप भीड़ लगा रहे हैं ॥ ९ ॥

(दूसरी ओर देख कर)

कुल्यायां—इधर नगर की समीपवर्ती भूमियों में कितने ही लोग मार्ग के श्रम से थकी मादी स्त्रियों के साथ स्वतन्त्रतापूर्वक स्नान का उत्सव करने के लिये—स्नान का आनन्द प्राप्त करने के लिये उनसे सट कर उस नहर की ओर जा रहे हैं जिससे पक्षियों का शब्द उठ रहा है, जिसका प्रवाह चाँदनी के समान निर्मल है और ठण्डी-ठण्डी हरी-भरी लताओं की सघनता से जहाँ गर्मी रुक गई है ॥ १० ॥

(पार्श्वादालोकितेन निर्दिश्य) इदं तु पुनरस्मत्स्वामिनः कौरवेश्वरस्य शिबिरं नातिदूरे वाराणस्या विविक्त एव प्रदेशे निवेशितम् (आत्मानं निर्वर्ण्य) मार्गश्रमलघूकरणोल्लाघं च नः शरीरम्। यावदिदानीं कौरवेश्वरभवनं गत्वा प्रियवयस्यं नंद्यावर्तं पश्यामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) अहो प्रत्यग्रसंनिविष्टस्य कौरवेश्वरशिबिरस्य महती वृत्तांतता।

तथाहि।

ऋजुषु तरुषु लग्ना स्थूलदीर्घषु गंध-
द्विरदपरिषदेषा रुध्यते वध्यते च।
इह च विटपिखंडे वाजिनां कल्पयंति
स्थगिततरणितापे मंदुरामंदिराणि॥ ११॥

(पुरोऽवलोक्य) कथमसावग्रतः समुचितस्थानकग्रहणचापलसुलभसैन्यक्षोभचलितचेताः किमपि कुप्यन्नायासयति हस्तिपकानां घातुको गंधगजः।

(बगल की ओर देख कर इशारा करता हुआ) यह तो हमारे स्वामी कुरुराज—जयकुमार का डेरा वाराणसी के पास एकान्त और स्वच्छ स्थान में खड़ा किया गया है। (अपनी ओर देख कर) मार्ग की थकावट दूर करने से हमारा शरीर स्वस्थ है इसलिये इस समय कुरुराज के डेरे पर चल कर प्रिय मित्र नन्द्यावर्त से मिलता हूँ। (घूम कर देखता हुआ) अहा, अभी अभी खड़े किये गये कुरुराज के डेरे का बड़ा हाल है।

जैसे—

ऋजुषु—इधर यह मदस्रावी हाथियों की पंक्ति सीधे तथा बड़े मोटे तने वाले वृक्षों से रोकी तथा बाँधी जा रही है और इधर सूर्य के घाम से रहित वृक्ष-समूह के नीचे घोड़ों की अस्तबलें बनाई जा रही हैं॥ ११॥

(सामने देख कर) क्या यह आगे योग्य स्थान प्राप्त करने की चपलता से सुलभ सैनिकजनों के कोलाहल से चञ्चल-चित्तवाला मदस्रावी हाथी कुछ कुछ क्रोध प्रकट करता एवं मारने के लिये उद्यत होता हुआ महावतों को खेदयुक्त कर रहा है!

तथाहि ।

तिर्यक् पश्यति पृष्ठतोऽपसरति स्तब्धे करोति श्रुती
शिक्षां न क्षमते शिरो विधुनुते घटास्वनायेर्षते ।
सदेग्धि प्रतिहस्तिनं प्रकुपितो दानांबुगंध निज
क्ष्मामाहति करेण याति न वशां क्रोधाद्धुरः सिंधुरः ॥ १२ ॥

(पदान्तरे स्थित्वा) कथमसौ स्वैरचारिविपथिपथा । तदितो वय (अन्यतो गत्वा अवलोक्य च) कथमिहाप्यनाश्वास (पुनर्निरीक्ष्य) कथ प्रतिव्यूढ प्रत्यूह । तथाहि—

परिभ्रष्ट स्थानात्कथमपि समन्तात्प्रचलितै-
र्बलीवर्दो धावन्नयमनुसृतो वाहयितृभि ।
मुखप्रोते पाशे विलुठति कथंचित् तदवधौ
खुरप्रान्तालग्ने सपदि निपतन् गृह्यत इह ॥ १३ ॥

जैसे—

तिर्यक्—क्रोध से प्रचण्ड यह हाथी कभी तिरछा देखता है, कभी पीछे हटता है, कभी दोनों कान खड़े करता है, शिक्षा को सहन नहीं कर रहा है, शिर हिलाता है, घण्टा के शब्द से ईर्ष्या करता है, अपने ही मद-जल के गन्ध से कुपित होकर विरोधी हाथी की शङ्का करता है, सूँड से पृथिवी को ताडित कर रहा है और हथिनी के पास नहीं जा रहा है ॥ १२ ॥

(दूसरी ओर खड़ा होकर) क्या यह मार्ग स्वतन्त्रतापूर्वक चलने वाले लोगों का विरोधी है इस लिये हम इस ओर हुए जाते हैं। (दूसरी ओर जाकर तथा देखकर) क्या यहाँ भी चैन नहीं है ? (फिर देख कर) क्या विघ्न एक दम छूट पड़ा है ? जैसे—

परिभ्रष्ट —यह बैल किसी तरह अपने स्थान से छूट कर दौड़ रहा है और चलाने वाले लोग सब ओर से दौड़ते हुए उसका पीछा कर रहे हैं, बैल के मुह में लगी रस्सी पृथिवी पर घिसटती जा रही है। इसी बीच वह रस्सी बैल के खुर में उलझ जाती है जिससे बैल शीघ्र ही गिर पड़ता है और चलानेवाले लोग उसे लपक कर पकड़ लेते हैं ॥ १३ ॥

(परिक्रम्य क्षणं स्थित्वा) अहो अयं पौनरुक्त्यविमुखो जनस्यालयः । अद्य हि ।

तुच्छच्छायः स देशः स तु विरलजलः सापि पाथःप्रहीणः
सा भूमिः क्षारतोया परुषदृषदसौ शर्कराकर्करा सा ।
तत् क्षेत्रं कंटकाढ्यं तृणावकलमदस्तत्तु धूलीकरालं
छायास्वेवं तरूणामभिदधति मिथः शैबिरा मार्गदुःखम् ॥ १४ ॥

(परिक्रम्यावलोक्य च) अहो स्पृहणीय खल्वेतत् ।
अत्र हि ।

प्रच्छायशीतलमहीरुहपादमूला-
न्यध्यासते प्रियतमांकसमर्पिताङ्गाः ।
अध्वश्रमार्तनयनं वदनं दधत्यः
कांता वनांतचलिताय समीरणाय ॥ १५ ॥

(परिक्रम्यावलोक्य च) कथमितो वारस्त्रीणां सद्मानि । अहो असाधारणः खलु वारवनितानां मंडनप्रकारः ।

(घूम कर तथा थोड़ी देर रुक कर) अहा, मनुष्यों का यह स्थान पुनरुक्ति से रहित है—यहाँ सब नये नये दृश्य दिखाई दे रहे हैं ।

इस समय—

तुच्छच्छायः—वह देश अल्प छायावाला था, वहाँ पानी बहुत कम था, वह बिलकुल ही पानी से रहित था, वह भूमि खारे पानी से युक्त थी, वह कठोर पत्थरों से युक्त थी, वह कंकड़ों से कठोर थी, वह स्थान काँटों के सहित था, वह घास से रहित था, और वह धूलि से भयंकर था''''इस प्रकार वृक्षों की छाया में बैठे हुए सैनिक परस्पर मार्ग के दुःख कह रहे हैं ॥ १४ ॥

(घूमकर और देख कर) अहा, यह तो बड़ा सुन्दर दृश्य है ।
यहाँ—

प्रच्छाय—मार्ग के श्रम से दुखी नेत्रों से युक्त मुख को धारण करती हुई स्त्रियां पतियों की गोद में शरीर को समर्पित कर वन के उस छोर से चली हुई वायु के लिये सघन छाया से शीतल वृक्षों के नीचे बैठी हुई हैं ॥१५॥

(घूमकर तथा देख कर) क्या इस ओर वेश्याओं के डेरे हैं ? अहा, सचमुच वेश्याओं की सजावट की विधि अनुपम है ।

कुतः ?

कदा पटकुटी कृता प्रशमितः कदाध्वश्रम
कदा व्यजनि मज्जन विरचित कदा मडनम् ।
गृहेष्विव पुरः स्थित परिचितेषु सज्जस्त्वसौ
क जेष्यति विलासिनीजनममु जनः कौशलात् ॥ १६ ॥

(विचिन्त्य) इय खलु कार्यान्तरव्यापृताना पथ्या रथ्या तदितो ययम् । (परिक्रम्यावलोक्य च) इद कौरवेश्वरभवनम् । (पार्श्वादालोकितेन) अये अयमुत्तरेण राजगृहवाह्यालिद विस्तीर्णप्रसारितशुभ्रपटकायमाननिषण्ण कामपि दर्शनीयतामुद्वहति राजवाहनप्रधानगजराज ।

तथाहि ।

हरितकलमपूलप्रथिनासौ सलीलः
व्यजनि वदनभागानग्रहस्तोद्धृतेन ।

कैसे ?

कदा—इन्होंने कब डेरा लगा लिया ? कब मार्ग की थकावट दूर कर ली ? कब स्नान कर लिया ? और कब सजावट कर ली ? ये तो ऐसी तैयार हो गई हैं मानो नगर के परिचित घरों में ही रह रही हों । अन्य मनुष्य अपनी कुशलता से इन वेश्याओं को कहा जीत सकेगा ? ॥ १६ ॥

(विचार कर) यह मार्ग अन्य कार्यों में लगे हुए मनुष्यों के लिये हितकारी है इसलिये हम इस ओर हुए जाते हैं । (घूमकर और देखकर) यह कुरुराज—जयकुमार का डेरा है (बगल में देख कर) अहा, यह राजभवन से उत्तर की ओर लम्बी-चौड़ी चाँदनी के समान दीखनेवाला बैठा हुआ कुरुराज की सवारी का प्रधान गजराज किसी अनिर्वचनीय सुन्दरता को धारण कर रहा है ।

जैसे—

हरित—यह गजराज हरी धान के पूला से उत्सुकतावश चञ्चल हो रहा है फिर सूड़ के अग्रभाग से उस पूला को उठा कर मुँह को चलाता है पुन

ध्वनि नितांतक्वथितसरस्सलिलतापभयपलायमानजलपतत्रिनिषेवितपत्रलतीरकच्छांतरे निदाघोष्मदुर्निरीक्षान्तरिक्षे दुष्यमाणदुःस्पर्शमर्मरघर्ममारुतपरिस्पंदे क्रमादतिक्रांते मध्यंदिनसमये मध्याह्नतापसंततनभःस्थलावस्थितिमसहमान इव अपरकाष्ठाभिमुखे लंबमाने भगवत्यंबरमणौ जातायां च किंचिच्चरणसंचरणक्षमायां क्षमायां प्रोज्झंतीषु च पथिकैः समं तरुमूलानि छायासु प्रशांतप्राये दिवसोष्मणि प्रहतायां च तृतीयप्रहरावसानशंसिन्यां भेर्यां प्रवर्तमाननगरदेवतायात्रामुपश्रुत्य वाराणसीदर्शनकुतूहली सार्धमस्माभिरुत्थितो हस्तिनाधिपतिः।

विशारदः—ततस्ततः।

नंद्यावर्तः—ततश्च निर्वर्तिताशेषपरिजनः परिमितास्मद्यमुखविश्वस्यजन-

---

के पर्यटन का अभाव होने से मार्ग सुनसान हो रहे थे, जब अत्यन्त खौलते हुए सरोवर के जल के संताप के भय से भागते हुए जल-पक्षी किनारे के पत्तीले वनों के भीतर जा बैठे थे, जब घाम की गर्मी से आकाश की ओर देखना कठिन हो रहा था, और जब विकार उत्पन्न करनेवाली असहनीय लू की लहरें चल रही थीं ऐसे मध्याह्न का समय क्रम-क्रम से व्यतीत हो जाने पर जब भगवान् सूर्य मध्याह्न के संताप से संतप्त आकाश के मध्य स्थिति को न सहन कर सकने के कारण ही मानो पश्चिम दिशा की ओर नीचे चले गये थे, जब पृथिवी पैरों के कुछ कुछ संचार के योग्य हो गई थी, जब वृक्षों की छायाएँ पथिकों के साथ-साथ वृक्षों के मूलभाग को छोड़ रही थीं, जब दिन की गर्मी प्रायः शान्त हो चुकी थी और जब तीसरे पहर की समाप्ति को सूचित करनेवाली भेरी बज उठी थी, 'तब' नगरदेवता की यात्रा प्रारम्भ हो गई है' यह सुन कर वाराणसी को देखने-सम्बन्धी कौतूहल से युक्त कुरुराज—जयकुमार हम लोगों के साथ उठ खड़े हुए।

विशारद—फिर क्या हुआ?

नन्द्यावर्त—फिर समस्त परिजनों को जिन्होंने लौटा दिया था ऐसे कुरुराज—जयकुमार, मुझको लेकर विश्वासपात्र कुछ लोगों के समूह

परिवारपरिवृत सुन्दरतममणिमण्डितवन्दनमालालङ्कृतमकरतोरणां वाराण-सीमभिप्रचलित ।

विशारद —ततस्ततः ।

नद्यावर्तः—ततश्च ।

> अम्भोरुहोदरपरिभ्रमलब्धगन्धैः
> सम्भोगखिन्नयुवतीश्रमवारिचोरैः ।
> गङ्गातरंगपरिमर्शमनोज्ञशीतैः
> स्निग्धामसौ सपदि तामगमत्समीरैः ॥ १९ ॥

विशारद—ततस्ततः ।

नद्यावर्तः—प्रविश्य च वाराणसीं क्वचिज्जीर्णोद्यानप्रदेशे तुरगमधरा-दवरुह्य तत्रैव छत्रधारिणा अश्ववारेण तुरगमवरं चावस्थाप्य केवलं सार्धं मया धनुर्ग्राहिणा चासिधेनुकेन कौरवेश्वरः प्रवर्तमाननगरदेवतायात्रां काशीराजपुरीमुपसृत्य क्वचित्प्रचुरतररथतुरगगजपदातिसंचारदुर्गमान् मार्गान्,

---

से परिवृत होते हुए अत्यन्त सुन्दर मणिमय वन्दनमालाओं से जिसके तोरण-द्वार अलंकृत हो रहे थे ऐसी वाराणसी की ओर चल पड़े ।

विशारद—फिर क्या हुआ ?

नन्द्यावर्त—अम्भोरुहोदर फिर वे कमलों के भीतर घूमने से सुगन्धित, सम्भोग से खिन्न स्त्रियों के स्वेद को हरण करनेवाले एवं गङ्गा की लहरों के संसर्ग से मनोहर और शीतल वायु से सुन्दर वाराणसी की ओर चल पड़े ॥ १९ ॥

विशारद—फिर क्या हुआ ?

नन्द्यावर्त—फिर वाराणसी में प्रवेश कर किसी जीर्ण उद्यान के एक स्थान में घोड़े से उतरे और छत्र लगानेवाले अश्ववार के द्वारा घोड़ा बँधवा कर मात्र मुझे और धनुष धारण करनेवाले आसिधेनुक को साथ ले जहाँ नगरदेवता की यात्रा चालू थी उस वाराणसी में जा पहुँचे। वे वहा कहीं तो अत्यधिक रथ, घोड़े, हाथी और पैदल सैनिकों के आवागमन से जिनमें

क्वचित्कमलकुड्मलकोमलांजलिपुंजमंजुलभक्तजनसहस्रसंकुलानि, देवकुलानि क्वचिदुन्निद्रकुसुममकरंदामोदमेदुरपवनान्युपवनानि, क्वचित्प्रचलवीचिनिचय-विलुप्यमानविकचसरसिजरजांसि सरांसि, क्वचित्सुरवनितासदृक्षयुवतीजनविहार-रम्याणि हर्म्याणि, क्वचिदतद्दृश्यमानकामिनीवदनकांतिवितीर्णकामिजननय-नोपायनानि वातायनानि, क्वचित्कृततपनतापनिग्रहाणि, धारागृहाणि क्वचिदुल्लोल-कल्लोललोलंबनिकुरुम्बकरम्बितप्रांतविराजितमनोज्ञनिष्कुटान्, शृङ्गाटककूटान् क्वचित्पणपरिणमनकुपिताक्षिकरूक्षकंठघोषजितराजसभाः द्यूतसभाः, क्वचिदर्धा-सनोपविष्टप्रियतमानुवर्तनप्रियान् युवनिकरान् क्वचिदुन्मिषन्मकरतोरणनिबद्ध-रत्नच्छविशिखाविशिखाः पश्यन् क्रमेण राजभवनगामिनो मार्गान्नातिसंनिकृ-ष्टस्य परिपुष्टपरपुष्टचटुलचंचुविघटितमुकुलितपुटविकीर्यमाणमकरंदबिंदुधारारा-जितालवालपरिसरस्य मधुमदमत्तमधुकरमनोहारिझंकारस्य सहकारस्य तले विविक्तौत्सुक्यान् मुहूर्तमासिष्ट ।

चलना भी कठिन था ऐसे मार्गों को, कहीं कमल की बोंडियों से युक्त कोमल अञ्जलियों के समूह से सुन्दर हजारों भक्तजनों से व्याप्त मन्दिरों को, कहीं खिले हुए फूलों की मकरन्द–सम्बन्धी सुगन्ध से व्याप्त वायु से युक्त उपवनों को, कहीं चञ्चल लहरों के समूह से जिनमें खिले हुए कमलों की पराग छीनी जा रही थी ऐसे तालाबों को कहीं देवाङ्गनाओं के समान तरुण स्त्रियों के मुखों की कान्ति के द्वारा कामी मनुष्यों के नेत्रों के लिये उपहार वितरण करनेवाले झरोखों को कहीं सूर्य के संताप का निग्रह करनेवाले फव्वारों को, कहीं लहराते हुए—एक के बाद एक आनेवाले भ्रमरों के समूह से व्याप्त प्रदेशों से सुन्दर गृहोद्यानों से युक्त चौराहों को, कहीं पांसों के प्रतिकूल पड़ने से कुपित जुवाड़ियों की रूखी गल–गर्जना से राजसभाओं को जीतने वाली द्यूतसभाओं-जुए के स्थानों को, कहीं अर्धासन पर बैठी प्रियतमाओं के अनुनय करने में निपुण तरुणों के समूह को, और कहीं मकरतोरणों में खचित रत्नों की किरणों के अग्रभाग से युक्त गलियों को देखते हुए क्रम से एकान्त स्थान की उत्सुकता के कारण उस आम्रवृक्ष के नीचे थोड़ी देर के लिये बैठ गये जो राजभवन की ओर जानेवाले मार्ग से कुछ दूरी पर स्थित था, जिसकी क्यारी का घेरा हृष्ट-पुष्ट कोयलों की चञ्चल चोंचों से खोली हुई बोंडियों से बिखरते मकरन्द–सम्बन्धी बूंदों की धारा से सुशोभित था और जिसपर मधु के नशा से उन्मत्त भ्रमरों की मनोहर झंकार हो रही थी ।

विशारद.—ततस्तत ।

नद्यावर्त —अत्रान्तरे नगरदेवतायात्रात प्रतिनिवर्तमानस्तेनैव वर्त्मना प्रावर्तिष्ट ननु महान् पौरलोक ।

विशारद —वञ्चित एवास्मि यात्रादर्शनकौतुकात् ।

नद्यावर्त.—सखे मा खेद करिष्ठा । सुलोचनास्वयवरयात्रात प्राक् पश्चाच्च दिनत्रय नगरदेवतानामकम्पनेन यात्रा प्रवर्त्यत इति किंवदती । न खल्वद्यैव यात्रापूरणम् । तद्दर्शिष्यत्त एव ।

विशारद —कदा नु खलु सुलोचना स्वयवरिष्यति ।

नद्यावर्त.—इतस्तृतीयेह्नीति वदति ।

विशारद —भवतु कथाशेष एव कथ्यताम् ।

नद्यावर्त —ततश्च दूरितोत्सारिताशेषजनसमर्दैं समापतद्भि प्रतिहारै परिवारित मनुष्ययानमभीरेण मदप्रस्खलितमेखलागुणेन सलीलभुजलता-

---

विशारद—फिर क्या हुआ ?

नन्द्यावर्त—इसी के बीच, नगरदेवता की यात्रा से लौटनेवाले नागरिक जनों का एक बड़ा समूह उसी मार्ग से आने लगा ।

विशारद—मैं यात्रा देखने के कौतुक से वञ्चित ही रह गया ।

नन्द्यावर्त—मित्र ! खेद नहीं कीजिये । 'सुलोचना की स्वयवर यात्रा के पहले और पीछे तीन दिन तक महाराज अकम्पन के द्वारा नगरदेवता की यात्रा जारी रखी जावेगी' ऐसी अफवाह है, आज ही यात्रा पूर्ण नहीं हुई है । इसलिये आप वाराणसी देख लेंगे ।

विशारद—सुलोचना स्वयवर कब करेगी ?

नन्द्यावर्त—'आज से तीसरे दिन' ऐसा लोग कहते हैं ।

विशारद—खैर, कथा का शेष भाग ही कहा जाय ।

नन्द्यावर्त—तदनन्तर धीरे धीरे चलनेवाले चार पुरुषों के द्वारा ले जाई जानेवाली एक ऐसी पालकी पर बैठी अत्यन्त सुन्दर स्त्री दिखाई दी जो समस्त मनुष्यों की भीड़ को दूर से ही अलग करनेवाले तथा घेर कर चारों ओर चलनेवाले सेवकों से घिरी हुई थी, जिसे ऐसी स्त्रियाँ घेरे हुई थीं

विक्षेपरणितमणिवलयेन पवनैरप्यालिंगनकुतूहलादिव स्तनांशुकांतप्रवेशिभिः सेव्यमानेन स्तनभरोद्वहनश्रमनिश्वासैरपि रसास्वादलोभादिव निपीयमानाधरेण मणिकर्णिकारत्नकिरणमंजरीकलापेन वचनरसादिव स्पृष्टकपोलतलेन मुग्धहरिणमसृणस्निग्धविप्रेक्षितेन हासोत्तरमधुरभाषितेन शिरीषकुसुमसुकुमारशरीरेण तांस्तांश्च परिच्छदान् गृह्णता वागृह्णता च पादचारिणा स्त्रीलोकेन परिष्कृतं संमुखासीनताम्बूलदायिनीसनाथं मंदमंदसंचारिणापि पुरुषचतुष्टयेनोह्यमानं चतुरंतयानमध्यासीना दर्शनीयानामपूर्वं धाम दर्शनपथमागता कापि स्त्रीसृष्टिः।

विशारदः—ततस्ततः।

नंद्यावर्तः—अवर्तिष्ट च ततः काशीराजदुहिता सुलोचनेयमिति महान् जनवादः।

विशारदः—ततस्ततः।

---

¹जिनके नूपुर मनोहर रुनझुन कर रहे थे, जिनकी मेखलाएँ मन्द-मन्द शब्द कर रही थीं, जिनकी मणिमयी चूड़ियां लीला-सहित भुजलताओं के संचालन में खनक रही थीं, वायु भी मानों आलिङ्गन के कुतूहल मे जिनके स्तनों के भीतर घुसकर जिनका उपभोग कर रहा था, स्तनों का भार धारण करने की थकावट से उत्पन्न श्वासोच्छ्वास भी रस के आस्वाद के लोभ से मानो जिनके अधर का पान कर रहा था, मणिमय कर्णाभरण में खचित रत्नों की किरण रूप मञ्जरी का समूह वचनों का रसास्वाद लेने के लिये ही मानो जिनके गालों का स्पर्श कर रहा था, जिनकी चितवनें भोले हरिण की चितवनों के समान चिकनी तथा स्नेहपूर्ण थीं, जो हँसती-हँसती मधुर भाषण करती थीं, जिनका शरीर शिरीष के फूल के समान सुकुमार था, जो आवश्यक उपकरणों को लिये हुई थीं, कोई बिना लिये हुई थीं तथा पैदल चल रही थीं। वह पालकी सामने बैठी हुई पान देनेवाली स्त्री के सहित थी।

विशारद—फिर क्या हुआ ?

नन्द्यावर्त—तदनन्तर 'यह काशीराज की पुत्री सुलोचना है' इस प्रकार लोगों का बहुत भारी हल्ला शुरू हुआ।

विशारद—फिर क्या हुआ ?

नन्द्यावर्तः—ततश्च कौरवेश्वरस्तामपश्यत् ।

निष्पन्दस्तिमितेक्षणः क्षणमसौ संजातकौतूहलः
प्रादुर्भूतनितान्तविस्मयरसप्रस्मेरगण्डस्थलः ।
व्यापारान्तरशून्यमूढकरणग्रामस्तदैवान्वभूत्
कामप्याहितमोहरुद्धहृदयामन्तर्व्यथां मानसीम् ॥ २० ॥

विशारदः—ततस्ततः ।

नन्द्यावर्तः—ततश्च ।

किमकृत किमवादीत् कीदृशः कीदृशोऽभूत्
कुरुपतिरिति वक्तुं व्यक्तमेतन्न विद्मः ।
व्यपगतविधुरसत्त्वः कौतुकस्तब्धपक्ष्मा
निगलितमिव तस्याः केवलं नेत्रयुग्मम् ॥ २१ ॥

विशारदः—अहो तथाविधानामप्यतिवितथं धैर्यस्खलनमिति यत् सत्यमशरणं सत्त्वम् । सखे ततः ।

नन्द्यावर्त—तदनन्तर कौरवेश्वर-जयकुमार ने उसे देखा ।

निष्पन्द—तदनन्तर क्षणभर के लिये जिनके नेत्र निश्चल होकर रुक गये हैं, जिन्हें कुतूहल उत्पन्न हो रहा है, प्रकट हुए आश्चर्य रस से जिनके गाल मन्द मुसकान से भर रहे हैं, और जिनकी इन्द्रियों का समूह अन्य कार्यों से शून्य हो किंकर्तव्यविमूढ हो रही हैं ऐसे कौरवेश्वर ने उसी समय समुत्पन्न मोह से हृदय को रोकनेवाली कामसम्बन्धी किसी मानसिक व्यथा का अनुभव किया ॥ २० ॥

विशारद—फिर क्या हुआ ।

नन्द्यावर्त—फिर

किमकृत—कुरुराज ने क्या किया, क्या कहा, और कैसे-कैसे वे हुए, यह स्पष्ट कहना हम नहीं जानते । हम तो इतना ही कहना जानते हैं कि उन्होंने धैर्यरहित हो कर तथा पलकों को कौतुक से रोक कर अपने दोनों नेत्र मानों उसमें गड़ा दिये थे ॥ २१ ॥

विशारद—आश्चर्य है कि ऐसे लोगों का भी इस प्रकार धैर्य छूट जाता है । तब तो यही कहना चाहिये कि धैर्य सचमुच ही रक्षक से रहित है—धैर्य का कोई रक्षक नहीं रहा । मित्र ! फिर क्या हुआ ?

नंद्यावर्तः—तथा व्रजंती काशीराजपुत्री ।

अथ सपदि यदृच्छावद्धलक्ष्यां वलक्ष-
द्युतिशवलितपातां कौरवे गौरवेण ।
न्यधित दृशमपांगासंगिनीं स्निग्धमुग्धां
कुवलयदलदामश्यामलां कोमलाङ्गी ॥ २२ ॥

विशारदः—तदेतदुन्मिषितोन्मादनं यदुत कामयमानस्य पुंसः प्रेयस्या सह नयनसंभेदः । ततः ।

नंद्यावर्तः—अथ तस्यां प्रथमतरानुभूयमानमन्मथरसमंथरतिविभ्रमायां तिरोहितायां क्रमेण काशीराजसुतायां कौरवेश्वरस्तन्मार्गदत्तदृष्टिरित्थमभूत् । मूढ इव विलिखित इव उत्कीर्ण इव विशीर्ण इव मुषित इव आविष्ट इव द्रुत इव दीन इव ।

नन्द्यावर्त—

फिर उस तरह जाती हुई कोमलाङ्गी सुलोचना ने बड़े गौरव के साथ कुरुराज पर शीघ्र ही अपनी वह दृष्टि डाली जिसका लक्ष्य अनायास ही बद्ध हुआ था, जिसकी चितवन सफेद कान्ति से चित्रित थी, जो कटाक्षों से युक्त थी, स्नेहपूर्ण तथा मनोहर थी, और नीलकमलदल की माला के समान श्याम वर्ण थी ॥ २२ ॥

विशारद—जो चाहने वाले पुरुप का प्रेयसी के साथ नेत्रों का मिलना है वह तो बढ़े हुए अनुराग को और भी अधिक बढ़ानेवाला है । फिर क्या हुआ ?

नन्द्यावर्त—तदनन्तर सर्वप्रथम अनुभव में आनेवाले कामरस से जिसके हावभाव अल्पमात्रा में प्रकट हो रहे थे ऐसी सुलोचना के क्रम-क्रम से अन्तरित हो जाने पर कुरुराज उसी के मार्ग में दृष्टि लगाकर ऐसे हो गये मानो मूढ—विचारशक्ति से रहित हो गये हों, मानो चित्र में अङ्कित हों, मानो उकेरे गये हों, मानो गल गये हों, मानो लुट गये हों, मानो पिशाच से आक्रान्त हो गये हों, मानो पिघल गये हों, अथवा मानों दीन हो गये हों ।

विशारद —अहो अतिप्रसङ्गम्। अथवा एतदपि समाश्रित एव, न खल्वन्तर एवावस्थान निपतत प्रस्तरस्य। तत।

नद्यावर्त.—ततश्च मया हस्ते गृहीत्वा देव दृष्टैव सर्वतो वाराणसीति, बलान्निर्बध्यमान प्राग् गृहीतामपि ताम्बूलवीटिकामनिच्छाशिथिलेन हस्तेन मम हस्ते विसृज्य शून्यात करण एवापरीक्षितपदन्यास विसस्थुलया गत्या तदेव जीर्णोद्यानमासाद्य आरूढतुरग सार्धमस्माभि पुनरिहागत।

विशारदः—तत।

नद्यावर्तः—आदिशन् गोपायितु निषिद्धाशेषपरिजन प्रविष्टोऽभ्यन्तरम्। अतर च मार्गायासदानेव स्वपन्नार्यसौधातकिस्तदागमन ज्ञात्वा सत्वरमुपस्थित।

विशारद.—तत।

नद्यावर्त.—ततश्च सौधातकि हस्ते गृहीत्वा किमपि वक्तुकाम इव शयनमण्डपिका प्रविश्य पर्यङ्किकामलङ्कृतवान्।

विशारद—आश्चर्य है कि बात बहुत बढ़ गई। अथवा यह भी सभव ही है क्योंकि गिरते हुए पत्थर का बीच में ही रुकना नहीं होता। फिर क्या हुआ ?

नन्द्यावर्त—तदनन्तर हाथ पकड़ कर मैंने उससे बलपूर्वक आग्रह किया कि देव ! वाराणसी तो सब ओर से देख ही ली है। यह सुनकर उन्होंने जो पान का बीड़ा पहले ले रक्खा था उसे अनिच्छा से शिथिल हाथ से मेरे हाथ में वापिस छोड़ दिया और शून्य-हृदय हो बिना देखे पैर रखते हुए अटपटी चाल से उसी जीर्ण उद्यान में आ गये तथा घोड़े पर सवार हो हमलोगों के साथ यहा आ गये।

विशारद—फिर क्या हुआ ?

नन्द्यावर्त —रक्षा करने की आज्ञा देते हुए समस्त परिजनों को रोककर भीतर चले गये। भीतर मार्ग की थकावट के कारण आर्य सौधातकि (विदूषक) यहीं सो रहा था साथ में नहीं गया था। वह कुमारराज का आगमन जान कर शीघ्र ही आ पहुँचा।

विशारद—फिर क्या हुआ ?

नन्द्यावर्त—फिर सौधातकि का हाथ पकड़ कर मानो कुछ कहने की इच्छा रखते हुए शयनकक्ष में प्रवेश कर पलग को सुशोभित करने लगे।

विशारदः—प्रायेण तद्दर्शनवृत्तान्तमेव आत्मनि सोढुमक्षमस्तस्मै विवक्षति ।

नंद्यावर्तः—बाढं तथैव ।

विशारदः—युक्तमेव प्रियसुहृदे स्वानुभूतं निवेदयितुम् । सखे गच्छत्वेतत् । एहीदानीं गृहं गत्वा कांचिद्वेलां विश्रमिष्यावः ।

नंद्यावर्तः—यदाह वयस्यः ।

(परिक्रम्य निष्क्रांतौ)

(शुद्धविष्कम्भः)

(ततः प्रविशति राजा विदूषकश्च)

राजा—(दृष्ट्वा च तामद्भुतदर्शनां किमप्यन्तर्विस्मयमानो मनस्यकार्षीत्)

इयं चेत् स्रष्टा स्यादमृतनिधिनैवेन्दुवदना
कथं क्लाम्यत्कांतिः सृजतु स इमामस्थिरकलः ।

विशारद—अधिकतर उसी के देखने का वृत्तान्त अपने आप में सहन करने के लिये असमर्थ होते हुए सौवातकि के लिये कहना चाहते हैं ।

नन्द्यावर्त—हां, ऐसा ही है ।

विशारद—प्रिय मित्र के लिये अपनी अनुभूत बात का बताना उचित ही है । मित्र ! यह रहने दो, आओ अब घर जाकर कुछ समय तक विश्राम करेंगे ।

नन्द्यावर्त—जो मित्र कहें ।

(घूमकर दोनों निकल गये)

[शुद्ध विष्कम्भ]

(इसके अनन्तर राजा और विदूषक प्रवेश करते हैं)

राजा—(उस आश्चर्यकारक दर्शनवाली सुन्दरी को देख कर भीतर-भीतर कुछ आश्चर्य करता हुआ राजा मन में विचारता है) ।

इयं—यदि यह चन्द्रमुखी चन्द्रमा के द्वारा रची गई है तो क्षीण कान्ति से युक्त तथा अस्थिर कला वाला वह चन्द्रमा इसे कैसे रच सकता है ? यदि

अथैनां कामश्चेत् प्रकृतिललितं स्रष्टुमुचितः
स्वसत्तायां कोन्यः प्रथममवलम्बोस्य भवतु ॥ २३ ॥

विदूषकः—भो वअस्स किं णु क्खु सा जह सुणिज्जइ रूवसोहग्गेण तह एव्व परमत्थदोवि। (भो वयस्य किं नु खलु सा यथा श्रूयते रूपसौभाग्येन तथैव परमार्थतापि)

राजा—वयस्य यथाश्रुतमित्यल्पमिदमुच्यते। सा खलु।

शृंगारस्य गरीयसी परिणतिर्विश्वस्य संमोहिनी
विद्या काप्यपरा परा च पदवी सौन्दर्यसारश्रियाम्।
उद्दामो मदनस्य यौवनमदः कुल्या रतिस्रोतसां
केलिर्विभ्रमसंपदामविकलो लावण्यपुण्यापणः ॥ २४ ॥

विदूषकः—तेण हि जुत्तं एव्व मज्झमलोअस्स अलंकरणं सुलोअणं वण्णेन्ति लोओ। (तेन हि युक्तमेव मध्यमलोकस्यालंकरणं सुलोचना वर्णयति लोकः)

यह कहा जाय कि स्वभाव से सुन्दर कामदेव इसे रचने के लिये उचित हो सकता है तो पहले इस काम की निजसत्ता का आधार दूसरा कौन है? काम स्वयं अशरीर है अशरीर व्यक्ति दूसरे को कैसे रच सकता है? ॥ २३ ॥

विदूषक—हे मित्र! वह रूप और सौभाग्य से जैसी सुनी जाती है क्या यथार्थ में वैसी ही है?

राजा—जैसी सुनी जाती है यह बात तो बहुत छोटी कही जाती है। वह यथार्थ में—

शृङ्गारस्य—शृङ्गार रस की श्रेष्ठ परिणति है, समस्त संसार की कोई मोहिनी विद्या है, सौन्दर्यरूप श्रेष्ठ लक्ष्मी की उत्कृष्ट पदवी है, काम की जवानी का भारी मद है, रति के प्रवाहों की नदी है, हाव भाव रूप संपदाओं की क्रीडा है और सौन्दर्य का अखण्ड पवित्र बाजार है ॥ २४ ॥

विदूषक—तब लोग सुलोचना को मध्यमलोक का अलंकार कहते हैं। यह ठीक ही है।

राजा—वयस्य अपश्यन् कः प्रत्येति । सा हि ।

शीतांशोरविनिस्सृता नयनयोराह्लादिनी चंद्रिका
द्रागंतर्दधती मदं च मदिरातंत्रैरनिर्वर्तिता ॥
पुष्पैरग्रथिता निसर्गललिता माला मनोहारिणी
जीमूतादकृतोद्गतिः स्थितिमती विद्युत्समुद्योतिनी ॥ २५ ॥

विदूषकः—अहो अच्चेअरं । (अहो आश्चर्यम्)

राजा—अपि च । समग्रेन्द्रियग्रामसमाह्लादिनी पुनरित्थमुत्प्रेक्ष्यते ।

गात्रे चंदनचर्चा मुखे सुधा वकुलपरिमलो घ्राणे ।
परिवादिनी श्रवणयोरीक्षणयोः शारदी ज्योत्स्ना ॥ २६ ॥

विदूपकः—एसा सीमा पसंसाओ। (एषा सीमा प्रशंसायाः)

राजा—तामेव पुनस्सकौतुकं च बहुमानं च सानुरागं च निर्वर्णयतः

राजा—मित्र ! बिना देखे कौन विश्वास करेगा ! वास्तव में वह—

शीतांशोः—नेत्रों को आनन्दित करने वाली चन्द्रमा से नहीं निकली चांदनी है, साधक कारणों से नहीं बनी हुई भीतर शीघ्र ही मद उत्पन्न करने वाली मदिरा है, फूलों से अगुम्फित मन को हरण करने वाली स्वभाव सुन्दर माला है, और मेघ से अनिःसृत स्थिर रहने वाली प्रकाशमान बिजली है ॥२५॥

विदूपक—अरे ! बड़े आश्चर्य की बात है ।

राजा—अथवा, समस्त इन्द्रियों के समूह को आनन्दित करने वाली उसकी इस प्रकार उत्प्रेक्षा की जा सकती है ।

गात्रे—वह शरीर पर चन्दन का लेप है, मुख में अमृत है, नासिका में मौलश्री की सुगन्धि है, कानों में वीणा है और नेत्रों के लिये शरद् ऋतु की चाँदनी है ॥ २६ ॥

विदूपक—यह तो प्रशंसा की सीमा है ।

राजा—उसी को जब मैंने पुनः कौतुक, बहुत सन्मान और अनुराग के साथ देखा तो मेरा श्रेष्ठ धैर्य काम के बाणों के समूह से खण्डित हो गया,

स्मरशरनिकरनिकृत्तसत्त्वसारस्य प्रतिक्षणमतर्विशीर्यमाणधैर्यावष्टम्भपारिप्लवहृदयस्य विवर्तमानदुर्वारमनोरथसहस्रदूयमानस्य ममाभूच्चेतसि ।

आघ्राणव्यवधायिना स्तनतटे किं चंदनेनामुना
किं गाढ परिरम्भमन्तरयता स्थूलेन हारेण वा ।
रुधानेन किमुत्तरीयसिचयेनेच्छाविहारं दृशो-
र्यद्वा यत्स्पृहणीयमस्ति सुलभास्तस्यान्तराया अपि ॥ २७ ॥

विदूषकः—तदो तदो । (ततस्ततः)

राजा—ततश्च सहयायिनि जने कुताप्यस्मदधिष्ठितायां दिशि व्यापारितदृशि स्वयमपि चलशफरीचारुलोचना तत्रैव यदृच्छया प्रचलमधुकरमालासदृशीं दृशमदात् ।

विदूषक—एसो एत्थ समस्सासो जं वअस्सोवि ताए दिठ्ठोत्ति । (एषोत्र समाश्वास. यद्वयस्योपि तया दृष्ट इति)

क्षण-क्षण में भीतर ही भीतर नष्ट होते हुए धैर्य के आलम्बन से मेरा हृदय चञ्चल हो उठा और उठते हुए हजारों दुर्निवार मनोरथों से मैं दुखी हो गया । उस समय मेरे मन में विचार उत्पन्न हुआ कि—

आघ्राण—सूघने में व्यवधान उत्पन्न करने वाले, स्तनतट पर लगे हुए इस चन्दन से क्या प्रयोजन है ? गाढ़ आलिङ्गन को रोकने वाले स्थूल हार से क्या मतलब है ? और नेत्रों के इच्छापूर्ण विहार को रोकने वाले उत्तरीय वस्त्र की क्या आवश्यकता है ? अथवा जो वस्तु चाहने के योग्य—सुन्दर होती है उसके बाधक भी सुलभ होते हैं ॥ २७ ॥

विदूषक—फिर क्या हुआ ?

राजा—तदनन्तर उसके साथ चलने वाले लोग जब किसी कारण मुझसे युक्त दिशा की ओर देखने लगे तब चञ्चल-मछली के समान सुन्दर नेत्रों वाली उस सुलोचना ने भी उसी ओर स्वेच्छा से चञ्चल भ्रमर पंक्ति के समान दृष्टि दी ।

विदूपक—यहाँ यह सतोष की बात है कि मित्र को भी उसने देख लिया ।

राजा—ततश्च सखे

लज्जाशृंखलया मनाग् नियमितैस्स्मेरोल्लसत्तारकैः
किंचित्कुंचितलोचनांतचलितैर्लीलोद्यतभ्रूलतैः।
तस्याः प्रस्फुरदार्द्रकौतुकरसस्निग्धैरहं प्रेक्षितै-
रापीतश्चलितः क्षतो निगलितस्संतर्जितो निर्जितः ॥ २८ ॥

विदूषकः—अहो महारंभो मयणसंरंभो। वअस्स तदो तदो। (अहो-महारंभो मदनसंरंभः। वयस्य ततस्ततः)

राजा—ततश्च सा यांत्येव तथा ममांतिकात् प्रत्याहृत्य सत्रपं नेत्रमग्रहस्तेन पार्श्वसन्निहितमुद्धृत्य दर्पणं तमेव पुनस्संक्रामदस्मत्प्रतिच्छंदकसनाथं व्यधात्।

विदूषकः—अभिजादं दंसणोवाअविण्णाणम्। तदो तदो। (अभिजातं-दर्शनोपायविज्ञानं ततस्ततः)

राजा—स तु पुनस्तया दर्पणः।

राजा—फिर मित्र !

लज्जा—जो लज्जारूपी सांकल से कुछ-कुछ बंधे हुए थे जिनकी पुत-लियाँ हर्ष से विकसित हो रही थीं, जो कुछ कुछ निमीलित नेत्र के अन्त भाग से चल रहे थे, जिनमें भौंहरूपी लताएँ ऊपर की ओर उठ रही थीं, तथा जो उठते हुए नवीन कौतुक रस से स्निग्ध थे ऐसे उसके अवलोकनों से मैं पिया गया, विचलित हुआ, घायल हुआ, बेड़ी से बद्ध हुआ, डराया गया और पराजित किया गया ॥ २७ ॥

विदूपक—आश्चर्य है कि काम का कोप इतना भारी होता है। मित्र ! फिर क्या हुआ ?

राजा—पश्चात् जाते जाते उसने मेरे समीप से अपने लजीले नेत्र हटा कर हाथ के अग्रभाग से पास में रखा दर्पण उठाया और उसे अपने पड़ते हुए प्रतिबिम्ब से युक्त किया।

विदूपक—देखने के उपाय का ज्ञान यो बहुत सुन्दर है। फिर आगे क्या हुआ ?

राजा—और फिर सुन्दर दाँतों वाली सुलोचना ने उस दर्पण को—

निर्वर्णितस्सस्पृहमीक्षणाभ्यां
कपोलयोस्सादरमर्पितश्च ।
न्यस्तश्च भूयः स्तनयोः सुदत्या
मुखेन कामं परिचुम्बितश्च ॥ २६ ॥

विदूषकः—अहो पडिच्छदएवि तुह कासीराअउत्तिए बहुमाणो। (अहो-प्रतिच्छदकेऽपि तव काशीराजपुत्र्या बहुमानः)

राजा—वयस्य ।

शैत्येन वा रुचिरतो बहुमानतो वा
मन्येत वा किमपि कारणमन्यदेव ।
सङ्क्रान्तमत्प्रतिम इत्यथवास्तु तस्या-
स्सन्तर्पणोऽथ हृदयस्य स दर्पणोऽभूत् ॥ ३० ॥

विदूषकः—होदु जाणीअदि एव्व एत्थ कारणं। तदो तदो। (भवतु-ज्ञायते एव अत्र कारणम्। ततस्ततः)

राजा—किंच सखे ।

निर्वर्णित—बड़ी लगन के साथ नेत्रों से देखा, गालों पर आदर के साथ रक्खा, स्तनों पर रक्खा और मुख से अच्छी तरह चूमा ॥ २६ ॥

विदूषक—अहा, तुम्हारे प्रतिबिम्ब में भी काशीराज की पुत्री का बहुत सम्मान है ।

राजा—मित्र !

शैत्येन—शीतलता से, सुन्दरता से, बहुत सम्मान से, अथवा और भी कुछ कारण माना जा सकता है अथवा उसमें हमारा प्रतिबिम्ब पड़ रहा था इस कारण से वह दर्पण उसके हृदय को सन्तुष्ट करने वाला हुआ था ॥ ३० ॥

विदूषक—खैर, यहाँ जो कारण है वह तो जान ही लिया। फिर आगे क्या हुआ ?

राजा—और मित्र !

प्रचलवलयमंदोन्नादिना दंतपत्रं
सुरचितमपि सख्याः सज्जयंती करेण ।
अकृत च सविलासं चारुहासोत्तराणि
प्रविकसितकपोला जल्पितान्युत्क्षिपंती ॥ ३१ ॥

विदूषकः—अवतीण्णो विअ तिस्सा वअस्से भावो । (अवतीर्ण इव-तस्याः वयस्ये भावः)

राजा—असंहार्यं खलु मन्मथास्त्रमभिमतामनुरज्यतः पुंसः प्रत्यनुराग-दानम् । येनेदानीं ।

स्निग्धैर्व्रीलितयंत्रणाविचलितैस्तस्याः कटाक्षेहितै-
रीषत्प्रस्फुरिताधरोष्ठरुचकैस्सख्या समं जल्पितैः ।
मध्ये चोच्छ्वसितस्तनैर्विहसितैर्दंतांशुनीराजितैः
कामः काममपि मे करोति मनसः कामं परामुत्कताम् ॥ ३२ ॥

विदूषक—तदो अ किं वुत्तं । (ततश्च किं वृत्तम् ।)

प्रचल—सामने बैठी सखी का कर्णाभरण यद्यपि ठीक था तो भी चञ्चल चूड़ियों से मन्द-मन्द शब्द करने वाले हाथ से वह उसे ठीक करने लगी तथा मन्द मुसकान से कपोलों को विकसित कर पुलकती हुई उसने हावभावपूर्वक सखी के साथ सुन्दर हास्य से युक्त बातचीत की ॥ ३१ ॥

विदूषक—ऐसा लगता है जैसे उसका भाव मित्र में आ उतरा हो ।

राजा—इष्ट स्त्री से अनुराग प्रकट करने वाले पुरुष को बदले में अनुराग प्रदान करना वास्तव में कामदेव का अचूक शस्त्र है । जिससे इस समय—

स्निग्धै—लज्जा की यन्त्रणा से विचलित उसके स्नेहपूर्ण कटाक्षों से, जिनमें नीचे का ओठरूपी बिम्बीफल कुछ-कुछ हिल हिल रहा है ऐसे सखी के साथ होने वाले निरर्थक वचनों से और बीच-बीच में स्तनों को ऊपर उठा देने वाले दाँतों की किरणों से सुशोभित हास्य से कामदेव इच्छानुसार मेरे मन को अद्भुत तथा अत्यधिक उत्कण्ठा उत्पन्न कर रहा है ॥ ३२ ॥

विदूषक—फिर क्या हाल हुआ ?

राजा—ततश्च नातिदूरमिव गते चतुरतयाने चतुरतयानविन्यस्तैकहस्ता-रिणीमपरां सखीमभिभाषितुकामा किल तिर्यग्वलमानवलिकं विवलनवशनि-विहितकुचतटाभोगसङ्कुचितोरस्कमनतिच्युतशिथिलस्तनांशुकं असभागावष्टब्ध-कपोलपालिकं सलीलत्रिकविवर्तनविश्लथकबरीभारालङ्कृतापरांसभागमपाङ्गोत्स-र्पदर्शितचिकुरलोचनं अर्धविस्रस्तकर्णोत्पलचुम्ब्यमानभ्रूलतान्तमसौ द्विगुणितो-पधानावष्टम्भनिहितैकहस्ता सविभ्रमदर्शितपूर्वकायकान्तिकमनीया किमपि किम-प्याभाषमाणा च तामन्तरान्तरा च चोदयती च मदविक तरलतरतारस्फारोदरा दृशा दृश्यमानैव सत्वरमनतिचिरेण तिरोहिता काशीराजदुहिता।

विदूषकः—तदो तदो। (ततस्ततः।)

राजा—तदनन्तर जब पालकी कुछ दूर निकल गई तब उस पालकी में अपनी बगल में बैठी हुई दूसरी सखी से वार्तालाप करने की इच्छा से वह उसकी ओर मुड़ रही थी। मुड़ते समय उसकी नाभि के नीचे की रेखाएँ कुछ तिरछी मुड़ गई थीं, मुड़ने के कारण स्तनों का समीपवर्ती प्रदेश सान्द्र होने के कारण उसका वक्ष स्थल सकुचित हो गया था, स्तनवस्त्र ढीला होकर कुछ नीचे की ओर लटक गया था, जिस ओर सखी बैठी थी उस ओर के कन्धे से उसका कपोल सटा हुआ था, लीलापूर्वक पीठ की हड्डी के घुमाने से उसकी चोटी ढीली हो गई थी तथा उसके बालों का समूह दूसरे कन्धे को अलङ्कृत कर रहा था, कुछ-कुछ सुन्दर केश कटाक्षों के मध्य में बिखर गये थे, और कानों का उत्पल आधा लटक कर भौंहरूपी लता के अन्त को सुशोभित कर रहा था। उस समय वह तकिया को दूना कर उसके सहारे एक हाथ रखे हुई थी, हावभावपूर्वक दिखलाये हुए पूर्व शरीर की कान्ति से वह अत्यन्त सुन्दर दीख रही थी, सखी से कुछ कुछ वार्तालाप करती और बीच-बीच में मेरी ओर अत्यन्त चञ्चल पुतली से श्रेष्ठ मध्यभाग वाली दृष्टि को चलाती जाती थी। इस तरह वह काशीराज की पुत्री सुलोचना दिखती-दिखती कुछ ही समय में तिरोहित हो गई।

विदूषक—फिर क्या हुआ?

राजा—ततश्च न जाने किमभूवं किमकार्षं किंवृत्तमिति केवलं पुनस्तन्मार्गनिहितनिश्चललोचनः किंकर्तव्यतामूढः क्षणमस्थाम् ।

विदूषकः—वअस्स तुहारिसाणंपि तारिसो धेरभंगोत्ति अच्चाहिदं । (वयस्य त्वादृशानामपि तादृशो धैर्यभंग इति अत्याहितम् ।)

राजा—वयस्य धैर्यभंग इति नैतावतापसरति । तदा खलु ।

सत्त्वं विलुप्तमिव तप्तमिवांगमंगं
धैर्यं विशीर्णमिव दीर्ण इवांतरात्मा ।
चेतः प्रलीनमिव लीन इव प्रबोधो
मानः प्रमृष्ट इव कृष्ट इवास्मि चाहम् ॥ ३३ ॥

विदूषकः—तदो तदो (ततस्ततः)

राजा—ततश्चाहं नंद्यावर्तनारुध्यमानः शून्येन चेतसा यथागतमआयासिषम् ।

राजा—फिर नहीं जानता हूं कि मैं क्या हुआ और मैंने क्या किया ? मैं तो मात्र उसी के मार्ग की ओर एक टक निहारता हुआ किंकर्तव्य-विमूढ हो क्षणभर खड़ा रहा ।

विदूषक—मित्र ! तुम्हारे जैसे लोगों का भी वैसा धैर्य भङ्ग हो गया यह तो एक बड़ी अनर्थ की बात हुई ।

राजा—मित्र ! धैर्य भङ्ग हो गया इतने से ही बात नहीं चुकती है । उस समय यथार्थ में—

सत्त्वं—ऐसा जान पड़ता था मानो सत्त्व बिलकुल ही लुप्त हो गया हो, प्रत्येक अङ्ग संतप्त हो गया हो, धैर्य गल गया हो, अन्तरात्मा फट गई हो, चित्त पिघल गया हो, चेतना लुप्त गई हो, मन साफ हो गया हो और मैं खिंच गया होऊँ ॥ ३३ ॥

विदूषक—फिर क्या हुआ ?

राजा—फिर मैं नन्द्यावर्त के अनुरोध से शून्य हृदय से जैसा गया था वैसा ही यहां आ गया ।

विदूषक—अदो वर जाणीअदि एव्व । (अत पर ज्ञायते एव ।)

राजा—(मदनावस्थामभिनीय) सखे तद्दर्शनात्प्रभृति च ।

विस्रब्धस्य वचोपि नावतरति व्यामूढयो श्रोत्रयो
सत्कारार्पिततन्मुखेक्षणसुखेनान्यद् दृशौ पश्यत ।
बाह्यव्यापृतिनिर्व्यपेक्षमधुना प्रत्यङ्मुख सकुच-
च्चेतस्तद्गुणचिंतनानियमित मुह्यत्यकाण्डे मुहुः ॥ ३४ ॥

विदूषक—भो वअस्स ण जुत्त पुण तुज्झे एव्व णाम उज्झिदु अखण्डिदपसर धीरत्तण । (भो वयस्य न युक्त पुन तव एव नाम उज्झितु अखण्डितप्रसर धीरत्वम् ।)

राजा—(सतत्ताप) वयस्य सौधातके किं ब्रवीमि ।

सकल्पशतविधुरितो धैर्यपरिस्खलनजातवैलक्ष्य ।
लक्ष्यीकृतः शराणां निसर्गकठिनेन मदनेन ॥ ३५ ॥

विदूषक—इसके आगे तो ज्ञात है ही ।

राजा—(काम की अवस्था को प्रकट कर) मित्र ! उसके देखने के समय से ही—

विस्रब्धस्य—विश्वासपात्र मनुष्य के भी वचन इन मोही कानों में नहीं उतरते हैं, जिन्हें सत्कार के कारण उसी का मुख देखने का सुख प्राप्त हो रहा है ऐसे ये नेत्र उसके मुख के सिवाय और कुछ नहीं देखते हैं, और इस समय चित्त बाह्य व्यापार से निःस्पृह हो प्रत्येक कार्य से विमुख होता हुआ सकुचित होकर मात्र उसी के गुणों के चिन्तन में लग रहा है तथा असमय में बार-बार मूर्च्छित हो उठता है ॥ ३४ ॥

विदूषक—हे मित्र ! तुम्हें इस तरह अखण्ड धैर्य छोड़ देना उचित नहीं है ।

राजा—(मानसिक सताप को प्रकट कर) मित्र सौधातकि क्या कहूँ ?

सकल्प—सैकड़ों सकल्पों से मैं दुःखी हो रहा हूँ, धैर्य के छूट जाने से मैं स्वय लज्जित हो रहा हूँ, तथा स्वभाव से कठोर काम ने मुझे अपने बाणों का निशाना बना रक्खा है ॥ ३५ ॥

विदूषकः—भो वअस्स सुणाहि दाव जइ तारिसो वअस्से कासीराअउत्तीए दंसिदो भावे तदो अस्सासिदुं वेअ अत्तहोदोवि जत्त जुत्तं ण एव्व संतप्पिदुं। जदो देव्वसंपादिदो समासण्णो एव्व तिस्सा अप्पच्छदवसाणुवत्तणेण समाराहइत्तओ मणोरहाणं सअंवरूसवो। (भो वयस्य शृणु तावत् यदि तादृशः वयस्ये काशीराजपुत्र्या दर्शितः भावः ततः आश्वासितुमेव अत्रभवतोपि यत्र युक्तं नैव संतपितुं यतो दैवसंपादितः समासन्न एव तस्याः आत्मच्छदवशानुवर्तनेन समाराधयिता मनोरथाना स्वयंवरोत्सवः।)

राजा—भवतु वा तथा भवतो यथा प्रतिभाति। तथापि न तावता संप्रति समाश्वासः। मम हि।

तैस्तैर्मनोरथैस्तस्यामापतद्भिः कदर्थितम्।
अतिवाहयितुं चेतो नालं कालकलामपि ॥ ३६ ॥

(नेपथ्ये वैतालिकौ)

वैतालिकौ—विजयतां कौरवेश्वरः, सुखाय सायंतनसमयो भवतु देवस्य।

प्रथमः।

उन्मीलन्नवमल्लिकांतरगलत्सौरभ्यसंवासिताः
श्रांताया दिवसश्रियो हिमकणैर्घर्माम्बुकल्पैर्जडाः।

विदूषक—हे मित्र ! सुनो, जब काशीराज की पुत्री ने मित्र के विषय में वैसा भाव दिखाया है तब आपको भी धैर्य रखना ही उचित है इस तरह संताप करना उचित नहीं। एक कारण यह भी है कि अपनी इच्छानुसार उसके मनोरथों को पूर्ण करने वाला स्वयंवरोत्सव भी भाग्यवश निकट ही है।

राजा—वैसा हो जैसा कि आपको जान पड़ता है, फिर भी इस समय उतने से संतोष नहीं होता। सचमुच—

तैस्तैः—मेरा चित्त तो उसके विषय में आने वाले उन उन मनोरथों से पीड़ित होता हुआ काल की एक कला को भी बिताने में समर्थ नहीं है ॥३६॥

(परदे के भीतर दो वैतालिक आते हैं)

वैतालिक—कौरवेश्वर की जय हो, यह संध्या का समय आपके लिये सुखकर हो।

प्रथम—:

उन्मीलन्—जो खिलती हुई नवीन मालती के भीतर से निकलने वाली सुगन्धि से सुगन्धित है, जो थकी हुई दिवसलक्ष्मी के स्वेद जल के समान बर्फ के

पेया घ्राणपुटै सुखेन सुतरामालिंगनीया भुजै-
निश्वासा इव वाति मदमधुना वाता वसंतश्रिय ॥ ३७ ॥

द्वितीय —

साय मज्जनशीतला मृगमदन्यालिप्तकंठा. स्त्रिय
काश्चिन्नूतनमल्लिकामुकुलकैर्हारं दधत्यस्तनैः ।
प्रत्यग्रागुरुधूपवाससुरभी कुर्वन्ति जातिस्रज.
केशाते रतिलास्यसंपद इव प्रस्तावपुष्पांजलिम् ॥ ३८ ॥

विदूषक —(आकर्णितकेन) भो वअस्स उठ्ठेहु दाव समासण्णा खु साअंतणसंझा । (भो वयस्य उत्तिष्ठ तावत् समासन्ना खलु सायंतनसन्ध्या ।)

(उत्तिष्ठत)

राजा—कथमवष्टब्धा सरव्वमकरध्वजसमरोद्वेला । इय हि—

कणों से ठंडी हैं, जो नाकके नथुनों से सुखपूर्वक पीने के योग्य हैं तथा भुजाओं के द्वारा अच्छी तरह आलिङ्गन करने के योग्य हैं ऐसी वायु इस समय वसन्त लक्ष्मी के श्वासोच्छ्वास के समान धीरे धीरे बह रही है ॥३६॥

द्वितीय —

साय—जो सायकालिक स्नान से शीतल हैं, जिनके कण्ठ कस्तूरी मे लिप्त हैं, और जो अपने स्तनों से नवीन मालती की बोंड़ियों से निर्मित हार को धारण कर रही हैं ऐसी कुछ स्त्रिया नवीन अगुरु चन्दन की धूपसम्बन्धी सुगन्धि से सुवासित अपने केशों के अन्त मे चमेली की मालाओं को इसतरह धारण कर रही हैं मानो रति के नृत्यरूपी सपदा के प्रारम्भ में पुष्पाञ्जलि ही बिखेर रही हों ॥ ३८ ॥

विदूषक—(सुन कर) हे मित्र ! उठो, सायकाल की सध्या निकट है ।

(दोनों उठकर खड़े होते हैं)

राजा—क्या कुपित कामदेव के युद्ध का समय आगया ?

मनोरथशतार्तानां प्रोषितानां प्रमाथिनी ।
निशीथिनी जगज्जिष्णोर्मन्मथस्य वरूथिनी ॥ ३९ ॥

विदूषकः—इदो इदो । (इतः इतः ।)

(परिक्रामतः)

राजा—(सोत्कंठम् ।)

अपांगव्यासंगस्खलदलसविभ्रांतनयनं
दरप्रोद्यद्दंतद्युतिदलितरागाधरदलम् ।
अविस्पष्टस्वेदं पुलकितकपोलं मृगदृशा-
स्तदद्यापि स्पष्टं मुखमभिमुखं दृश्यत इव ॥ ४० ॥

(इति निष्क्रांतौ)

श्रीवत्सगोत्रजनभूषणगोपभट्ट-
प्रेमैकधामतनुजो भुवि हस्तियुद्धात् ।

वास्तव में यह—

मनोरथ—यह रात्रि सैकड़ों मनोरथों से पीड़ित प्रवासी मनुष्यों को नष्ट करनेवाली, जगद्विजयी कामदेव की सेना है ॥ ३९ ॥

विदूषक—यहां यहां से

(घूमते हैं)

राजा—(उत्कण्ठा के साथ)

अपाङ्ग—जिसमें अलसाये तथा विभ्रमपूर्ण नेत्र-कटाक्षों के संसर्ग से स्खलित हो रहे हैं, जिसमें अधरदल की लाल-लाल कान्ति कुछ-कुछ प्रकट हुई दांतों की कान्ति से खण्डित हो रही है, जिसमें अस्पष्टसा पसीना निकल रहा है तथा जिसके कपोल रोमाञ्चित हो रहे हैं ऐसा मृगनयनी का मुख अब भी सामने स्पष्टसा दिखाई दे रहा है ॥४० ॥

(इस तरह राजा और विदूषक दोनों बाहर जाते हैं)

श्रीवत्स—श्रीवत्सगोत्र के मनुष्यों के आभूषण गोपभट्ट के प्रीतिपात्र

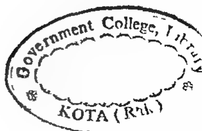
नानाकलाम्बुनिधिपाण्ड्यमहेश्वरेण ।
श्लोकैः शतैस्सदसि सत्कृतवान् बभूव ॥ ४१ ॥

इति श्रीगोविन्दस्वामिनः सूनुना हस्तिमल्लेन विरचिते
विक्रान्तकौरवीयनाटके वाराणसीदर्शनो नाम
प्रथमोऽङ्कः समाप्तः ॥ १ ॥

पुत्र हस्तिमल्ल कवि, पृथिवी में हस्तियुद्ध के कारण नाना कलाओं के सागर पाण्ड्य नरेश के द्वारा सभा में सौ श्लोकों से सत्कृत हुए थे ॥४१॥

इस प्रकार श्री गोविन्दस्वामी के पुत्र हस्तिमल्ल के द्वारा विरचित
विक्रान्तकौरव नाटक में 'वाराणसी-दर्शन' नाम
का प्रथम अङ्क समाप्त हुआ ॥ १ ॥





द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति प्रतीहारः)

प्रतीहारः—(शयनादुत्थाय) कथमस्माभिः समुचित एवावसरे प्रतिबुद्धं। प्रातस्तरानेव गंगातीर्थाभिरक्षणाय मया गंतव्यं। यतः पूर्वेद्युरेव स्वयंवरदिवसाद्भर्तृदारिकया गंगातीर्थ एव सौभाग्यवृद्धये स्नातव्यमिति कुलवृद्धाभिरादिष्टम्। शौवस्तिकी च तस्याः स्वयंवरयात्रा नेदीयसी च संप्रति प्रगेतनी संध्या।

तथाहि।

अनतिगलितनिद्राजाड्यदीव्यद्गलानां
प्रसरति कृतहिक्कं कूजितं कुक्कुटानाम्।
विदधति च विहंगास्तत्क्षणोद्भूतबोधाः
कलकलमधिनीडं ग्रामचैत्यद्रुमेषु ॥ १ ॥

(इसके बाद प्रतीहार प्रवेश करता है)

प्रतीहार—(शय्या से उठकर) क्या हम ठीक अवसर पर जाग गये ? मुझे बड़े सवेरे गङ्गा के घाट की रक्षा करने के लिये जाना है। क्योंकि स्वयंवर-दिवस के पहले राजपुत्री को सौभाग्य-वृद्धि के लिये गङ्गा के घाट पर ही स्नान करना चाहिये''' ऐसा कुल की वृद्ध स्त्रियों ने आदेश दिया है। राजपुत्री की स्वयंवर-यात्रा कल होनेवाली है और प्रातःकाल की संध्या, इस समय अत्यन्त निकट है।

क्योंकि—

अनति—निद्रा के पूर्ण नष्ट न होने के कारण जिनके कण्ठ जड़ता के साथ क्रीडा कर रहे हैं ऐसे मुर्गों का शब्द हिचकी भरता हुआ फैल रहा है तथा ग्रामसम्बन्धी मार्ग के वृक्षों पर घोंसलों में अभी हाल जागे हुए पक्षी कलकल कर रहे हैं ॥ १ ॥

तदिदानीं गङ्गातीरमेव गच्छामि (उत्थाय परिक्रामन्) इयं खलु अष्टमावशिष्टा किमप्युत्कयति कामुकानतिचिरविनश्वरी विभावरी । सम्प्रति हि ।

चुम्बतोऽधरपल्लवं नियमितश्वासं शनैः सुभ्रुवां
सुप्ताना समयं सशुष्करुदितं मचुन्मिषच्चक्षुषाम् ।
आश्लेषं च ससाध्वसं विरचितं द्रागुज्झतीना रुषा
कुर्वंति प्रतिबोधना प्रणयिनं प्रत्यूषरत्युत्सुका ॥ २ ॥

इयमेव च निर्गलप्रणयरसलीलाकामिनामभिमततमा वेला ।

तथाहि ।

तत्कालप्रतिबोधिताभिरलसोन्मिद्रेक्षणाभिः प्रियाः
सीदन्तीभिरर प्रदोषसुरतश्रान्तिरलथैरंगकैः ।

इसलिये अब गङ्गा के तीर ही जाता हूँ (उठ कर घूमता हुआ) अष्टम प्रहर से अवशिष्ट तथा शीघ्र ही नष्ट हो जानेवाली यह रात्रि सचमुच ही कामी पुरुषों को अत्यधिक उत्सुक कर रही है । इस समय—

चुम्बन्तो—जो सोई स्त्रियों के अधर पल्लव का जाग जाने के भय से श्वास रोक कर धीरे धीरे चुम्बन कर रहे हैं ऐसे प्रातःकालीन संभोग के लिये उत्सुक मनुष्य अपनी उन स्त्रियों को जगा रहे हैं जो सूखे रोदन के साथ शीघ्र ही आँखें खोल रही हैं तथा डरते डरते किये हुए आलिङ्गन को शीघ्रतापूर्वक क्रोध से छोड़ रही हैं ॥ २ ॥

स्वच्छन्द प्रेम रस की लीला से युक्त यह समय ही कामी मनुष्यों के लिये अत्यन्त इष्ट है ।

क्योंकि—

तत्काल—जो अभी हाल जगाई गई हैं, जिनके नेत्र आलस्य से उनींदे हो रहे हैं तथा रात्रि के प्रारम्भ में होनेवाले संभोग की थकावट से ढीले-ढीले अङ्गों से जो अत्यधिक पीडित हो रही हैं ऐसी युवतियों के साथ ये रति

निर्मर्यादविमर्दनिर्दयममी विस्रंभरुद्धत्रपं
सेवंते रतिलंपटा युवतिभिः प्रत्यूपरत्युत्सवम् ॥ ३ ॥

(स्पर्शं रूपयित्वा) अहो सौकुमार्यं निशावसानपवनस्य । संप्रति हि ।

दूरादार्द्रं परिमलमसावाहरन्मालतीनां
व्यावृद्धोऽन्तः प्रतिवनदलत्पाटलीसौरभेण ।
निर्निश्वासोन्नमितवदनं घ्राणरन्ध्रेण पेयो
वायुः श्रांतिं रतिविततिजां लुम्पते दंपतीनाम् ॥ ४ ॥

संप्रति च रजनीविरामविसर्जनजनितोत्कंठाय स्वादीयानेव स्वदते कोपि रसो मिथुनाय ।

तथाहि—

निर्गंतुं प्रथमोत्थितस्य शयनात्तल्पस्थिता कामिनी
व्यत्यासानमिताननस्य सुमुखी प्रोत्तानयंती मुखं ।

के लोभी प्रेमी, अत्यधिक मर्दन से निर्दय तथा विश्वास से कारण लज्जा से रहित प्रातःकालीन संभोगोत्सव का सेवन कर रहे हैं ॥ ३ ॥

(स्पर्श का अभिनय कर) अहा, रात्रि के अन्तिम समय में चलनेवाली वायु की बड़ी सुकुमारता है । सचमुच ही इस समय—

दूरादार्द्र—जो दूर दूर से मालती के फूलों की ताजी सुगन्धि को ला रही है, जो प्रत्येक वनमें खिलते हुए गुलाब की सुगन्धि से भीतर ही भीतर अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त है तथा जो सांस रोक मुख को ऊँचा उठा कर नासिका के छिद्रों से पान करने योग्य है ऐसी यह वायु स्त्री-पुरुषों की संभोगसम्बन्धी अधिकता से उत्पन्न थकावट को लुप्त कर रही है ॥ ४ ॥

और इस समय रात्रि की समाप्ति के कारण होने वाली विदाई से परस्पर उत्कण्ठित स्त्री-पुरुषों के लिये कोई अद्भुत अतिशय स्वादिष्ट रस अच्छा लग रहा है ।

जैसे—

निर्गन्तुं—कोई पुरुष शय्यागृह से बाहर जाने के लिये शय्या से पहले उठ कर खड़ा हुआ है परन्तु उसकी स्त्री अभी शय्या पर ही बैठी है । रात्रि में स्त्री की पुरुषायित क्रिया से पुरुष का मुख लज्जा से नीचे की ओर झुका है ।

कण्ठासक्तकरा विपर्ययकृताश्लेषस्य भूयोधरं
चुम्बन्ती परिचुम्बिताधरदला जानात्यपूर्वं रसम् ॥ ५ ॥

(नभो विलोक्य निर्वर्ण्य च)

विशुष्यतः सम्प्रति कौमुदीजल-
प्लवस्य तिग्मांशुभयान्नभःस्थले ।
प्रणष्टशिष्टा इव बुद्बुदा इमा
विभान्ति तारा विशरारुरोचिषः ॥ ६ ॥

(पुनर्निर्वर्ण्य) कथं विभातप्रायमेव । अद्य हि ।

लघु विघटयितारः कुड्मलान्यब्जिनीनां
झटिति घटयितारः कोककान्ताः स्वकान्तैः ।
जहति निषधशैलाधित्यकोत्सङ्गसङ्ग-
क्षपिततिमिरलेखास्तिग्मभानोर्मयूखाः ॥ ७ ॥

स्त्री उसकी लजा दूर करने के लिये उसके मुख को ऊपर उठा रही है तथा गले में बाहु डाल आलिङ्गन करती हुई उसके अधरोष्ठ का चुम्बन कर रही है पश्चात् पुरुष भी स्त्री के अधरोष्ठ का चुम्बन करता है इस तरह वह स्त्री किसी अपूर्व रस का अनुभव कर रही है ॥ ५ ॥

(आकाश की ओर देख कर तथा वर्णन कर)

विशुष्यत —इस समय आकाश में नश्वर कान्ति से युक्त ये तारे ऐसे जान पड़ते हैं मानो सूर्य के भय से सूखते हुए चाँदनीरूपी जल के नष्ट होने से बाकी बचे बुदबुदे ही हों ॥ ६ ॥

(फिर देख कर) क्या सबेरा हो ही गया । इस समय—

लघु—इस समय कमलिनियों की बोड़ियों को शीघ्र ही विकसित करनेवाली, चकवियों को अपने पतियों से शीघ्र ही मिलानेवाली, तथा अन्धकार की रेखा को नष्ट करनेवाली सूर्य की किरणें निषधाचल के ऊपरी मैदानरूपी गोद के सम्बन्ध को छोड़ रही हैं ॥ ७ ॥

निर्गताः स्मो वाराणस्याः (पुरोऽवलोक्य) कस्य खल्वसौ सौविदल्लो जाह्नवीगामिनमेवाध्वानमुपसरति ।

(प्रविश्य सौविदल्लः)

सौविदल्लः—कहं अज्ज तरुणदिणअरकरणिअरणिवडणफुडफुडंतपुडइणीसंदमअरंदणिसंदसमुद्धूणणाद्दिअदिसामुहेण पच्चग्गविअसंतसरसकेसरपसूणपरिमलुग्गारमंसलेण कुहकुहंतजलसउंतकेलीकलहकलअलाअड्ढणपेसलेण उप्पेलणफुल्लाविअहल्लअफुल्लाछवेल्लिअमल्लिआअक्खतल्लएण उग्घाडिअणलिणवरपरिपादिठिविआसरीअच्छप्पअरिंछोलिझंकारमहुरेण गंधग्गसमीरणेण आलिज्जंतणहअलो पसरन्तमसिणवालाअववसिणकद्दमसमालिदगअणधंतो वट्टेइ दंसिदुद्दामणिसीहरइ इद्धविअलक्खतरुणकामिणीपाअडअलडहविब्भमअो समओ ।(नभो विलोक्य) एत्थ हि। अत्थाअंपि व कालिआमइलिउज्जोअं अप्पमुट्ठअं एअं रेहइ खंडिअमुपसरं सीअंसिणा मंडलं एत्थय पल्लच्छेइ घणं-घआरणिअरं वित्थारअन्तो दिसाचक्कं कुक्कुडचूडापाडलसिहो अक्कमुपब्भाअो। इअं चेअ पुणादत्तरत्तिसम्भोअसम्मद्दमलिणिअपसाहणस्स अहाहणंतंहणवेला विलासिणीजणस्स । तहहि। (कथमद्य तरुणदिनकरकरनिकरनिपतनस्फुटस्फुटत्पुटकिनीसांद्रमकरंदनिष्यंदसमुद्धूननार्द्रितदिशामुखेन प्रत्यग्रविकसत्सरसकेशरप्रसूनपरिमलोद्गारमांसलेन कुहकुहायमानजलशकुंतकेलिकलहकल-

---

हम वाराणसी से बाहर निकल आये हैं (आगे देख कर) यह किसका कञ्चुकी गङ्गा की ओर जानेवाले मार्ग को प्राप्त हो रहा है ?

(कञ्चुकी प्रवेश करता है)

सौविदल्ल—क्या इस समय तरुण सूर्यसम्बन्धी किरण-समूह के पड़ने के कारण अत्यन्त खिली हुई कमलिनियों के सान्द्र मकरन्द रस के उड़ाने से दशों दिशाओं को आर्द्र करनेवाली, नवीन विकसित मौलश्री के ताजे फूलों की सुगन्धि के उद्‍गार से पुष्ट, चहकते हुए जलपक्षियों के क्रीडासम्बन्धी कलकल शब्द के आकर्षण से मनोहर, चोंच की प्रेरणा से खिलाये हुए कमलपुष्पों के आसव से श्रेष्ठ हंसविशेषों को सींचनेवाली, और खिले हुए

कलाकर्पणपेशलेन नद्येरणफुल्लापितहल्लकफुल्लनासवासितकमलिनकान्ततल्लजेन उद्घाटितनलिनगृहपरिपाल्यस्पष्टप्रसृतषट्पदरिंछोलिझंकारमधुरेण गोसर्गसमीरणेन आलिप्तनभस्तल प्रसरत्मसृणबालातपघुसृणकर्दमसमालिप्तगगनाध्वातो वर्तते दर्शितोद्दामनिशोथरतिचिह्नविलक्षतरुणकामिनीप्रकटसौंदर्यविभ्रमरसमय । अत्र हि । आदर्शमिव कालिकामलिनितोद्योत अप्रमृष्टमेतत् प्रतिभाति खण्डितांशुप्रसर शीतांशोर्मंडल अत्र च पयस्लयति घनान्धकारनिकर विस्तारयन् दिशाचक्र कुक्कुटचूडापाटलशिखोऽर्कांशुप्राग्भार । इयमेव पुनरुक्तरात्रिसमोगसमर्दमलिनितप्रसाधनस्य प्रसाधनान्तरग्रहणवेला विलासिनीजनस्य।

तथाहि।)

> यहइ चिहुरभारो मालदीपाडलाणं
> कुसुमयइहरेण गुफिअ मज्झमाल।

कमलरूपी घरों पर चारों ओर से झपटने वाले भ्रमर-समूह की अस्पष्ट मधुर झंकार से मनोहर प्रात काल की वायु से आकाश को लिप्त करनेवाला समय आ पहुँचा है। इस समय फैलती हुई स्निग्ध सुनहली धूप रूपी केशर के पङ्क से आकाशरूपी मार्ग का छोर सब ओर से लिप्त हो रहा है तथा रात्रिसम्बन्धी समोग क चिह्नों के दिख जाने से लज्जित तरुण स्त्रियों के सौन्दर्यपूर्ण हाव-भाव प्रकट हो रहे हैं। (आकाश की ओर देख कर) इधर जिसकी किरणों का प्रसार खण्डित हो गया है ऐसा यह चन्द्रमा का बिम्ब, कालिमा से जिसका प्रकाश मलिन हो गया है ऐसे बिना पोंछे हुए दर्पण के समान जान पड़ता है और इधर दिशाओं के समूह को विकसित करता हुआ मुर्गे की कलगी के समान लाल-लाल कान्ति से युक्त सूर्य की किरणों का समूह सघन अन्धकार के समूह को नष्ट कर रहा है। बार-बार होनेवाले रात्रि-सम्बन्धी समोग क समर्द से जिनकी वेष-भूषा मलिन हो गई है ऐसी स्त्रियों का दूसरा वेष-भूषा का ग्रहण करने का यही समय है। क्योंकि

यहइ—स्त्रियों के केशों का समूह मालती और गुलाब के फूलों के सम्मिश्रण से गूंथी हुई मध्यमाला को धारण कर रहा है तथा स्त्रियों के

वउलकुसुमगुच्छं माहवीफुल्लविद्धं
फुरइ अ थणपठ्ठे दामअं कामिणीणं ॥ ८॥
(वहति चिकुरभागो मालती पाटलानां
कुसुमव्यतिकरेण गुंफितां मध्यमालां ।
बकुलकुसुमगुच्छं माधवीफुल्लविद्धं,
स्फुरति च स्तनपृष्ठे दामकं कामिनीनाम् ॥)

सुदं खु मये गदो अज्ज मंदाअणीं अवेक्खिदुं सामिकोरवेसरोत्ति । जाव एण्हिं गंगातीरं गच्छामि । (परिक्रामति) । (श्रुतं खलु मया गतोऽद्य मंदाकिनीमवेक्षितुं स्वामी कौरवेश्वरः इति । यावदिदानीं गगातीरं गच्छामि)

प्रतीहारः—यावदेनं पृच्छामि (उपसृत्य।) कुतो भवान् किमत्रागतोस्ति।

सोविदल्लः—इदो कौरवेसरस्स खंदावारादो आअच्छेमि तस्स चेअ हि परिअणो (इतः कौरवेश्वरस्य स्कंधावारादागच्छामि तस्यैव हि परिजनः ।)

प्रतीहारः—कच्चिदिदानीं मेघेश्वरोपि विस्मारयति गुणान् महाराजसोमप्रभस्य ।

सोविदल्लः—अअअ किं एत्थ बहु वण्णिअदि । पडिच्छंदअं खु सो पिदुणो । (आर्य किमत्र बहु वर्ण्यते प्रतिच्छंदकं खलु सः पितुः ।)

स्तनपृष्ठ पर मालश्री के फूलों के गुच्छों से युक्त एवं माधवीलता के फूलों से गुम्फित माला सुशोभित हो रही है ॥ ८ ॥

मैंने सुना है कि आज स्वामी कौरवेश्वर—जयकुमार, गङ्गा देखने के लिये गये हैं। इसलिये मैं भी गङ्गा के तट की ओर जाता हूँ। (घूमता है)

प्रतीहार—जब तक इससे पूछता हूँ। (पास जाकर) आप कहाँ से आ रहे हैं ? यहाँ किसलिये आये हैं ?

सोविदल्ल—इधर कौरवेश्वर के पड़ाव से आ रहा हूँ और उनका परिजन---सेवक हूँ।

प्रतीहार—क्या इस समय मेघेश्वर—जयकुमार भी महाराज सोमप्रभ के गुणों का विस्मरण करा रहे हैं ?

सोविदल्ल—आर्य ! इस विषय में बहुत क्या कहा जाय ? सचमुच ही वे पिता का प्रतिबिम्ब हैं।

प्रतिहारः—तेन हि राजन्वानेव दिष्टया कुरवो जनपद । तथापि तद्गुणकथाकथनकौतुक तरलयति नश्चेत । कथय कीदृश इदानीं कौरवेश्वरो मेघेश्वर ।

सौविदल्ल—तेण हि सुणिअउ एसिह खु सो (तेन हि श्रूयतामिदानीं खलु सः ।)

चित्ते धरेइ करुणा धरणिं भुअम्मि
सीसम्मि पाअजुअल परमेसरस्स ।
णिल्लुत्तदुक्खविअण सअलपि लोअं—
अत्ताणअपि विअ रक्खइ अप्पमत्तो ॥ ९ ॥

(चित्ते धरति करुणा धरणीं भुजया,
शीर्षे पादयुगल परमेश्वरस्य ।
निर्लुप्तदु:खवेदन सकलमपि लोक
आत्मानमपीव रक्षत्यप्रमत्त ॥)

प्रतीहार —तेन हि पुत्रवतामप्यग्रणीर्महाराजसोमप्रभ । (पुरो विलो-

---

प्रतीहार—तो कहना चाहिये भाग्य से कुरु देश उत्तम राजा से युक्त है । यद्यपि यह है तो भी उनके गुणों का वर्णन सुनने का कौतुक हमारे चित्त को चञ्चल कर रहा है । कहिये इस समय कौरवेश्वर मेघेश्वर—जयकुमार कैसे हैं ?

सौविदल्ल—तो सुनिये, इस समय वे सचमुच—

चित्ते—वे हृदय में करुणा को, भुजा पर पृथिवी को और शिर पर परमेश्वर के चरणयुगल को धारण करते हैं तथा जिसके समस्त दु खों की वेदना नष्ट कर दी गई है ऐसे समस्त लोक का वे अपने आपके समान बड़ी सावधानी से सरक्षण करते हैं ॥ ९ ॥

प्रतीहार—तब तो महाराज सोमप्रभ पुत्रवानों में भी अग्रसर हैं । (सामने देख कर) हिचकते हुए जलपक्षियों के मन्द-मन्द शब्द को

क्य)। इयं खलु समुच्चरत्कलशकुंतमंथरारावहारिणा समीरणेन लक्ष्यते समासीदंती सुरस्रवंती।

सौविदल्लः—कहं समासण्णा जाह्णवी। (कथं समासन्ना जाह्नवी।)

(उभौ परिक्रम्य दृष्ट्वा च)

प्रतीहारः—इयं हि सा

गंगातरंगेण विधारयंती
सरोजजालं चलहंसमालम्।
उल्लासिहारच्छविहारितोया
वाराणसीसीमविहारिपूरा॥ १०॥

किं च—

मदकलसारसलीला कान्हारविसरणमंजुलसमीरा।
तामरससरसकेसर-विसराकुलसलिलकल्लोला ॥ ११॥

हरण करनेवाली वायु से जान पड़ता है कि गङ्गा सचमुच ही निकट आ गई है।

सौविदल्ल—क्या गङ्गा पास ही है?

(दोनों घूमकर तथा देख कर)

प्रतीहार—यह है वह।

गङ्गा—यह है वह गङ्गा जो चञ्चल हंसों के समूह से युक्त कमलों के समूह को लहरों से धारण कर रही है, जिसका पानी सुशोभित हार की कान्ति को हरण कर रहा है और जिसका पूर वाराणसी की सीमा पर बह रहा है॥ १०॥

और भी—

मदकल—जिसमें मद के कारण सारस पक्षियों की मधुर लीला हो रही है, जिसमें सफेद कमलों में संचार करने से मनोहर वायु बह रही है, और जिसमें कमलों की सरस केसर को समूह से जल के तरङ्ग भर रही हैं ऐसी वह गङ्गा है॥ ११॥

इतो मया गङ्गातीराभिरक्षणाय गन्तव्यम्।

सौविदल्ल —कुदो खु सव्वलोअसाहारणं गङ्गातित्थं वि अभिरक्खिज्जइ ।
(कुतः खलु सर्वलोकसाधारणं गङ्गातीर्थमपि अभिरक्ष्यते ।)

प्रतीहारः—अत्र खलु काशीराजदुहिता सुलोचना सौभाग्यमज्जनार्थं आगमिष्यति ।

सौविदल्ल —तेण हि जुज्जइ । (तेन हि युज्यते ।)

प्रतीहारः—क्व पुनर्भद्रमुखेन चलितव्यम् ?

सौविदल्ल —गदो खु अग्गदो मन्दाइणीं अवेक्खिदुं सामी मे कोरवेसरो । (पुरो निर्दिश्य) एद च धोरिदरअतुरिततुरअणविखुरघादणिरतरखण्डिदं सूआवेदि तस्स गमणमग्गं धरणिवट्टं (गतः खल्वग्रतो मन्दाकिनीमवेक्षितुं स्वामी मे कौरवेश्वरः । एतच्च धोरितरयत्वरिततुरगप्रतिनवखुरघातनिरन्तरखण्डितं सूचयति तस्य गमनमार्गं धरणीपृष्ठम् ।)

प्रतीहार —तेन हि युष्माभिरपि परिहर्तव्यो गङ्गातीरप्रदेशः ।

यहाँ मे मुझे गङ्गाघाट की रक्षा के लिये जाना चाहिये ।

सौविदल्ल—गङ्गाघाट तो सब लोगों के लिये साधारण है उसकी रक्षा क्यों की जा रही है ?

प्रतीहार—यहाँ काशीराज की पुत्री सुलोचना सौभाग्य-स्नान के लिये आवेगी ।

सौविदल्ल—तब तो ठीक है ।

प्रतीहार—और आप कहाँ चल रहे हैं ?

सौविदल्ल—गङ्गा को देखने के लिये मेरे स्वामी कौरवेश्वर आगे गये हैं । (सामने दिखाकर) धोरितनामक गति से शीघ्र चलने वाले घोड़े के नवीन खुरों के घात से निरन्तर खण्डित हुआ यह पृथिवीतल उनके गमन के मार्ग को सूचित कर रहा है ।

प्रतीहार—तो आपको भी गङ्गातीर का प्रदेश छोड़ना होगा ।

सौविदल्लः—अअअ तह। (आर्य तथा।)

(निष्क्रांतौ)

मिश्रविष्कम्भः

(ततः प्रविशति सोत्कंठो राजा विदूषकश्च)

राजा—

आगावयोरुपनतस्य समागमस्य
संकेतवासभवनं तदनुस्मरामि।
यत्रैव दर्पणतले क्षणसन्निविष्टा
संक्रामितौ सममहं च सुलोचना च ॥ १२ ॥

इदं तु पुनरलब्धविश्रामं परिभ्राम्यत्कथं नु नाम धार्येत धैर्यविसादतरलं चेतः। यतो हि मे।

येनैव सा प्रथममिंदुमुखी प्रयाता
मार्गेण मां विकिरती स्मरमार्गणानाम्।
तामेव संप्रति च मार्गयतोऽस्य भूयः
पर्याकुलस्य मनसोपि स एव मार्गः ॥ १३ ॥

सौविदल्ल—आर्य! ऐसी ही बात है।

(दोनों निकल जाते हैं)

मिश्रविष्कम्भ

(इसके बाद उत्कण्ठा से युक्त राजा और विदूषक प्रवेश करते हैं)

राजा—आगावयो—सबसे पहले मैं हम दोनों के उपस्थित समागम के संकेतभवन—मिलनगृह स्वरूप उस दर्पण-तल का स्मरण करता हूँ जिसमें क्षण भर के लिये बैठी हुई वह सुलोचना और हम दोनों ही साथ-साथ प्रतिबिम्बित हुए थे ॥ १२ ॥

बिना किसी विश्राम के निरन्तर घूमता तथा धैर्य के नाश से चञ्चलता को प्राप्त यह चित्त कैसे रोका जा सकता है? क्योंकि

येनैव—सर्व प्रथम मेरी ओर काम के बाणों को बिखेरती हुई वह चन्द्रमुखी जिस मार्ग से गई थी इस समय उसी को खोजनेवाले मेरे व्यग्र मन का भी वही मार्ग है ॥ १३ ॥

निपीतो नेत्राभ्यामधररुचकः कौतुकरस—
प्रसङ्गस्मेराभ्यां प्रथममभवत् पक्ष्मलदृशः ।
कथं पातुं वाञ्छा पुनरपरथैवेयमपरा
परं धैर्यध्वंसं समवदधती नोपरमति ॥ १४ ॥

विदूषकः—भो वअस्स रमणिज्जं खु एअं गंगातीरुज्जाणं जाव दक्खिमो। (भो वयस्य रमणीयं खल्वेतद् गङ्गातीरोद्यानं यावत्पश्याम ।)

राजा—यद्भवते रोचते ।

विदूषकः—इदो इदो (परिक्रामतः) भो वअस्स दक्ख दाव गंगातीरुज्जाणस्स रामणिज्जअं । एत्थ हु । मज्झणिरन्तरणिबद्धमहाणीलमणिविडतरुतिविसेसा जम्बूणअमणिणालवा विअ तुम्मंति अलिभमरखुरा आरेवदणिहेहिं फुल्लमंजरीओ। णिअसंति णिम्मलरूप्पच्छविधवलजलदलाइ तवणिज्जचुण्णसारिच्छारुणकेसरकराइ विद्दुमखण्डविलोहिअवट्टुलकणिआआइ पुण्णाइपुप्फाइ । दीसंति थोरमुत्ताहलफलिहधवलाइ णिम्महिअबहलमअरन्दघणुग्गाइ तक्खणचोडुविअलिआइ महुअकुसुमाइ । सोहंति रत्तिअजणहिअडकनअणसकतबहलबहिरकद्दमसरसिअआइ उद्दाममअरन्दअसद्दलणाहरङ्कुराइ विअ बाहिरफुडगंठिविअडणसोणिमाइ किंसुअकुसमाइ । अह हि । ओत्ताणपुडइणीगदआइ बहुमनरिल्लसहआरआइ, कुसुमभरमरिअमेहालिआइ, भूरिविअसतमालिआइ, बवअसअणिविडकदेलिआइ, णिअलतासवविसरोल्लिआइ, मड-

निपीतो—उस सघन बरौनावाले नेत्रों से युक्त सुलोचना का अधरबिम्ब कौतुक-रस के प्रसङ्ग से विकसित नेत्रों के द्वारा पहले पिया गया है—देखा गया है अब उसे अन्य प्रकार से पान करने की यह दूसरी इच्छा—चुम्बन करने की अभिलाषा धैर्य का भारी विघात करती हुई क्यों शान्त नहीं हो रही है ? ॥ १४ ॥

विदूषक—हे मित्र ! यह गङ्गातट का उद्यान सचमुच ही सुन्दर है, इसे देखें ।

राजा—जो आपके लिये अच्छा लगे ।

विदूषक—यहाँ, यहाँ से आइये (दोनों घूमते हैं) हे मित्र ! गङ्गातीर के

ल्लग्गममणोहरमल्लिआइ, उप्फुल्लसुरहिबहुवल्लिआइ, णिवडंतकुसुमरअधूसराइ, मलआणिलचंचेल्लिअकेसराइ, सव्वंगसुरहिणवमरुवआइ, णवगुच्छगुंठिअकुरवआइ, झंकारमुहुरिंदिराइ, सुहसीअलमाहइमंदिराइ, महुसीअरिल्लसिसिरवउलाइ, दंसिदवसंतणवविभमाइ, सम्माणिअपवणपरिब्भमाइ, एण्हि हरंति जुवजणमणाइ गंगाअडपेरंतवणाइ। पच्छ पच्छ इह अ सुहविणादए किअमअणोदए सुरणईतीरवणोअए णं सहअरिसहिओ सुरअण सुहिओ बुड्डइ-रइरससाअरे। (इत इतः।) भो वयस्य पश्य तावत् गंगातीरोद्यानस्य रामणीयकं, अत्र हि मध्यनिरंतरनिबद्धमहानीलमणिविगलत्कांतिविशेषाः जाबूनदमणिप्रालंबा इव उह्यंते आलीनभ्रमरकर्बुरा आरेवतविटपैः फुल्लमंजर्यः। विकसंति निर्मलरूप्यच्छविधवलोज्ज्वलदलानि तपनीयचूर्णसदृक्षारुणकेसरोत्कराणि विद्रुमखंडविलोहितवर्तुलकर्णिकानि पुन्नागपुष्पाणि। दृश्यन्ते स्थूलमुक्ताफलस्फटिकधवलानि निर्मथितबहलमदिरोद्गंधबंधुराणि तत्क्षणवृंतविगलितानि मधूककुसुमानि। शोभंते खंडितजनहृदयोत्खंडनसंक्रांतबहलरुधिरकर्दमरसरंजितानि उद्दाममकरध्वजशार्दूलनखांकुराणीव बहिस्फुटग्रंथिविघटनघनशोणिमानि

उद्यान की सुन्दरता तो देखो। यहाँ आरेवत—वृक्ष की शाखाओं के द्वारा सब ओर से बैठे हुए भ्रमरों से चित्रित फूलों की जो मञ्जरियाँ धारण की जा रही हैं वे बीच-बीच में निरन्तर जड़े हुए महानीलमणियों की निकलती हुई कान्ति विशेष से युक्त श्रेष्ठ सुवर्ण के फन्नूसों के समान जान पड़ते हैं। जिनके सफेद उज्ज्वल दल निर्मल चांदी के समान कान्ति से युक्त हैं, जिनमें सुवर्णचूर्ण के समान लाल-लाल केसर का समूह भरा हुआ है तथा जिनकी कर्णिकाएँ मूंगे के खण्ड के समान लाल तथा गोल हैं ऐसे नागकेशर के पुष्प खिल रहे हैं। जो बड़े बड़े मोतियों तथा स्फटिक के समान सफेद हैं, जो मथी हुई मदिरा की बहुत भारी गन्ध से युक्त है, तथा अभी हाल बोंड़ियों से टूट कर नीचे पड़े हैं ऐसे महुए के फूल दिखाई दे रहे हैं। बाहरी गांठ के खिल जाने से जिनकी लालिमा अधिक बढ़ रही है ऐसे पलाश के फूल कामदेवरूपी उत्कट सिंह के उन नखाङ्कुरोंके समान सुशोभित हो रहे हैं जो विरही मनुष्यों के हृदय के खण्डन करने से निकले बहुत भारी खूनरूपी कीचड़ के रङ्ग से रंगे हुए हैं। साथ ही जो खिली हुई कमलिनियों से सुशोभित हैं,

किंशुककुसुमानि। अथ च। उद्यानपुटकिनीराजितानि बहुमञ्जरीवत्सहकारकाणि कुसुममरभरितशेफालिकानि मुविकसन्नवमालिकानि स्तवकशतनिबिडकंकेलिकानि विगलदासवविसरार्द्रितानि मुकुलोद्गममनोहरमल्लिकानि उत्फुल्लसुरभिबहुवल्लिकानि निपतत्कुसुमरजोधूसराणि मलयानिलचाचल्यमानकेसराणि सर्वांगसुरभिनव्यमरुवकाणि नवगुच्छगुम्फितकुरवकाणि झंकारमुखरेंदिराणि सुखशीतलमाधवीमंदिराणि मधुशीकरवत् शिशिरवकुलानि मधुरनिनदस्मरभृतकुलानि दर्शितवसन्तनवविभ्रमाणि समानितपवनपरिभ्रमाणि, इदानीं हरति युवजनमनांसि गङ्गातटपर्यंतवनानि। पश्य पश्य। इह च युवविनोदे कृतमदनोदये सुरनदीतीरवनोदरे ननु सहचरीसहित सुरजनः सुखित. मज्जति रतिसागरे।)

राजा—(निभर्त्य) वयस्य सम्यगुपलक्षितम्। अत्र हि।

जिनमें सुगन्धित आम के वृक्ष अनेक मञ्जरियों से युक्त हैं, जहाँ हरश्रृङ्गार की लताएँ फूलों के समूह से भरी हुई हैं, जिनमें नवमालिकाएँ अत्यधिक विकसित हो रही हैं, जहा अशोक के वृक्ष सैकड़ों गुच्छों से व्याप्त हैं, जो गिरते हुए, पुष्परस के समूह से गीले हो रहे हैं, जहा मालती की लताएँ बौड़ियों के निकलने से मनोहर दिखाई देती हैं, जिनमें अनेक लताएँ उत्कृष्ट फूलों से सुगन्धित हैं, जो फूलों की पड़ती हुई पराग से धूसर हैं—धूलियुक्त हैं, जहाँ मौलिश्री के वृक्ष मलय वायु से अत्यन्त चञ्चल हो रहे हैं, जहाँ सर्वाङ्ग से सुगन्धित नये नये मरुए लग रहे हैं, जिनमें कुरवक के वृक्ष नये-नये गुच्छों से व्याप्त हैं, जहा भौंरे झंकार से मुखर हो रहे हैं, जहा माधवी लताओं के निकुञ्ज सुखदायक तथा शीतल हैं, जहा मौलिश्री के शीतल वृक्ष मधु के कणों से युक्त हैं, जिनमें कोयलों के समूह मधुर शब्द कर रहे हैं, जो वसन्त की नई-नई शोभा दिखला रहे हैं और जिनमें सुन्दर वायु का सचार हो रहा है ऐसे ये गङ्गातट के निकटवर्ती वन इस समय तरुण जनों के मनको हर रहे हैं। देखो देखो, यहाँ सुखदायक विनोद से युक्त तथा काम के उदय को करने वाले गङ्गातट के वन के मध्य में अपनी वल्लभाओं से सहित देव लोग सुखी होते हुए रतिरूप सागर म निमग्न हो रहे हैं।

राजा—(देखकर) मित्र! ठीक देखा। यहां—

चूषंश्चूतांकुराग्रं क्षणमथ कलिकाः पाटयन् पाटलीना-
मास्कंदन् कुन्दकोशं झटिति विघटयन् कुड्मलं कारहाटम् ।
भिंदन् मंदारबद्धं मुकुलमविकचं चंपकानां च चुम्बन्
पुष्पादभ्येति पुष्पं मधुकरनिकरः प्राप्तहर्षप्रकर्षः ॥ १५ ॥

अपि च । अयं च खलु मतंगजमदामोदसंवादिसुरभिसुमनाच्छादयति सप्तच्छदो गंधांतरग्रहणशक्तिं घ्राणपुटस्य । अयं च धौतकलधौतगोलककमनीयानि सकौतुककामिनीजनाग्रहस्तग्रहणलीलार्हाणि बिभर्ति महार्हाणि फलानि जंबीरः । इमानि च स्निग्धहरितानि लुंटयति बिंबोष्ठानां प्रकोष्ठकांतिं पुण्ड्रेक्षुकांडानि । अयं च तरुणकामिनीकर्णपूरकरणयोग्यानि वहति प्रवालपाटलानि प्रवालान्यशोकः । अमूनि च द्रविडविलासिनीताटंकरचनोचितानि शुकच्छदच्छविं हरंति हरंति विलोचनानि नालिकेरपत्राणि । इयं च तुलित-

---

चूषं—भ्रमरों का समूह क्षणभर आम्र-मञ्जरियों के अग्रभाग को चूसता है तो उसके बाद ही गुलाब की कलियों को विदीर्ण करने लगता है, फिर कुन्द की बोंडी पर झपटता है, पुनः शीघ्र ही करहाट की बोंडी को खोलने लगता है, कभी मन्दार वृक्ष में लगी बोंडी को खोलता है, और कभी चम्पा की अविकसित बोंडी का चुम्बन करता है—इस प्रकार हर्ष की अधिकता को प्राप्त होता हुआ एक फूल से दूसरे फूल के सम्मुख जा रहा है ॥ १५ ॥

और भी जिसके फूल हाथी के मद की सुगन्धि से मिलती-जुलती सुगन्धि से युक्त हैं ऐसा यह सप्तपर्ण का वृक्ष नासिकापुट की अन्य गन्ध को ग्रहण करने की शक्ति को आच्छादित कर रहा है। यह जिमरिया का वृक्ष धुले हुए सुवर्ण के गोलों के समान सुन्दर तथा कौतुकयुक्त स्त्रियों की हथेलियों से ग्रहण करने के योग्य अत्यन्त श्रेष्ठ फलों को धारण कर रहा है। ये चिकने हरे पौंड़े तथा ईख के दण्ड बिम्बीफल के समान लाल-लाल ओंठो वाली स्त्रियों की कलाई की कान्ति को लूट रहे हैं। यह अशोक तरुणस्त्रियों के कर्णाभरण बनाने के योग्य मूङ्गा के समान गुलाबी किसलयों को धारण कर रहा है। ये, द्रविड देश की स्त्रियों के कर्णाभरण बनाने में काम आनेवाले एवं तोता के पङ्खों की छवि को हरते हुए नारियल के पत्ते नेत्रों का हर रहे

विदर्भकामिनीपिनोरुस्तम्भविभ्रमा स्तम्भयति चेतांसि रावरभा। (अन्यतो ऽवलोक्य निर्वर्ण्य च)

> हृद्यामग्रानुधावत्यधरदलरुचा रञ्जिता दन्तपङ्क्तिं
> गौडीनां प्रौढपाकक्रमपरिदलितैः स्वैः फलैरुच्छ्रिलिंग ।
> निष्टप्तस्वर्णवर्णच्छविभिरवहितघ्राणलेह्यगन्धैः
> काश्मारीगण्डशोभां कवलयति फलैर्निर्मलैर्मातुलिङ्गः ॥ १६ ॥

(अन्यतो दृष्ट्वा) इतश्च ।

> रमयति हरिद्वृन्तोद्भिद्वैर्विलूयविकासितै-
> रलकरचना चोलस्त्रीणां मुखेञ्चयतानितैः ।
> अनतिजरठै पुष्पैर्यषां जपाकुसुमारुणै-
> र्विधुरमुकुलान् बन्धूकांस्तान्मनो बहु मन्यते ॥ १७॥

हैं और यह विदर्भ देश की स्त्रियों के मोटे मोटे जंघा स्तम्भों की शोभा की—तुलना करने वाली कदली नेत्रों को रोक रही है। (दूसरी ओर देखकर तथा वर्णन कर)

हृद्या—इधर यह अनार अत्यधिक पक जाने के कारण फटे हुए अपने फलों से गौड़ देश की स्त्रियों के अधरोष्ठ की कान्ति से रंगी सुन्दर दन्तपंक्ति का अनुकरण कर रहा है और यह बिजौरा का वृक्ष तपाये हुए सुवर्ण के समान कान्ति से युक्त तथा एकाग्र नासिका से सूँघने के योग्य गन्ध से सुशोभित निर्मल फलों से काश्मीर देश की स्त्रियों के गालों की शोभा को ग्रस्त कर रहा है ॥ १६ ॥

(दूसरी ओर देखकर) और इधर—

रमयति—हरी हरी डोड़ियों से युक्त, तोड़कर खिलाये, मुखों पर लटकाये और जासौन के फूल के समान लाल लाल जिनके ताजे फूलों को चोल देश की स्त्रियों की केशरचना अधिक आनन्द देती है। उन खिले हुए बन्धूक—दुपहरिया के पौधों को मन बहुत अच्छा मान रहा है ॥ १७ ॥

इतश्च।

असौ शिरीषः कुसुमानि धत्ते
सुलोचनाबाहुलतामृदूनि ।
प्रियाकपोलच्छुरणार्चनीयै-
र्विभाति लोध्रः सुमनःपरागैः ॥ १८ ॥

(स्पर्शं रूपयित्वा) अहो मनोज्ञकं मंदाकिनीतीरोद्यानमारुतस्य।

अत्र हि।

वर्षंतः प्रविकासिकेसररजश्चूर्णान्मधुश्च्योतिनः
कर्षंतः कलकंठकंठकुहराच्चूतासवार्द्रा गिरः ।
सद्यः खंडितमानिनीहृदयगान् मंदानिलाश्चंदना-
नालेपान् परिशोषयंति न परं धैर्यावलेपानपि ॥ १९ ॥

विदूषकः—वअस्स इदो दक्खिअदु मंदाइणि। (वयस्य इतः पश्यतु मंदाकिनीम्।)

इधर—

असौ—यह शिरीष का वृक्ष सुलोचना की भुजलता के समान कोमल फूलों को धारण कर रहा है और इधर यह लोध का वृक्ष प्रिया के कपोलों पर लगाने से प्रसंसनीय फूलों की पराग से सुशोभित हो रहा है ॥ १८ ॥

(स्पर्श का अभिनय कर) अहा, गङ्गातट के उद्यान-सम्बन्धी वायु की बड़ी मनोज्ञता है—गंगा के तटोद्यान की वायु बहुत सुन्दर है।

सचमुच ही यहाँ—

वर्षन्तः—जो खिले हुए मौलश्री के फूलों की रजरूपी चूर्ण की वर्षा कर रही है, जिनसे मधु चू रहा है, और जो कोयलों के कण्ठरूपी कन्दरा से आम के आसव से आर्द्र ध्वनि को खींच रही है ऐसी मन्द-मन्द वायु, खण्डिताओं—पति के द्वारा उपेक्षित मानवती स्त्रियों के हृदय पर लगे चन्दन के लेप को ही शीघ्रता से नहीं समाप्त कर रही है किन्तु उनके धैर्य के अहंकार को भी समाप्त कर रही है ॥ १९ ॥

विदूषक—मित्र! इधर गङ्गा को देखिये।

राजा—(विलोक्य निर्वर्ण्य च) इयं खलु मदोद्धुरोद्दाममल्लिकाक्षरव-विहङ्गक्षोभणप्रसरदरविन्दमकरन्दकदम्बसान्द्रशालिनी सलीलविलोठमानपाठीन-परिपाटीजटिलकल्लोला कलकणितानुमीयमानेन्दिन्दिरवृन्ददोलितेन्दीवरवना विहारकेलीकलहायमानकोकनिनदमुखरितविकचकोकनदकुटीरकोटरा सकौतुक-मरालारटनानुसरणसंभ्रान्तकलहंसकुलसङ्कुलोत्फुल्लपुण्डरीकखण्डा चटुलखञ्जरीटकुटिलपदपङ्क्तिचित्रितपर्यन्तसैकततला प्रसादतुलितनिर्मलस्फाटिकतटा विकटितसौगन्धिकगन्धसम्बन्धबन्धुरितगन्धवाहा नन्दयति नयनानि मन्दाकिनी । तथाहि ।

> वासयन्ति मुहुरत्र मूर्च्छिता
> सौरभेण युगपत्समीरणम् ।
> स्यन्दमानमकरन्दमेदुरा-
> ण्युत्पलानि च महोत्पलानि च ॥ २० ॥

राजा—(देखकर तथा वर्णन कर) सचमुच ही जिसका पानी मद के अत्यधिक भार से उत्कट हंस विशेषों के पङ्खों की फड़फड़ाहट-सम्बन्धी क्षोभ के कारण झरते हुए कमलों के मकरन्द सम्बन्धी प्रसार से अत्यधिक व्याप्त हो रहा है, लीला-सहित लोटती हुई मछलियों की परम्परा से जिसमें बड़ी-बड़ी लहरें उठ रही हैं, जिसके खिले हुए नील कमलों के घन मधुर गुञ्जन से अनुमान में आनेवाले भ्रमरों के समूह से हिल रहे हैं, जिसमें लाल कमल रूपी कुटियों का मध्य भाग विहार के समय क्रीड़ा से कलह करनेवाले चकवों के शब्द से शब्दायमान हो रहा है, जिसके फूले हुए सफेद कमलों के समूह कौतुकयुक्त हंसियों के शब्द का अनुसरण करने से भ्रान्ति में पड़े हुए कल-हंसों—राजहंसों के समूह से व्याप्त हैं, जिसके समीपवर्ती रेतीले प्रदेश, चञ्चल खञ्जन पक्षियों की टेढ़ी पदपंक्तियों से चित्रित हैं, जो अपनी स्वच्छता से निर्मल स्फटिक से निर्मित तट की तुलना कर रही है और जिसमें खिले हुए सफेद कमलों की गन्ध के सम्बन्ध से मनोहर वायु बह रही है—ऐसी यह गङ्गा नेत्रों को आनन्दित करती है । जैसे—

वासयन्ति—यहाँ झरते हुए मकरन्द से व्याप्त नील कमल और सामान्य कमल फैलती हुई अपनी सुगन्धि से एक ही साथ वायु को बार-बार सुवासित कर रहे हैं—सुगन्धित बना रहे हैं ॥ २० ॥

अपि च—

क्वचिज्जंबूकुञ्जप्रतिहतिपरावर्तितजवः
क्वचिद् वृत्तावर्तभ्रमवशपरिभ्रांतसलिलः।
क्वचिद्रोधःपातद्रुतविघटमानोर्मिनिवहः
प्रवाहो जाह्नव्याः प्रथयति गभीरं कलकलम् ॥ २१ ॥

इतश्च।

विसृत्य लहरीजलं नभसि दूरमत्रोत्थिता
विवर्तितनिशातशुभ्रकरवालधारोज्ज्वलाः।
झपाश्चटुलचंक्रमास्सपदि मीनकेतोरपि
स्फुरंत इव केतवः किमपि कौतुकं तन्वते ॥ २२ ॥

विदूषकः—(निर्वर्ण्य) भो वअस्स दक्ख दाव इदो पाडिवचंदकोडि-कुडिलविअडदाडाकरालमुहकुहरा समुत्तंभिदकक्कसहत्था दीसंति तरंता विअ

और भी

क्वचित्—कहीं जामुनों की झाड़ी की रुकावट से जिसका वेग विपरीत लौट रहा है, कहीं गोल भँवर में पड़ जाने से जिसका पानी चारों ओर घूम रहा है, और कहीं गल-गल कर किनारों के पड़ने से जिसमें बड़ी बड़ी लहरों का समूह उठ रहा है ऐसा गंगा का प्रवाह अत्यधिक कलकल कर रहा है ॥ २१ ॥

और इधर

विसृत्य—जो लहरों के जल को फैलाकर आकाश में दूरतक उछल रहे हैं, जो घुमाई हुई पैनी सफेद तलवार की धार के समान उज्ज्वल हैं, जिनकी चाल बहुत चञ्चल है तथा जो कामदेव की तत्काल फहराई हुई पताकाओं के समान सुशोभित हैं ऐसे मच्छ अनिर्वचनीय कौतूहल को विस्तृत करते हैं ॥ २२ ॥

विदूषक—(देखकर) मित्र ! इधर देखिये, जिनकी मुख-कन्दराएँ पड़िवा के चन्द्रमा की कोटि के समान टेढ़ी बड़ी-बड़ी डाढ़ों से भयंकर

दोधटा भअरलाइज्जतसअन्जलअरणिअरा मअरा। इदो अ भमलरमसमाअंतजलविहगपरिहरिच्चतपरिसरा दीहअरपरुसक्कदगम्भिणा दवि सोहित्य णिरतरममंतसलिलऊरा तालूरा। इदो अ मज्जणागअजणावतरणदूरोसारिअसेवाला णिम्मूलिअजवाला पसादपअडपडिच्छदिअतीरतरुणिअरा सज्जिदा विअ दप्पणा, जणहव्विए हरति हिअआइ विसत्थविहरतपाढीणडिंभजूधा तित्था। इदो अ मन्दवायतमदाइणीरवणडुज्जतपेरता णुम्भवमहुरसारसणिणादमणहरा अक्खिवति लोअणाइ णिअडावगाढगआगअवाउडिविसिरतरंगआ तडकडुहुआ।

(भो वयस्य पश्य तावदित प्रतिरच्चन्द्रकोटिकुटिलविकटदंष्ट्राकरालमुखकुहरा समुत्तभितकर्कशहस्ता दृश्यते तरत इव द्विपटा (गजा) भयपलायितसकलजलचरनिकरा मकरा.। इतश्च भ्रमणरमसविम्यज्जलविहगपरिहियमाणपरिसरा दीर्घतरपरुपाक्रदगमिताः ददति सौहित्य निरतरभ्रमत्सलिलपूरा तटा। इतश्च। मज्जनोत्सुकजनावतरणदूरोत्सारितशैवाला निर्मूलितजवाला प्रसादप्रकटप्रतिच्छादिततीरतरुनिकरा सज्जिता इव दर्पणा,जाह्नव्याः हरन्ति हृदयानि विसब्धविहरत्पाठीनडिम्भयूथा तीर्था।

हैं, जिन्होंने कठोर हाथ ऊपर की ओर उठा रक्खे हैं तथा जिनके भय से समस्त जलचर जीवों का समूह भाग गया है—ऐसे ये मगर तैरते हुए हाथियों के समान दिखाई दे रहे हैं।

इधर, भ्रमण-सम्बन्धी वेग से भयभीत जलपक्षियों ने जिनके समीप का प्रदेश छोड़ दिया है, जो अत्यधिक कठोर शब्द से युक्त हैं, तथा जिनमें पानी का पूर निरन्तर घूमता रहता है—ऐसे ये तट सतोष प्रदान कर रहे हैं।

इधर, स्नान के लिये आये हुए मनुष्यों ने उतर कर जिनके शैवाल को दूर हटा दिया है, जिनके नवाल को उखाड़कर अलग कर दिया है, स्वच्छता के कारण जिनमें तट के वृक्षों का समूह प्रतिबिम्बित हो रहा है, जो सजे हुए दर्पण के समान जान पड़ते हैं तथा जिनमें मछलियों के बच्चों के झुण्ड निश्चिन्तता से घूम रहे हैं ऐसे ये गंगा के घाट हृदय को हर रहे हैं।

इतश्च मंदवहन्मन्दाकिनीपवनधूयमानपर्यंताः श्रूयमाणमधुरसारसनिनदमनोहराश्चाक्षिपंति लोचनानि निकटावकाशगतागतव्यापृतशिशिरतरङ्गाः तटकुंजाः ।)

राजा—(विलोक्य निर्वर्ण्य च) अहो स्पृहणीयता जाह्नव्याः ।

अत्र हि ।

तरंगप्रेंखोलव्यतिकरपरावर्तितदलं
दृशौ सारंगाक्ष्यास्तुलयति विलोलं कुवलयम् ।
स्तनौ तस्याः कार्तस्वरकलशसौभाग्यजयिनौ
स्मरक्रीडादोलौ स्मरयतितरां काकमिथुनम् ॥ २३ ॥

(सविशेषोत्कंठम्)

यच्चक्रीकरणं करेण सदयं यद्वा नखोल्लेखनं
गण्डाभ्यामुपगूहनं यदसकृद्वक्त्रेण यत्पीडनम् ।
आघ्राणं कुचयोर्यदुत्पुलकयोर्यच्चार्पणं नेत्रयो-

और इधर मन्द-मन्द बहती हुई गंगा की पवन से जिनके समीपवर्ती प्रदेश कम्पित हो रहे हैं, जो सुनाई पड़नेवाली सारसों की मधुर वाणी से मनोहर हैं तथा जिनके निकटवर्ती खाली स्थानों में ठण्डी-ठण्डी लहरें आने जाने में व्यापृत हैं—ऐसे ये तट के लतागृह नेत्रों को आकृष्ट कर रहे हैं ।

राजा—(देखकर तथा वर्णन कर) अहा, गंगा की बड़ी सुन्दरता है । सचमुच ही यहाँ—

तरङ्ग—लहरों की हलचल से जिसकी कली उलट गई है ऐसा हिलता हुआ नील कमल मृगनयनी सुलोचना की दृष्टि की तुलना कर रहा है तथा चकवा-चकवी का जोड़ा सुवर्ण-कलश की शोभा को जीतनेवाले एवं कामक्रीड़ा से हिलते हुए उसके स्तनों का स्मरण करा रहा है ॥ २३ ॥

(अत्यधिक उत्कण्ठा के साथ)

यच्चक्री—रोमाञ्चित स्तनों को हाथ से दबाकर चपटा करना, अथवा दयापूर्वक नखों से आघात करना, गालों से आलिङ्गन करना, बार-बार मुख

यद्वा चूचुकचुम्बन व्रजतु तद् द्रष्टुं च तां नाप्नुम ॥ २४ ॥

विदूषकः—वअस्स अत्थि तिस्सा दसणोवाओ । (वयस्य अस्ति तस्या दर्शनोपाय ।)

राजा—वयस्य कथमिव ।

विदूषक —भणिद खु अम्हाण सोविदल्लेण लल्लेण, आगमिस्सिदि सोह-ग्गमज्जणत्थ एत्थ कासीराअउत्तित्ति । (भणित खल्वस्माक सौविदल्लेन लल्लेन । आगमिष्यति सौभाग्यमज्जनार्थमत्र काशीराजपुत्रीति ।)

राजा—तदपि द्रक्ष्यामः ।

(निर्वर्णयन्तौ परिक्रामत.)

(ततः प्रविशति सुलोचना नवमालिका चेटी च)

नवमालिका—पिअसहि जाव मज्जणवेला ताव एत्थ गगातीरुज्जाणे दिट्ठिओ विणोदस्सम्ह । (प्रियसखि यावन्मज्जनवेला तावदत्र गगातीरोद्याने दृष्टिं विनोदयिष्याम ।)

से पीडित करना, सूँघना, नेत्रों मे लगाना अथवा उसके अग्रभाग का जो चुम्बन करना है वह तो दूर रहा हम तो उसे देखने के लिये भी नहीं पा रहे हैं ॥ २४ ॥

विदूषक—मित्र ! उसके देखने का उपाय है ।

राजा—मित्र ! किस तरह ?

विदूषक—हमसे लाला सौविदल्ल (कञ्चुकी) ने कहा था कि सौभाग्य-स्नान के लिये यहाँ काशीराज की पुत्री आवेगी ।

राजा—वह भी देखेंगे ।

(देखते हुए दोनों घूमते हैं)

(तदनन्तर सुलोचना, नवमालिका और दासी प्रवेश करती है)

नवमालिका—प्रियसखि ! जब तक स्नान का समय होता है तबतक यहाँ गगातट के उद्यान में दृष्टि को बहलावें ।

सुलोचना—जह पिअसहि भणादि। (यथा प्रियसखी भणति।)

नवमालिका—इद इदो पिअसहि। (इतः इतः प्रियसखि।)

(सर्वाः परिक्रामंति)

चेटी—(निर्वर्ण्य) अहो इमस्स णिरंतरप्फुल्लसराअकुसुमदाए रत्तकंवलोगुंठिदेहिं पिव पालिभद्दुमेहिं णिरंतरप्फुलदाए कणंतकणअपच्छदसंछण्णेहिं पिव कंचणकोविआरपाअवेहिं णिब्भरविअसिअकसणगुच्छदाए इंदणीलमणिकिरणसंवलिदेहिं पिव तापिच्छेहिं णिविडविहडिअसामलमउलदाए णिम्मलमरगअमोहवलइदेहिं पिव सरिसएहिं घणपिणद्धधवलमंजरीसहस्सदाए आमुत्तमोत्तिअणिअरगुच्छेहिं पिव विअसिअसिंधुवारेहिं दंसिदेण पंचवण्णअकुसुमविच्छुएण सज्जीवकरंत विअ पंचवाणाइ सुहविहारजोगसमग्गपुलिणसोहिअस्स पत्तलवहलकेअइवइवेत्थिअस्स रमणिज्जदा गंगातीरुज्जाणस्स। (अहो अस्य निरंतरोत्फुल्लसरागकुसुमतया रत्नकंबलावगुंठितैरिव। पारिभद्रद्रुमैः निरंतरोत्फुल्लपीतफुल्लतया कनत्कनकप्रच्छदसंछन्नैरिव कांचनकोविदारपादपैः निर्भरविकसितकृष्णगुच्छतया इन्द्रनीलमणिकिरणसंवलितैरिव तापिच्छैर्निविडविघटितश्यामलमुकुलतया निर्मलमरकत-

---

सुलोचना—जैसा प्रियसखी कहें।

नवमालिका—इधर-इधर से आइये प्रियसखि !

(सब घूमती हैं)

चेटी—(देखकर) अहा, पतीली एवं सघन केतकी की बाड़ी से घिरे हुए इस गंगातट के उद्यान की अनुपम सुन्दरता है। यहां कहीं तो निरन्तर फले हुये लाल-लाल फूलों से युक्त होने के कारण पारिभद्र के वृक्ष ऐसे जान पड़ते हैं मानों उन्हें लाल कम्बलों से ही ढक दिया हो। कहीं निरन्तर फूले हुए पीले-पीले फूलों से युक्त होने के कारण कचनार के वृक्ष ऐसे जान पड़ते हैं मानों उन्हें देदीप्यमान सुवर्ण की चद्दर से ही ढक दिया हो। कहीं अत्यन्त खिले हुए काले-काले गुच्छों से युक्त होने के कारण तमाल के वृक्ष ऐसे जान पड़ते हैं मानों वे इन्द्रनीलमणि की किरणों से ही व्याप्त हो रहे हों। कहीं अत्यन्त खिली हुई श्यामल बोड़ियों से सहित होने के कारण शिरीष

मयूखवलयितैरिव शिरीषै घनपिनद्धधवलमञ्जरीसहस्रतया आमुक्तमौक्तिकनिकरगुच्छैरिव विकसितसिन्दुवारै दर्शितेन पञ्चवर्णकुसुमविच्छेदेन सज्जीकुर्वत इव पञ्चबाणान् सुखविहारयोग्यसमग्रपुलिनशोभिनस्य पत्रिलबहलकेतकीवृतिवेष्टितस्य रमणीयता गङ्गातीरोद्यानस्य।)

नवमालिका—(पुरो निर्दिश्य) रमणीअं खु एअं सुहसिसिरच्छाअं पिअंगुपाअवमूलं जाव एत्थ मुहुत्तअं उवविसह्म। (रमणीयं खल्वेतत् सुखशिशिरच्छायं प्रियंगुपादपमूलं यावदत्र मुहूर्तमुपविशाम।)

सुलोचना—जं पिअसहिए रोएदि। (यत् प्रियसख्यै रोचते।)

(सर्वा उपविशन्ति)

नवमालिका—हला सरलिए जाणाहि दाव महत्तरिआहिं किरतस्स केरसी पउत्ति मज्जणसविहाणस्सत्ति। (हला सरलिके जानीहि तावन्महत्तरिकाभिः क्रियमाणस्य कीदृशी प्रवृत्तिः मज्जनसविधानस्येति।)

के वृक्ष ऐसे जान पड़ते हैं मानों निर्मल मरकत मणि की किरणों से घिर रहे हैं। और कहीं सफेद-सफेद हजारों मञ्जरियों से अत्यधिक व्याप्त होने के कारण खिले हुए सिन्धुवार के वृक्ष ऐसे जान पड़ते हैं मानो मोतियों के गुच्छों को ही धारण कर रहे हो। इन वृक्षों के द्वारा दिखलाये हुए पाच रंग के फूलों के समूह से ऐसा जान पड़ता है मानो यह उद्यान काम के पाच बाणों को सजाकर तैयार कर रहा हो। यह उद्यान सुखपूर्वक विहार करने के योग्य समस्त उन्नत प्रदेशों से सुशोभित है।

नवमालिका—(आगे देखकर) यह प्रियंगु वृक्ष का तल सुखदायक शीतल छाया से युक्त तथा अत्यन्त सुन्दर है। तब तक थोड़ी देर यहाँ बैठें।

सुलोचना—जो प्रिय सखी को अच्छा लगे।

(सब बैठ जाती हैं)

नवमालिका—अरी सरलिका! महत्तरिकाओं के द्वारा की जानेवाली स्नान की तैयारी का क्या हाल है? जरा मालूम तो कर।

चेटी—जं पिअसही भणादि। (यत् प्रियसखी भणति।)

(उत्थाय निष्क्रांता)

सुलोचना—(आत्मगतं) कहं रमणिज्जोवि एस उद्देसो तद्दंसणादो पहुदि उम्मणाअन्तस्स ण देइ णिउदइं हिअअस्स जदो दीसंतावि एत्थ उप्फुल्लमंजरीपुंजगुंजितमहुअरा इमे सहआरा सुमरावेंति तं चेअ तेण जणेण अलंकियपासं सहआरपाअवं। वाअंतावि एदे सरअसहआरपराअसुराअसुरहिणो गंधवाहिणो सुमरावेंति तं चेअ तज्जणसरीरपस्समहग्घविदं समीरणं। इमस्सिं च तं चेअ जणं धारअन्ति ण किंपि अण्णं लग्गदि चरिदावआसे हिअए। इमाइं अ तद्दंसणसुहदुल्ललिआइ लोअणाइ उम्मिसंतावि ण पेक्खंति अत्थंतरं। इअं अ तदो पहुदि किंपि किंपि सुत्तअंती ण पारेदि इदो मुहुत्तं मुहु—(कथं रमणीयोपि एष उद्देशः तद्दर्शनात्प्रभृति उन्मनायमानस्य न दधाति निर्वृतिं हृदयस्य यतो दृश्यमाना अप्यत्र उत्फुल्लमंजरीपुञ्जगुञ्जन्मधुकरा इमे सहकाराः स्मारयन्ति तमेव तेन जनेनालंकृतपार्श्वं सहकारपादपम्। वांतोपि एते सरलसहकारपरागसुरागसुरभयो गन्धवाहाः स्मारयन्ति तमेव तज्जनशरीरस्पर्शमहार्घितं समीरणम्। अस्मिश्च तमेव जनं धारयति न किमप्यन्यद्लगति चरितावकाशे हृदये। इमे च तद्दर्शनसुखदुर्ललिते लोचने

चेटी—जो प्रियसखी कहें।

(उठकर चली जाती है)

सुलोचना—(अपने मन में विचार करती है)

यह स्थान सुन्दर होने पर भी उनके दर्शन के समय से बेचैन होते हुए हृदय के लिए संतोष क्यों नहीं दे रहा है? क्योंकि जिनकी फूली हुई मञ्जरियों के समूह पर भौंरे गुंजार कर रहे हैं ऐसे ये दिखाई देते हुए आम के वृक्ष उन्हीं के द्वारा अलंकृत समीप प्रदेशवाले आम का स्मरण करा रहे हैं। देवदारु और आम की सुन्दर सुगन्धि से युक्त यह बहती हुई वायु उन्हीं के शरीर के स्पर्श-सम्मानित वायु का स्मरण करा रही है। हमारा यह हृदय एक उन्हीं को धारण कर रहा है अतः अवकाश से रहित होने के कारण ही मानो इसमें और कोई वस्तु स्थान नहीं पा रही—हृदय को ओर

उन्मिषती अपि न पश्यतोऽर्थान्तरम्। इयं च तत प्रभृति किमपि किमपि सूचयन्ती न पारयति इतो मुहूर्तं सुहु)—

वाहुदिदुव्वदीकदव्व तेण जणेण चिंतावराई। अह अ अत्यदो एसा णिसग्गवला चिंता। अह चेअ खु तेण तुलग्गामेत्तदसणसुहदाइणा महावाहुणा अभिजाइविरुद्ध करणआण अभिद्दव अगणअंतेण दक्खतरसविलोअणस्स कदम्हि करग्गहेण एकपदेकमरिआ एसो अ तस्स अदिक्कमो जं अह चेअ सअ वरिदुकामा पढमं चेअ तेण णअणाणददाणपुण्णचन्देण उत्फुल्लपुण्डरीअसरिच्छेहिं, णिणित्यपमहलधवलदीहरेहि सअ गुददह्मि चक्खुहिं एसो अमे विवेअमूढो मणोरहो ज सा एव्व होदु सव्वोवि दिअहो। सा एव्व होदु सअलावि वेला, सो एव्व होदु सव्वोवि उद्देसो, सा एव्व होदु सअलावि दिसा। जहिं खणमेत्त दसणसुह आसि। किं उण जइ अण्णाइ वि अलीअलज्जावसणाइ ओहिरदसज्झसहवेगाइ जहिच्छपेच्छणसाहसिआइ दोण्णि लोअणाइ लहेअंति। कोवा तस्स पच्चुवआरो दप्पणस्स, जेण पडिच्छतेण तस्स पडिच्छंदअ दिण्ण मे जहिच्छदसणसुहलोअणाण। (विहृतिदुर्वदीकृतेव तेन जनेन चिंतावराकी। अथ च अर्थत् एषा निसर्गबला चिंता। अहमेव खलु तेन यदच्छामात्रदर्शनसुखदायिना महाबाहुनाभिजातविरुद्ध कन्यानामभिद्रवमगणयता पश्यतोपि लोचनस्य कृतास्मि करग्रहेणैकपदे कमरिका। एष च तस्यातिक्रमो यदहमेव स्वयं वरितुकामा प्रथममेव तेन नयना-

---

कुछ भी नहीं सुहा रहा हैं। उनके दर्शनसम्बन्धी सुख से पूर्ण तृप्त हुए ये नेत्र यद्यपि खुलते हैं तथापि दूसरे पदार्थ को नहीं देख रहे हैं। यह बेचारी चिन्ता उस समय से लेकर कुछ-कुछ सोचती ही रहती है, मुहूर्त भर के लिये भी चुप बैठने के लिये समर्थ नहीं है।

मानों उन्होंने इसे अपने में ही विहार करनेके लिये कैद कर रक्खा है। अथवा सचमुच ही यह चिन्ता स्वभाव से ही बलिष्ट है। स्वेच्छा से दर्शन के सुख को देनेवाले उन महाबाहु ने इस बात की परवाह नहीं की कि कन्याओं को देखना कुल के विरुद्ध है और मैं उनके द्वारा एक साथ अपने नेत्रो की विहारस्थली बना ली गई। यह भी उनकी ज्यादती थी कि स्वयवर करने की इच्छुक मैं स्वय थी परन्तु नेत्रो के लिये पूर्णचन्द्र स्वरूप उन्होंने मुझे पहले ही खिले हुए सफेद कमल के समान

नंददानपूर्णचंद्रेणोत्फुल्लपुंडरीकसदृक्षैः स्निग्धपक्ष्मलधवलदीर्घैः स्वयं वृतास्मि चक्षुर्भिः। एष च मे विवेकमूढो मनोरथो यत् स एव भवतु सर्वोपि दिवसः, सैव भवतु सकलापि वेला, स एव भवतु सर्वोप्युद्देशः, सा एव भवतु सकलापि दिशा यस्मिन् क्षणमात्रे दर्शनसुखमासीत्। किं पुनः यदि अन्ये अपि अलीकलज्जाव्यसने अपहृतसाध्वसवेगे यथेच्छप्रेक्षणसाहसे द्वे लोचने लभेयेति। को वा तस्य प्रत्युपकारो दर्पणस्य येन प्रतीच्छता तस्य प्रतिच्छंदं दत्त मे यथेच्छदर्शनसुखं लोचनयोः।)

अहल खुद्दो खु सो दप्पणो जेण खणंतरि चेअ गोपिअं तस्स पडिच्छंदअं। णिद्दक्खिणो अ सो जणो जेण मुहुत्तमेत्तादो तिरोभवंतेण पडिच्छंदं अदंसणंपि अप्पणो ण सहिदं। अहव अहं चेअ एत्थ अपरज्झामि जा अहं संपुण्ण (दंसण) मेत्तएणापि तं जणं असंभाविअ दक्खंतस्स चेअ तस्स जहपुरं हि णत्थिदा। कहं वा एत्थ अत्तणोपि ण पभवति लज्जेमि जा अहं तद्दंसणारमणिज्जं भूमिं आवत्तिअ पुणो दंसिदुंपि ण लहेमि। सुव्वइ अ मए सजोव्वणस्स जणस्स अहिमदजणादंसणे उक्खंडिदधीरग्गलो उव्वासिदविणअवसणो अवणीदलज्जतिरक्खरणीओ दूसहारंभकक्कसो मअणो णाम कोवि अंतकरणं अक्खिवदिति। तं किर एदं मए दाणिं अणुहविज्जदि जेण मे अवर एव्व अदो पहुदि चिंता। अण्णो एव्व संतावगब्भो मणस्स विआरो इदो अ मे अज्ज पवत्तदि वेलक्ख जं तद्दंसणसमए सम्मुहासीणाए इमाए णोमालिआए तक्खणधीरक्खलणविलक्खो मे भावो लक्खिदो ण वेत्ति।

स्निग्ध बिरौनियों से युक्त सफेद एवं बड़े बड़े नेत्रों से स्वयं वरलिया। मेरा यह विवेकरहित मनोरथ हो रहा है—मैं विवेकरहित होकर सदा यही चाहती हूँ कि जिस समय क्षणभर के लिये उनके दर्शन का सुख प्राप्त हुआ था वही सारा दिन हो, वही समस्त समय हो, वही समस्त स्थान रहे और वही समस्त दिशा हो। क्या ही अच्छा हो यदि मैं ऐसे दो अन्य नेत्र पा जाऊँ कि जो लज्जाजन्य दुःख से रहित हों, जिन्होंने भय का वेग दूर कर दिया हो तथा जिनमें इच्छानुसार देखने का साहस भरा हुआ हो। उस दर्पण का प्रत्युपकार क्या हो सकता है? जिसने उनके प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर मेरे नेत्रों के लिये इच्छानुसार देखने का सुख प्रदान किया था।

(अथवा लुब्धः खलु स दर्पणो येन क्षणान्तर एव गोपितं तस्य प्रतिच्छन्दकम्। निर्दाक्षिण्यश्च स जनो येन मुहूर्तमात्रतिरोभवता प्रतिच्छन्दकदर्शनमपि आत्मनो न सोढम्। अथवा अहमेवात्रापराध्यामि याहसपूर्णदर्शनमात्रेणापि त जनमसमाव्य पश्यत एव तस्य यथापुर हि प्रस्थितवा। कथं वा अत्र आत्मनोपि न प्रभवामि लज्जे च। याह तद्दर्शनरमणीया भूमिमावर्त्य पुनर्द्रष्टुमपि न लभे। श्रूयते च मया सयौवनस्य जनस्याभिमतजनदर्शने उत्खडितधैर्यार्गल उद्घाटितविनयव्यसनोऽपनीतलज्जापतिरस्करणीको दुःखहारम्भकर्कशो मदनो नाम कोपि अत करणमधिक्षिपतीति। तत् किलैतत् मयेदानीमनुभाव्यते येन मे अपरा इव तत. प्रभृतिश्चिंता, अन्य एव सन्तानगर्मो मनसो विकार। इतश्च मे अत्र प्रवर्तते वैलक्ष्य यत्तद्दर्शनसमये समुखासीनया एतया नवमालिकया तत्क्षणधैर्यस्खलनविलक्षो मे भावो लक्षितो न वेति।)

अथवा वह दर्पण सचमुच ही बड़ा लोभी था क्योंकि उसने उनके प्रतिबिम्ब को क्षण भर में ही छिपा लिया था। वे महानुभाव भी बड़े अनुदार थे क्योंकि मुहूर्तमात्र में तिरोहित होते हुए उन्होंने अपने प्रतिबिम्ब का देखना भी सहन नहीं किया। अथवा यहाँ मैं ही अपराधिनी हूँ जो उन महानुभाव को सम्पूर्ण दर्शन मात्र से भी सम्मानित नहीं कर सकी और उनको देखते-देखते पहले की ही भाँति चली गई। क्यो नहीं मैं यहाँ अपने ऊपर भी अपना प्रभाव रख पा रही हूँ! तथा लज्जित हो रही हूँ जो उनके दर्शन से रमणीय भूमि को लौटकर पुन देखने के लिये नहीं पा रही हूं। मैंने सुन रक्खा है कि यौवन सहित मनुष्य को इष्ट जन के दर्शन होनेपर धैर्य के आगल को तोड़ देनेवाला, विनय के व्यसन का दूर कर देनेवाला, लज्जारूपी परदे को हटा देनेवाला, तथा बहुत दु खदायी आरम्भ से कठोर काम नाम का कोई पदार्थ अन्त करण को घर दबाता है। जान पड़ता है इस समय मेरे द्वारा उसी काम का अनुभव किया जा रहा है क्योंकि उस समय से लेकर मुझे एक दूसरी ही चिन्ता हो रही है, और सतान से मिला हुआ मन का दूसरा ही विकार अनुभव में आ रहा है। इस समय मुझे इस बात की लज्जा हो रही है कि उनके देखने के समय सामने बैठी हुई इस नवमालिका ने उस क्षण होनेवाले धैर्य के स्खलन से लजाता हुआ मेरा भाव देख तो नहीं लिया है।

नवमालिका—(विलोक्य) पिअसहि किंवि चिंतअंति विअ लक्खिज्जसि । (प्रियसखि किमपि चिंतयतीव लक्ष्यसे)

सुलोचना—(सवैलक्ष्यं) जइ अत्थि कहं तेण कहइस्स । (यद्यस्ति कथं तेन कथयिष्ये) ।

नवमालिका—ण खु जं चिंतिज्जइ तं कहेदव्वंति णिओओ । जदा खु अवरं पटिवद्धअं णत्थि तदा णं चिंतिज्जंतं कहिज्जइ कण्णाजणस्स उण सुसिणिद्धेवि जणे पडिवद्धदि भावावेदणं णिसग्गसिद्धा लज्जा । ता समद्धिदं मए लज्ज एव्व तुह अंतक्करणं णियुहावेदित्ति । जदो लक्खिज्जदि एव्व सढिलणिस्सहेहं अंगेहिं अदिण्णसेरसभासणेण मुहेण थिमिदजिह्मेहिं अ लोअणेहि अणुवद्धिजंति कावि दुरंता तुह चिंता । हिओ णअरदेवदाजत्तापढिणिअत्ति अदिवेला निस्सा आरंभोत्ति तक्केमि जेण तदो पहुदि अण्णारिसं ते भासिअं, अण्णारिसिअं दिट्ठा, अण्णारिसं अ सरीरअं, अण्णारिसे एव्व तुमंवि लक्खिज्जसि । तदो अ एक्कावि इमा अदीदा जामिणी अत्थं गमअंती विवेअं । अंधराअंती अंतकरणं, अभिदवंती णिद्दासुहं, णिम्मूलअंती धीरं, उम्मीलअंती संतापं, सहीजणस्सवि लज्जाभारेण अणुण्णामिदमुहिए अजाणंतीए कहणिज्जं, अमुणंतीए करणिज्जं कहं कहंपि तुह गदा । (न खलु यच्चिन्त्यते तत्कथयितव्यमिति नियोगो यदा खल्वपरं प्रतिबन्धकं नास्ति तदा ननु चिंतितं कथ्यते, कन्यकाजनस्य पुनः सुस्निग्धेपि जने प्रतिबध्नाति भावावेदनं निसर्गसिद्धा लज्जा । तस्मात् समर्थितं मया लज्जैव तवांतःकरणं निगूहयति इति । यतो लक्ष्यत एव शिथिलनिस्सहैरंगैरदत्तस्वैरभापणेन मुखेन

नवमालिका—(देखकर) प्रियसखि ! कुछ चिन्ता करती हुई सी जान पड़ती हो ।

सुलोचना—(कुछ लज्जा के साथ) यदि चिन्ता है तो किससे कहूँगी ?

नवमालिका—जिसकी चिन्ता की जाय उसे कहना ही चाहिये यह नियम तो नहीं है परन्तु जब कोई वाधक नहीं होता है तब चिन्तित बात कह दी जाती है । चूँकि कन्याओं की स्वभावसिद्ध लज्जा उन्हें अतिशय स्नेही जन के सामने भी अपना अभिप्राय प्रकट करने के लिये रोकती है

यतो लक्ष्यत एव शिथिलनिरुत्साहैरङ्गैरदत्तस्वैरभाषणेन मुखेन स्तिमितजृम्भाभ्यां च लोचनाभ्यामनुबध्यमाना कापि दुरन्ता चिन्ता । ह्यश्च नगरदेवतायात्राप्रभृति अतिवेलस्तस्या आरम्भ इति तर्कयामि । येन तत प्रभृत्यन्यादृश ते भाषितं अन्यादृशी च दृष्टिः अन्यादृशं च शरीरं, अन्यादृश्येव त्वमपि लक्ष्यसे । ततश्चैकापि इयमतीता यामिनी अस्तं गमयन्ती विवेकं अन्धकारयन्ती अन्तःकरणमभिद्रावयन्ती निद्रासुखं निर्मूलयन्ती धैर्यं उन्मीलयन्ती सन्तापं सखीजनस्यापि लज्जाभारेणानुन्नामितमुख्या जानत्या कथनीयमजानत्या करणीयं कथं कथमपि त्वया गमिता ।

सुलोचना—(सवैलक्ष्यं सेर्ष्यं च) किं एदं किंपि हिअए काऊण विअकसेहि । (किमेतत् किमपि हृदये कृत्वा विकत्थसे ।)

नवमालिका—पिअसहि अलं ते भएण जाव सणिहेण बल व खु

इसलिये मैंने समझ लिया कि लज्जा ही तुम्हारे अन्तःकरण को छुपा रही है। तुम्हारे ढीले ढीले निर्बल अङ्गों, स्वच्छन्दतापूर्वक वार्तालाप न करनेवाले मुख और जमुहाइयों से युक्त—अलसाये नेत्रों से स्पष्ट मालूम होता है कि तुम्हें कोई बहुत भारी चिन्ता सता रही है और कल नगरदेवता की यात्रा से लेकर उसका आरम्भ और भी अधिक हो गया है। यही कारण है कि उस समय से तुम्हारी बात अन्य प्रकार की हो गई है, दृष्टि भी अन्य प्रकार की हो गई है, शरीर अन्य प्रकार का हो गया है और तुम स्वयं भी अन्य प्रकार की दिखाई देती हो। तुमने विवेक को अस्त करनेवाली, अन्तःकरण को अन्धकार से युक्त करनेवाली, निद्रा के सुख को दूर भगानेवाली, धैर्य को उखाड़नेवाली और सन्ताप को प्रकट करनेवाली यह एक ही पिछली रात बड़ी कठिनाई से व्यतीत की है। तुम लज्जा के भार से सखियों के सामने भी अपना मुख ऊपर नहीं उठा पा रही हो, तुम कहने योग्य बात को जानती हो पर करने योग्य उपाय को नहीं जानती हो।

सुलोचना—(लज्जा और ईर्ष्या के साथ) क्या यह कुछ भी हृदय में रख कही जा रही हो ?

नवमालिका—प्रिय सखि ! तुम्हें भय करना व्यर्थ है। स्नेह के कारण

तुस्सइ अप्पा ठाणे एव्व ओलग्गा दिट्ठित्ति। महत्तेण भाअधेएण कएण आणं अहिरूवतमो पई लब्भदि। तच्च पुण्णंवि केवलं माणुसोत्ति मुणारु जदो तारिसं उज्जलमहुरं रूवं, तारिसं उदारगहीरं सत्तं, तारिसी अधीरललिदा पइदि ण उत्तमक्खत्तियअदो अण्णस्स संभाविअदि। अह अ। पिअसहि तुह एव्व सअंवरजत्ताणिमित्तं आअदेण होदव्वं तेण। ता णिच्चिता दाणिं होहि। कल्लं खु तं चेअ सअं वरिस्ससि। (प्रियसखि अलं ते भयेन यावत् स्नेहेन बलवत्खलु मे तुष्यत्यात्मा स्थान एवात्रलग्ना दृष्टिरिति महता भागधेयेन कन्यकानामभिरूपतमः पतिर्लभ्यते तच्च पुण्यमपि केवलं मानुषस्येति जानीहि यतस्तादृशमुज्ज्वलं मधुरं रूपं तादृशमुदारगंभीरं सत्त्वं तादृशी च धीरललिता प्रकृतिः नोत्तमक्षत्रियादन्यस्य संभाव्यते। अथ च। प्रियसखि तवैव स्वयंवर-यात्रानिमित्तमागतेन भवितव्यं तेन। तस्मान्निश्चितेदानीं भव। काल्यं खलु तमेव स्वयं वरिष्यसि।)

(सुलोचना सलज्जं बाष्पं विदार्य तूष्णीमास्ते)

नवमालिका—अदिउज्जए महवि णाम एव्वं लज्जती कहं ते हि-अआदो ण लज्जेसि। (अति ऋजित्र ममापि नाम एवं लज्जमाना कथं ते हृदयान्न लज्जसे।)

मेरी आत्मा सचमुच ही यह विचार कर अधिक संतुष्ट हो रही है कि तुम्हारी दृष्टि योग्य स्थान पर ही लगी है। कन्याओं को अत्यन्त इष्ट पति बड़े पुण्य से मिलता है और वह पुण्य भी मात्र मनुष्य के ही होता है यह समझ लो। क्योंकि वैसा उज्ज्वल एवं मनोहर रूप, वैसा उदार एवं गम्भीर धैर्य, और वैसी धरिललित प्रकृति उत्तम क्षत्रिय के सिवाय किसी दूसरे के संभव नहीं है। और सखि! उसे तुम्हारी ही स्वयंवर यात्रा के निमित्त आया हुआ होना चाहिये इसलिये निश्चिन्त रहो कल ही उसे स्वयंवर लोगी।

(सुलोचना लजाई हुई आंसू छोड़ कर चुप बैठी रहती)

नवमालिका—अतिसरले! मुझसे भी इस तरह लजाती हुई तुम अपने हृदय से भी क्यों नहीं लजाती हो?

सुलोचना—पिअसहि ,खतव्वो एस लज्जापरवदीए मह मावगूहणा-दिक्कमो। (प्रियसखि क्षतव्य एष लज्जापरवत्या मम भावगूहनातिक्रम.।)

नवमालिका—सहावसिद्धेपि अ कएणआण इमस्सि अत्ये कह णाम पिअसही अवरज्झदि। (स्वभावसिद्धेऽपि कन्यकानामस्मिन्नर्थे कथं नाम प्रिय-सखी अपराध्यति।)

विदूषकः—(कर्णं दत्त्वा) वअस्स एत्थ एव्व पिअगुणाअवमूले इत्थि-आजणालाओ सुणिज्जइ। (वयस्यात्रैव प्रियगुणादपमूले स्त्रीजनालापः श्रूयते।)

राजा—(आत्मगतं) अपि नाम सा भवेत्। (प्रकाश) यावदमुना प्रलम्बविटपेनाशमवकशादपेनांतरित पश्यामि (तथा दृष्ट्वा सहर्षं) वयस्य दिष्ट्या वर्धसे। सैव सखिप्रिय ते प्रियसखी।

विदूषक—(दृष्ट्वा) कह एसा तत्तहोदो कासीराअउत्ती। (कथमेषा तत्रभवती काशीराजपुत्री।)

राजा—(निर्वर्ण्य सोत्कंठ)

सुलोचना—प्रियसखि ! मैं लज्जा से परतन्त्र हूँ अत मेरा यह अभि-प्राय को छिपाने का अपराध क्षमा कर देने योग्य है।

नवमालिका—यह कार्य तो कन्याओं का स्वभाव से ही सिद्ध है इसमें प्रियसखी कैसे अपराध कर सकती है ?

विदूषक—(कान देकर) मित्र ! यहीं प्रियङ्गुवृक्ष के नीचे स्त्रियों का वर्तालाप सुनाई पड़ रहा है।

राजा—(अपने मन में) क्या संभव है वह हो। (स्पष्ट रूप से) अच्छा, लम्बी लम्बी शाखाओं वाले इस अशोक वृक्ष से छिपकर देखता हूँ। (उस तरह देख कर हर्ष के साथ) मित्र ! भाग्य से तुम बढ़ रहे हो सचमुच ही यह वही तुम्हारी प्रियसखी है।

विदूषक—(देख कर). क्या यह माननीय काशीराज की पुत्री है ?

राजा—(देख कर उत्कण्ठा के साथ)

इयं सा लावण्यामृतसरिति यस्यां मम दृशौ
निरुच्छ्वासं मग्ने पदमपि लभेते, न तरितुम्।
स्थिरीभूतं यस्यां प्रकृतितरलं संप्रति मनो
यया कामः कामं हृदयमिदमंतर्व्यथयति ॥ २५ ॥

नवमालिका—महाभागो खु सो जणो जो एव्वं णाम पिअसहीए हिअए सदापि अ वट्टइ। (महाभागः खलु स जनः य एवं नाम प्रियसख्या हृदये सदापि च वर्तते।)

सुलोचना—(सलज्जं) सहि कीस मं बाहेहि। साविदा खु से मए जइ मे पुणोवि किंवि असंबंधं जंपिहिस्सि। (सखि कस्मान्मा बाधसे। शापिता खल्वसि मया यदि मां पुनरपि किमप्यसंबंधं जल्पसि।)

विदूषकः—वअस्स तुह एव्व उत्तंतो वट्टदित्ति तक्केमि। (वयस्य तवैव वृत्तांतो वर्तते इति तर्कयामि।)

राजा—अहो स्पृहणीयः कन्यकानां व्रीडाव्यतिकरः।

तथाहि—

निरुंधाना कूटं किमपि हृदये वस्तु लिखितं
तदस्वस्थैर्भावैः पुनरनुमिमानां प्रियसखीम्।

इयं सा—यह वह सौन्दर्य की नदी है जिसमें सांस रोक कर डुबे हुए मेरे नेत्र तैरने के लिये स्थान भी नहीं पा रहे हैं, मेरा स्वभाव से चञ्चल मन इस समय जिसमें स्थिर हो रहा है और जिसके द्वारा काम मेरे हृदय को इच्छानुसार भीतर ही भीतर व्यथित कर रहा है ॥ २५ ॥

नवमालिका—वह जन भी बड़ा भाग्यशाली है जो प्रिय सखी के हृदय में इस तरह सदा विद्यमान रहता है।

सुलोचना—(लज्जा के साथ) सखि! क्यों मुझे तंग करती हो। तुम्हें मेरी सौगन्ध है जो अब कुछ भी अटपटी बात बोलोगी।

विदूषक—मित्र! तुम्हारी ही बात चल रही है ऐसा मैं समझता हूँ।

राजा—अहा, कन्याओं का लजीला व्यापार बड़ा सुन्दर होता है।

जैसे कि—

निरुन्धाना—यह हृदय में अङ्कित किसी बात को पहले तो कपटपूर्वक

सलज्जं जल्पन्ती परिमृदितविशुष्काक्षरमसौ
विलक्षस्मेरास्या कथमपि तदस्याः स्फुटयति ॥ २६ ॥

(पुनर्निर्वर्ण्य) अहो सर्वावस्थासु कामनीयकमस्याः ।

इद हि—

जरठरविमयूखतापताम्यत्-
किसलयदुर्बलकोमलांगयष्टयाम् ।
चकितहरिणशावलोचनाया-
मभिरमते हृदयं सुलोचनायाम् ॥ २७ ॥

नवमालिका—का वा एत्थ असबंधं मतेदि सुसबधं चेअ खु एदं भविस्सदि । (का वात्रासंबधं मन्त्रयते सुसंबंधमेव खलु एतद् भविष्यति ।)

सुलोचना—(स्वगत) अमोहवादिणी होहि । (अमोघवादिनी भव ।)

राजा—इयं खल्वखण्डितपराक्रमस्य मकरकेतोरसहार्यशौर्यहेतुं मुमहा-

---

छिपाती है परन्तु इसकी अस्वस्थ चेष्टाओं से जब प्रियसखी उस बात को ताड़ लेती है तब टूटे फूटे शुष्क अक्षरों में लज्जा सहित बोलती हुई किसी तरह उसके सामने उस बातको प्रकट करती है। प्रकट करते समय इसका मुख लज्जा से कुछ कुछ खिल रहा है ॥ २६ ॥

(फिर देख कर) अहा इसकी सभी अवस्थाओं में सुन्दरता है।

सचमुच ही

जरठ—मध्याह्न के सूर्य की किरणों के ताप से मुरझाये हुए किसलय के समान दुर्बल एवं कोमल शरीर से युक्त तथा भयभीत हरिण के बच्चे के समान चञ्चल नेत्रों से सहित सुलोचना में हमारा हृदय अच्छी तरह रम रहा है ॥ २७ ॥

नवमालिका—यहां कौन अटपटी बात बोल रहा है सब बात सुसंगत ही हो जावेगी।

सुलोचना—(अपने मन में) सत्यवादिनी हो—आपका कहना सच हो।

राजा—सचमुच ही यह सुलोचना अखण्डित पराक्रमवाले कामदेव का महान् आलम्बन तथा उसके अपरिहार्य पराक्रम का हेतु है। (आकाश

नवष्टंभः (आकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा) अयि भोः कुसुमधन्वन् वृथा कत्थसे इदमुपालभ्यसे ।)

यत्रैते स्फुरतः प्रमथ्य विनयं दीर्घे भ्रुवौ सुभ्रुवो-
यत्रैते हरतः प्रसह्य तरले धैर्यग्रहं लोचने ।
यत्रैपास्ति विमोहनाय जगतस्तत्र स्मर श्रूयतां
कोदंडे च शरेषु च त्वयि च भोः स्यात्पौनरुक्त्यं परम् ॥ २८॥

सुलोचना—(स्वगतं) अवि गाम सो जणो अज्जवि दंसणसुहं देज्ज । (अपि नाम स जनः अद्यापि दर्शनसुखं दास्यति ।)

नवमालिका—(विभाव्य स्वगतं) कहं एसा चिंताभरेण बलिअं खिज्जइ होदु जाव इमाए हिअअं आक्खिवामि । (प्रकाशं) पिअसहि एसा खु सह समुच्चरंतकुररकारंडवकेलिकलअलगंभिणेण सद्दावेदि विअ मारुदेण भाईरहि । ता उट्ठेहि दाव जाव सरलिआ आअमिस्सदि ताव मंदाअणीं दक्खिह्म । (कथमेषा चिंताभरेण बलवत् खिद्यते भवतु तावदस्या हृदयमाक्षिपामि । प्रियसखि एषा खलु सह समुच्चरत्कुररकारंडवकेलिकलहकलकलगर्भेण शब्दा-

---

में लक्ष्य बांधकर) अये ! कामदेव ! तुम व्यर्थ ही अपनी प्रशंसा किया करते हो । लो, तुम्हें यह उलाहना दिया जाता है ।

यत्रैते—जहां सुन्दर भौंहों वाली सुलोचना की ये लम्बी भौंहें विनय को नष्ट कर सुशोभित हैं, जहां ये उसके चञ्चल नेत्र जबर्दस्ती धैर्यरूपी धन का अपहरण करते हैं और जहां जगत् को मोहित करने के लिये यह सुलोचना स्वयं विद्यमान है वहां हे कामदेव ! सुन लो, तुम्हारे धनुष में, तुम्हारे बाणों में तथा स्वयं तुम में अत्यधिक पुनरुक्ति दोष आता है ॥ २८ ॥

सुलोचना—(अपने मन में) क्या संभव है कि आज भी वे दर्शन का सुख प्रदान करेंगे ।

नवमालिका—(विचार कर अपने मन में) क्या यह चिन्ता के भार से अत्यधिक खिन्न हो रही है ? खैर, इसके हृदय को बहलाती हूँ (स्पष्ट) प्रिय सखि ! यह गङ्गा एक साथ बोलते हुए कुरर और कारण्डव पक्षियों की

पयतीव मारुतेन भागीरथी । तस्मादुत्तिष्ठ तावत् यावत् सरलिका आगमिष्यति तावन्मंदाकिनीं पश्याव ।)

सुलोचना—ज पिअसहीए रोअदि। (उत्तिष्ठत) (यत् प्रियसख्या रोचते।)

नवमालिका—इदो इदो पिअसहि (परिक्रामत) (इत इत. प्रियसखि ।)

राजा—(निर्वर्ण्य) कथं समग्रसाधन' संप्रति संग्रामयते कुसुमधन्वा । मम हि—

> अस्या कामं कठोरं स्तनतटयुगले नाभिरंध्रे गभीरो
> विस्तीर्णः श्रोणिबिंबे गतिषु कृतपदो हस्तयोर्दत्तहस्त ।
> जातोत्कंठोऽथ कंठे मुखमनु सुमुखः काममोष्ठे सरागो
> विभ्रांतश्चायमक्ष्णोर्जनयति हृदयस्याव्यवस्थामवस्थाम् ॥२६॥

विदूषक—वअस्स इदो एव्व कह आअच्छदि (वयस्य इत एव कथमागच्छत ।)

क्रीडा-सम्बन्धी कलकल से युक्त वायु से बुला रही है इसलिये उठो जब तक सरलिका आवेगी तब तक गङ्गा को देखें।

सुलोचना—जो प्रिय सखी के लिये अच्छा लगे। (दोनों उठ कर खड़ी होती हैं)

नवमालिका—इधर इधर आइये प्रियसखि ! (दोनों घूमती हैं)

राजा—(देखकर) क्या इस समय संपूर्ण साधनों से युक्त कामदेव युद्ध कर रहा है !

अस्या—काम इसके स्तन-तट-युगल में कठोर, नाभिछिद्र में गहरा, नितम्ब-मण्डल में विस्तीर्ण, गति में पैर मिलाना, हाथों में हाथ देना, कण्ठ में उत्कण्ठित होना, मुख के सम्मुख होना, ओठ में सराग होना और नेत्रों में भ्रान्त होता हुआ मेरे हृदय की इच्छानुसार अव्यवस्थित अवस्था कर रहा है ॥ २६ ॥

विदूषक—मित्र ! क्या ये इसी ओर आ रही हैं !

राजा—सखे किमत्र कुर्मः । अथवा स्वयमासीदंत्योरनयोरदुष्ट एव यादृच्छिक उपनिपातः ।

सुलोचना—(अग्रतो राजानं दृष्ट्वा ससाध्वसं समौत्सुक्यं चात्मगतं) अह्लो सो एव्व एत्थ समाणीदो देव्वेण । (अहो स एवात्र समानीतो दैवेन ।)

नवमालिका—(राजानं दृष्ट्वा अपवार्य) पिअसहि दिट्टिआ वड्ढेसि सो एव्व जणो एत्थ समाणीदो देव्वेण (प्रियसखि दिष्टया वर्धसे, स एव जनोऽत्र समानीतो दैवेन ।)

सुलोचना—(सलज्जमपवार्य) हला किं एत्थ करिअदु (हला किमत्र क्रियतां ।)

नवमालिका—(अपवार्य सस्मितं) इमं एव्व णं पुच्छसु । (इममेव ननु पृच्छ ।)

सुलोचना—(सेर्ष्यमपवार्य) हला पुणोवि किं असंबद्धं भणासि । (अन्यतो गतुमिच्छति) । (हला पुनरपि किमसंबद्धं भणसि ।)

नवमालिका—पिअसहि मा मा कुप्पेहि (हस्ते गृह्णाति) (प्रियसखि मा मा कुप्य ।)

राजा—मित्र ! अब क्या करें ! अथवा स्वयं आती हुई इनका अकस्मात् मिलना निर्दोष ही है ।

सुलोचना—(आगे राजा को देख कर भय और उत्सुकता के साथ मन में विचार करती है) अहा, दैव ने उन्हीं को यहां ला दिया ।

नवमालिका—(राजा को देख कर मुंह फेरती हुई) प्रियसखि ! भाग्य से बढ़ रही हो, वही महानुभाव दैव के द्वारा यहां लाये गये हैं ।

सुलोचना—(लज्जा के साथ मुंह फेर कर) सखि ! अब क्या किया जाय ?

नवमालिका—(मुंह फेर कर मुस्कराती हुई) इन्हीं से पूछ लो ।

सुलोचना—(ईर्ष्या के साथ मुंह फेर कर) सखि ! तुम फिर कुछ असम्बद्ध बोलने लगी । (दूसरी ओर जाना चाहती है)

नवमालिका—प्रियसखि ! कुपित मत होओ (हाथ पकड़ती है)

राजा—(स्वगत) अयमत्रावसर । (उपसृत्य ससान्त्वनम्) अयि सरले—

येन व्यलीकेऽपि कृते, न क्रोपो दाक्षिण्यरुद्धो लभतेऽवकाशम् ।
तस्मिन् जनेऽस्मिन्नकृतापराधे कुतो वृथा त्वं कुपिता प्रयासि ॥३०॥

विदूषक—कह कोवणा अत्तहोदी । (कथं कोपनात्रभवती ।

नवमालिका—अदक्खिणे कह अपुव्वदंसणसमावणीअस्स इमस्स जणस्स वअण लघेसि । (अदक्षिणे कथमपूर्वदर्शनसमावनीयस्यास्य वचनं लङ्घयसि ।)

राजा—सखि कुत स्वल्वसौ कुपिता ।

नवमालिका—इमं एव्व पुच्छइ । (इमामेव पृच्छ ।)

(सुलोचना सेर्ष्यं नवमालिका पश्यति)

राजा—सुन्दरि प्रसीद प्रसीद ।

(नेपथ्ये)

इदो पिअसहि (इतः प्रियसखि ।)

राजा—(अपने मन में) यहाँ यह अवसर है। (पास जाकर सान्त्वना के साथ) अयि सरले !

येन—जिसके द्वारा अपराध किये जाने पर भी सरलता से रुका हुआ क्रोध अवकाश नहीं पाता है फिर इस सखी के अपराध न करने पर भी व्यर्थ ही कुपित होकर तुम कहा जा रही हो ? ॥ ३० ॥

विदूषक—क्या कुपित हैं आप ?

नवमालिका—अयि अनुदारे ! अपूर्व दर्शन के कारण समादरणीय इन महानुभाव के वचनों का क्यों उल्लंघन करती हो ?

राजा—सखि ! ये क्यों कुपित हो गई हैं ?

नवमालिका—इन्हीं से पूछिये ।

(सुलोचना ईर्ष्या के साथ नवमालिका की ओर देखती है)

राजा—सुन्दरि ! प्रसन्न होओ प्रसन्न ।

(परदे के भीतर)

प्रिय सखि ! इधर आओ ।

नवमालिका—(कर्णं दत्त्वा) पिअसहि सरलिआ णं सद्दावेइ ता इदो सिग्घं एहि । (प्रियसखि सरलिका ननु शब्दापयति तस्मादितः शीघ्रमेहि)

सुलोचना—(स्वगतं) कहं एत्तिअंवि विग्घिदं । का गई । (कथमेतावदपि विघ्नितं । का गतिः ।)

(परिक्रम्य निष्क्रांते)

राजा—अहो क्षणदर्शनमपि न सोढव्यमीर्ष्यालुना दैवेन ।

विदूषकः—वअस्स णिच्चिंतो दाणि होहि । असाहारणो क्खु तत्तहोदीए तुवम्मि बहुमाणो । (वयस्य निश्चित इदानीं भव । असाधारणः खलु तत्र भवत्यास्त्वयि बहुमानः ।)

राजा—अतर्कितोपनतेन च दर्शनेन पतिक्षणविधीयमानविभ्रमाम्रेडितं तस्या, व्रीडितम् ।

तथाहि—

स्तनतटसमुत्क्षिप्ता मुक्तावली परिवर्तिता
सुनिहितमपि स्प्रष्टुं कर्णोत्पलं प्रहितः करः ।

नवमालिका—(कान देकर) प्रियसखि ! सरलिका बुला रही है इसलिये शीघ्र आओ ।

सुलोचना—(अपने मन में) क्या इतने में ही विघ्न आ पड़ा ? खैर, क्या उपाय ?

(घूमकर दोनों निकल जाती हैं)

राजा—अहा, ईर्ष्या करनेवाले देव को क्षणभर के लिये भी उसका दर्शन सहन नहीं हुआ ।

विदूपक—मित्र ! अब आप निश्चिन्त हो जाइये । सचमुच ही आप में उनका असाधारण सम्मान है ।

राजा—अकस्मात् प्राप्त हुए दर्शन से उसकी लज्जा प्रत्येक क्षण बढ़ते हुए हाव भाव से युक्त थी ।

क्योंकि—

स्तनतट—उसने स्तनतट पर पड़ी हुई मोतियों की माला को घुमाया था, कान का उत्पल यद्यपि बिलकुल ठीक था तथापि उसे ठीक करने के

विनमितमुखं सख्या सव्याजमन्तरितं मुहु-
र्मयि च निपतद्दृष्टौ न्यस्ते दृशौ स्तनचूचुके ॥ ३१ ॥

(विचिन्त्य सौत्सुक्यं) अहो अभिरूपं तस्याः प्रियसखीं प्रति प्रणयरसार्द्रं कुपितं।

तथाहि—

नैवाधरेण स्फुरितं न रक्ते विलोचने, न स्खलितं च गत्या।
तथापि कोपः परिभावितोऽस्या भिन्नक्रमेणैव निरीक्षितेन ॥ ३२ ॥

(अग्रतो विलोक्य सोत्कण्ठं)

क्षणमिह मदिराक्ष्यामग्रतो मे स्थितायां
स्तनतटपरिणाहात्प्रच्युतस्यांशुकोपि।

लिये उसने अपना हाथ कानों तक ऊपर उठाया था, वह मुख नीचा कर किसी बहाने से बार बार सखी की ओट में छिप रही थी और जब मैंने अपनी दृष्टि उस पर डाली तब उसने अपने नेत्र स्तन के अग्रभाग पर डाल लिये अर्थात् नीचे की ओर देखने लगी ॥ ३१ ॥

(विचार कर उत्कण्ठा के साथ) अहा, प्रियसखी के प्रति उसका प्रेम रस से भींगा कोप भी बड़ा मनोहर था।

क्योंकि—

नैवाधरेण—यद्यपि उसका ओष्ठ नहीं काँप रहा था, न उसके नेत्र लाल के और न उसकी गति ही रुकी थी तथापि एक विभिन्न प्रकार के अवलोकन से उसका क्रोध प्रकट हो रहा था ॥ ३२ ॥

(आगे देखकर उत्कण्ठा के साथ)

क्षणमिह—वह मादक-नेत्रों वाली सुलोचना जब यहां क्षणभर के लिये मेरे आगे खड़ी थी तब अकस्मात् ही उसके उत्तरीय वस्त्र का अञ्चल स्तनतट के विस्तार से नीचे खिसक गया था और जब वह यहां से जा रही थी तब वही उत्तरीय वस्त्र का अञ्चल मार्ग में एक वृक्ष से उलझ गया था

पथि च विटपिलग्नस्योत्तरीयांचलस्य
क्षणकृतगतिविघ्नस्यैव भूयः स्मरामि ॥ ३३ ॥

(सांतस्तापं निश्वस्य) अहो दुर्विषहता प्रियाविरहव्यथायाः । येनानुपदमेव समुत्पादितसर्वांगीणपरितापा शिरोवेदनामिवापादयति । (सविशेषोत्कठम्)

भवसि भवसि मूर्धन् सत्यमेवोत्तमाङ्गं
यदि सकृदपि तस्यास्सेर्ष्यमुत्क्षिप्तपाणेः ।
रतिकलहविमर्देष्वर्चति त्वां प्रियाया—
स्स परमपरिहार्यः पारिहार्यप्रहारः ॥ ३४ ॥

विदूषकः—भो वअस्स समासण्णो मज्झण्हो जाव एण्हिं खंदावारं एव्व गच्छेमो । (भो वयस्य समासन्नो मध्याह्नः यावदिदानीं स्कंधावारमेव गच्छावः ।) ·

राजा—(नभो विलोक्य ।) कथं गतमहर्दलम् ।

तथाहि ।

तथा उलझ कर उसने क्षणभर के लिये उसके गमन में रुकावट डाल दी थी । मैं बार बार उसके उत्तरीयवस्त्र के अञ्चल का स्मरण करता हूँ ।

(मानसिक संताप के साथ लम्बी सांस लेकर) अहा, प्रिया की विरह से होने वाली पीड़ा के अत्यन्त असह्य है क्योंकि वह लगे हाथ समस्त शरीर में संताप उत्पन्न करती हुई मानों की शिर दर्द की पीड़ा प्राप्त करा रही है । (बड़ी उत्कण्ठा के साथ)

भवसि—हे मूर्धन् ! तुम सचमुच ही उत्तमाङ्ग तब होने जब अधिक नहीं तो एक बार भी ईर्ष्या के साथ हाथ को ऊपर उठाने वाली प्रिया का अत्यन्त सुन्दर आभूषण का प्रहार रति सम्बन्धी कलह के संमर्द में तुम्हें सम्मानित करता ॥ ३४ ॥

विदूषक—हे मित्र ! मध्याह्न निकट है इसलिये अब शिविर की ओर ही चलें ।

राजा—(आकश की ओर देखकर) क्या अर्धदिन बीत गया !

क्योंकि—

अयमिह सहसान संगरन् बर्हभारं
तरुविटपानपण्णस्सेवते स्वापसौख्यम् ।
श्रयति तपनतापादुत्त्रसन्नत्र चासौ
घननलिनपलाशाभ्यंतर मद्दसानः ॥ ३५ ॥

किंच ।

प्रासादोदरवासगेहतलियेष्वधावपोद्वेजिन—
श्चर्चाचन्दनकर्दमार्द्रतनुभिः सार्धं प्रियाभि' प्रिया. ।
चौमांतव्यजनैः करव्यतिकराः संवीज्यमानैर्मिथ
कुर्वंतः सुरतश्रमव्यपनयं सद्रालवः शेरते ॥ ३६ ॥

विदूषक —इदो इदो पिअवअस्सो । (इत प्रियवयस्य ।)

(इति परिक्रम्य निष्क्रांतौ)

इति श्रीकविहस्तिमल्लेन विरचिते कौरवपौरवीयनाटके
गंगामज्जनं नाम द्वितीयोंङ्कः समाप्त ॥ २ ॥

अयमिह—यहा यह मयूर पिन्छ के समूह को सकोचित करता हुआ वृक्ष की डाली पर बैठकर निद्रासुख का सेवन कर रहा है और यहा यह हंस सूर्य की गर्मी से भयभीत होता हुआ सघन कमलपत्रों के भीतर घुस रहा है ॥ ३५ ॥

प्रासादोदर—इस समय घाम से डरने वाले अलसाये पुरुष, महलों के मध्यगृह में पड़ी शय्याओं पर गीले चन्दन से आर्द्र शरीर वाली प्रियाओं के साथ परस्पर हस्त व्यापार से धीरे धीरे हिलाने जाने वाले वस्त्र के अञ्चल रूपी व्यजनों से सभोग सम्बन्धी थकावट को दूर करते हुए शयन कर रहे हैं ॥ ३६ ॥

विदूषक—प्रिय मित्र ! इधर आइये इधर ।

(इस तरह घूमकर दोनों बाहर चले जाते हैं)

इस प्रकार महाकवि हस्तिमल्ल के द्वारा विरचित कौरव पौरवीय नाटक में गङ्गास्नान नामका दूसरा अङ्क समाप्त हुआ ।



तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति विटः)

विटः—अहो अनन्यसाधारणी वाराणस्याः समृद्धिः।

अत्र हि—

गुणेष्वेवाहार्यं भवति पुरुषाणां बहुमतं
स्त्रियः स्वैरं हार्याःप्रणयचतुरैश्चाटुवचनैः।
धनं पात्रे दत्तं न खलु वसुगुप्तिर्धनवतां
कवीनां काप्यन्या भणितिरभिजाता विजयते ॥ १ ॥

अतश्च—

वणिजो जित्वरीमाहुः सत्यं वाराणसीमिमाम्।
यदेनया व्यजीयंत विश्वान्यनगरश्रियः ॥ २ ॥

(तदनन्तर विट प्रवेश करता है)

विट—अहा, वाराणसी की समृद्धि असाधारण है।

सचमुच ही यहां—

गुणेष्वाहार्य—पुरुषों का विचलित न होने वाला बहुमत गुणों में ही है, यहां स्त्रियां प्रेम प्रकट करने में चतुर मनुष्यों के द्वारा मीठे मीठे वचनों से अच्छी तरह हरी जाती हैं, धन पात्र के लिये दिया जाता है, धनवान् लोग धन को छिपाकर नहीं रखते तथा यहां कवियों की कोई अद्भुत निराली शिष्ट सूक्तियां विजय को प्राप्त होती रहती हैं ॥ १ ॥

इसलिये—

वणिजो—व्यापारी लोग इस वाराणसी को सचमुच ही जित्वरी कहते हैं क्योंकि इस नगर के द्वारा अन्य समस्त नगरों की लक्ष्मी जीत ली गई है ॥ २ ॥

विशेषतः पुनरद्य सुलोचनास्वयंवरयात्रायामन्यैव कापि शोभा काशीराजधान्याः।

तथाहि—

अभ्युद्यते सरसकुसुमाभ्यर्चितैर्गंधतोयै-
र्वीथीमार्गाः पुरपरिजनेनात्र सम्मृष्टशुद्धाः।
पुष्पैश्च्योतन्मधुलवजडैर्निष्पतच्चञ्चरीकै-
र्व्याकीर्यन्ते सुरभिभिरितो वेश्मनां चाजिराणि ॥ ३ ॥

अपि च—

उत्तम्भितध्वजपटांचलचुम्ब्यमाने-
ज्योतिर्विमानविततीनि विभांत्यमूनि।
सौधान्युदस्तमणितोरणकोणनद्ध-
डोलायमाननवचंदनमालिकानि ॥ ४ ॥

यावदिदानीं स्वयंवरयात्राकृते समापततो राजन्यस्यावेक्षणेन चक्षुषी समाश्वयाम। (परिक्रम्याग्रतो विलोक्य)। कथमसौ विलासवाञ्छालिमकरध्वजस्य

और आज तो खास कर सुलोचना की स्वयंवर यात्रा के समय काशी की राजधानी वाराणसी की कोई अद्भुत विशिष्ट शोभा दिखाई पड़ रही है।

जैसे—

अभ्युद्यन्ते—इधर नगर के परिवारकों के द्वारा झाड़कर साफ किये हुए छोटे बड़े सभी मार्ग, ताजे फूलों से सुशोभित सुगन्धित जल के द्वारा सींचे जा रहे हैं और इधर मकानों के आगन चूँते हुए मधु के कणों से जड़ एवं पड़ते हुए भौंरों से युक्त सुगन्धित फूलों से व्याप्त किये जाते हैं ॥ ३ ॥

और भी—

उत्तम्भित—इधर वे बड़े बड़े महल सुशोभित हो रहे हैं जो फहराती हुई ध्वजाओं के पराञ्चल से ज्योतिष्क विमानों की पंक्तियों का चुम्बन कर रहे हैं तथा जिनके खड़े हुए मणिमय तोरणों के कोनों में बँधी नई नई वन्दनमालाएँ हिल रही हैं ॥ ४ ॥

जब तक इस समय स्वयंवरयात्रा के लिये सब ओर से आते हुए राजकुमारों के अवलोकन से नेत्रों को सन्मानित करें। (घूम कर तथा आगे देख कर)

संगीतशालारतेर्विक्रयापणः स्त्रीरत्नानामुत्पत्तिभवनं शृङ्गारस्य नाभिगृहं लीलाया निर्माणभूमिर्विभ्रमाणामाकर्षणबडिशं तरुणजनमनोमीनानामवस्कंदपरबलमिंद्रियग्रामस्य विनयमुखपटाक्षेपणरंगो विनीतजनवारणानां स्वगुणविकत्थनस्थानं पिङ्गानां वैदग्ध्यविनिमयहट्टश्छेकाना। करालगोलव्यतिकरपितृवनं वेश्याजनमातृजरत्पितृपिशाचिकाना पुराणा वःमलूरुर्गणिकादारिकाभुजंगीनामपूर्वमद्वैतदर्शनं मायाप्रपंचस्य पारिपंथिको निश्रेयसपथगान्थानां मनोरथमात्रास्वाद्यो दुर्गतानां द्रविणवतां सदाप्यदत्तकवाटो वेशवाटः।

किंच।

अविश्रंभस्निग्धं वचनमवलेह्यं श्रवणयोः
परिष्वंगस्संगव्यसनमपहस्त्येव मधुरः।

क्या यह वेश्याओं का वह मोहल्ला है जो काम देव को हावभाव रूपी विलास के विस्तृत होने का मैदान है, रति की संगीत शाला है, स्त्री रूपी रत्नों के विकने का बाजार है, शृङ्गार की उत्पत्ति का भवन है, लीला का नध्यगृह है, विभ्रमों की रचना स्थली है, तरुण मनुष्यों के मन रूपी मछलियों को खींचने वाली वंसी है, इन्द्रियरूपी ग्राम को लूटने वाली शत्रु सेना है, विनीत मनुष्यरूपी हाथियों के विनय रूपी मुखपट को दूर करने का स्थान है, गुण्डों का अपने गुणों की प्रशंसा का स्थल है, चतुर मनुष्यों का अपनी चतुराई के बदलने का बाजार है, वेश्यओं की माता रूपी वृद्ध चुडैलों के रहने का भयंकर श्मशान है, वेश्याओं की पुत्रियां रूपी सर्पिणीयों की बाम्बी है, माया के विस्तार का अनुपम अद्वैत दर्शन है अर्थात् जहां माया माया ही दिखाई देती है, जो योग्य मार्ग के पथिकों का विरोधी है, दरिद्र मनुष्यों के लिये जो मनोरथ मात्र से आस्वादन करने योग्य है तथा धनिक मनुष्यों के लिये जिसके किवाड़ सदा खुले रहने हैं।

और भी—

अविश्रम्भ—जवां कानों कानों को आनन्द देने वाले, विश्वास हीन स्नेह पूर्ण वचन, सङ्गम की स्थिरता को दूर करने वाला मधुर आलिङ्गन,

ऋतेऽन्तः सद्भावात्स परमुपचाराश्च रुचिर-
रसहेवोद्भिन्नान् स्तनमुकुलकैर्यत्र सुदृशाम् ॥ ५ ॥

(स्पर्शं रूपयित्वा) अहो वेशवीथीविहाररसिकस्य कोऽप्यतिशायी सौरभ-समारः समीरणस्य । अत्र हि—

प्रौढाङ्गनार्चिरकण्ठघनाङ्गराग कस्तूरिकापरिमलस्पृहणीयगन्धः ।
सौभाग्यगर्वभरमन्थरयेव गत्या चेतः प्रलोभयति नस्तरुणो नभस्वान्॥ ॥

यावदेनं वेशवाटमतिलङ्घ्य राजन्यकावलोकाय राजमार्गं समासादयाम । अथवा दुष्करमेनमतिलङ्घयितुम् ।

कुतः ।

न दृष्टा विम्बोष्ठीमलमनभिभाष्यास्मि चलितुं
विलम्ब्यः स्याचैस्तैस्सुचिरमुपचारैश्च सुदृशाम् ।

और अन्त करण की सद्भावना के बिना होने वाला अत्यधिक सुन्दर उपचार इतनी यस्तुएँ स्त्रियों के स्तनरूपी बोंडियों के साथ ही उत्पन्न होती है ॥ ५ ॥

(स्पर्श का अभिनय कर) अहा, वेश्याओं की गली में घूमने के शौकीन वायु की कोई अनिर्वचनीय अत्यधिक सुगन्धि है । सचमुच ही यहा—

प्रौढाङ्गना—जिसमें प्रौढ स्त्रियों के सुन्दर कण्ठ का सघन अङ्गराग मिला हुआ है, और जिसकी गन्ध कस्तूरी की सुवास से मनभावन हो रही है ऐसा यह चञ्चल वायु, सौभाग्यजन्य गर्व के भार से ही मानों धीमी-धीमी चलने वाली गति से हमारे चित्त को लुभा रही है ॥ ६ ॥

अच्छा अब इस वेश्याओं के मोहल्ला को लाँघकर राजकुमारों को देखने के लिये राजमार्ग की ओर चलें । अथवा इस वेश्याओं के मोहल्ला को लाँघना अत्यन्त कठिन है ।

क्यों ?

न दृष्टा—यहां दिखी हुई स्त्री से बात किये बिना मैं आगे चलने के लिये समर्थ नहीं हू । स्त्रियों के उन-उन उपचारों से बहुत कुछ विलम्ब

अपेक्षन्ते चास्मान् प्रचुरमपराद्धाश्च सुहृदः
प्रियाः प्रत्याश्वास्याः प्रणयघटनायै विघटिताः ॥ ७ ॥

तदंतरायः खल्वयं मार्गः कार्यान्तरस्य । अथवा शांतं, श्रेयानेव मे प्रस्तुतकार्यांतरप्रसंगस्यात्र व्यासंगः । येन—

तांबूलवीटीरुपयुक्तशिष्टाः कर्पूरपारीस्सकरंडदत्ताः ।
माल्यानि धाम्मिल्लकृताधिवासान्यमुत्र लप्स्ये मुहुरंगनाभ्यः ॥ ८ ॥

तदिदानीमेनमवगाहिष्ये । (परिक्रम्यावलोक्य च) कथमसौ वेशवाटमुखमंडपे दुर्विनीतशौण्डघर्घरकंठघोपाधरितरूप्यघंटाटेण्टा । कथं नु खल्वस्या मूर्तायाशिशरोर्तेरात्मानं रक्षेयम् । दुर्लभः खल्वेभिर्दुर्दान्तदेवितृभिर्दृष्टस्य ममात्रा-

---

हो सकता है । अनेकों बार छले हुए मित्र हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं और प्रेम को स्थिर बनाये रखने के लिये बिछुड़ी हुई स्त्रियां भी आश्वासन देने के योग्य हैं । ॥ ७ ॥

इसलिये सचमुच ही यह मार्ग दूसरे कार्य का बाधक है अथवा ठीक है, दूसरे कार्य के प्रसङ्ग को प्रस्तुत करनेवाले मेरे लिये यहाँ कुछ रुक जाना लाभदायक ही होगा । क्योंकि—

ताम्बूल—मैं यहाँ स्त्रियों से उपयोग में आने से बाकी बचे पान की बीड़ाओं को, डिब्बी के साथ समर्पित कपूर के चूर्ण को, तथा चोटियों में लगी हुई मालाओं को बार बार प्राप्त करूंगा ॥ ८ ॥

इसलिये अब इस वेश्याओं के मोहल्ला में घुसता हूं । (घूमकर तथा देखकर) क्या यह वेश्याओं के मोहल्ला को प्रारम्भ में ही बने हुए मण्डल में चांदी के घण्टा के टनटन शब्द का तिरस्कार करनेवाली उद्दण्ड जुआड़ियों के घर्घर कण्ठ की गर्जना हो रही है ? इस मूर्तिधारिणी शिरोवेदना से मैं अपनी रक्षा किस प्रकार करूं ? इन विकट खिलाड़ियों ने यदि मुझे देख लिया तो मेरा यहां से निकलना दुर्लभ हो जायगा । तब यहां शरण—रक्षक क्या हो सकता है ? अच्छा, उत्तरीय वस्त्र से घूंघट देकर शीघ्र ही इस

पसार । तत् किमत्र शरणं। भवतु त्वरीयेणावगुण्ठितस्त्वरितमस्माद्देशात्पलायिष्ये (तथा परिक्राम्यन्) दिष्ट्या निःशल्यः कुशल्यस्मि हन्त भोः ।

द्रविणस्यार्जनं द्यूते वेशे तस्य विसर्जनम् ।
एषामायव्ययद्वारे द्वे अपि व्यसने इमे ॥ ९ ॥

(कर्णं दत्त्वा) कुत खल्वाह्वानध्वनिः । (विभाव्य) कथं चन्द्रसेनाभवनात् । इह खल्वभ्रातप्रणयकेलीव्यतिकरमेकं मिथुनं प्रतिवसति । चन्द्रसेना वैशिकचकोरश्च । व्यभिचरति खल्वस्यामभिजातसौहार्दायां परवित्ताच्छेदनेन गणिकाकुलधर्मेण । यदनयोर्द्वन्द्वपदयोरिव वर्तते परस्परार्थसंक्रम । अतश्चैतदेवम् । यतः—

न बहुप्रेयसीन् पुंस कामिन्यो बहु मन्वते ।
पुमांसो बहु मन्यते बहुपुंसीर्न योषित ॥ १० ॥

स्थान से दौड़ जाऊँगा । (उसी प्रकार घूमकर) भाग्य से मैं निःशल्य तथा सकुशल हूँ । अरे दुःख की बात है—

द्रविणस्या—जुआ में धन कमाना और वेश्याओं में उसका खर्च करना ये दोनों ही इन लोगों की आमदनी तथा खर्च के द्वार हैं तथा दोनों ही व्यसन हैं ॥ ९ ॥

(कान देकर) बुलाने की आवाज कहाँ से आ रही है ? (विचार कर) क्या चन्द्रसेना के भवन से ? यहाँ जिसकी प्रेम-लीला कभी समाप्त नहीं होती ऐसा एक जोड़ा रहता है—चन्द्रसेना और वैशिक चकोर । कुलीन मनुष्यों जैसी मित्रता को धारण करनेवाली इस वेश्या में दूसरे के धनको झटकने रूप वेश्याओं का कुलधर्म व्यभिचरित हुआ है—इसमें वह दोष नहीं पाया जाता । इन दोनों दम्पतियों में द्वन्द्वसमास के पदों के समान परस्पर अर्थ का संक्रमण होता है इसलिये ये ऐसे हैं । क्योंकि—

न—बहुत स्त्रियोंवाले पुरुषों को स्त्रियाँ अच्छा नहीं मानतीं और बहुत पुरुषोंवाली स्त्रियों को पुरुष अच्छा नहीं समझते ॥ १० ॥

(पुनः कर्णं दत्त्वा) कथमिहैव भवनचंद्रशालायामपावृत्य गवाक्षं पत्या सह वीक्षमाणा चंद्रसेनेव व्याहरति । इयं खलु—

अश्रांतकांतसुरतक्लमनूतनोत्थ-
स्वेदोदबिंदुविसरार्द्रकपोलपालिः ।
मामाह्वयत्यलसविह्वलजिह्मदृष्टि-
र्निश्वासगद्गदगलत्प्रसरैर्वचोभिः ॥ ११ ॥

तल्पस्थितेयमुपधानविशिष्टहस्ता
न्यस्ताननना पुलकिनी प्रियभर्तुरंसे ।
आस्रस्तकेशरचनांतरितावतंसा
धत्तेवधानमिह मत्प्रतिपालनायाम् ॥ १२ ॥

भवतु संभाव्यैव गच्छामि । (उपसृत्य) अजय्यमस्तु युवयोस्संगतम् । किं ब्रूथ । अपि कुशलं भावस्येति । कथममुना कुशलपरिप्रश्नेनोद्घटितो

(फिर कान देकर) क्या यहाँ ही भवन की ऊपरी खण्ड पर झरोखा खोलकर पति के साथ देखती हुई चन्द्रसेना मानों बुला रही है ! सचमुचही यह

अश्रान्त—थकावट-रहित पति के संभोग-सम्बन्धी खेद से नवीन उठी हुई स्वेदजल की बूंदों के समूह से जिसकी कनपटी गीली है तथा जिसकी कुटिल दृष्टि आलस्य से विह्वल हो रही है ऐसी यह चन्द्रसेना श्वासोच्छ्वास के कारण गद्गद रूप से निकलते हुए वचनों से मुझे बुला रही है ॥११॥

तल्पस्थितेय—जिसका हाथ तकिया से युक्त है, जिसने प्रिय पति के कन्धे पर अपना मुख रख छोड़ा है, जिसको रोमांच निकल रहे हैं, तथा कुछ कुछ नीचे की ओर लटकते हुए केशविन्यास से जिसके कान के आभूषण छिप गये हैं ऐसी यह चन्द्रसेना यहां मेरी प्रतीक्षा में उपयोग लगा रही है ॥१२॥

खैर, मिलकर ही जाता हूं । (पास जाकर) तुम दोनों का संगम अजय्य रहे । क्या कह रही हो ! आप अच्छी तरह तो है ! यह कह रही हो क्या ! क्या इस कुशल-प्रश्न से मेरा चिर काल से न मिलने का अपराध प्रकट

मे चिरादनवलोकनातिक्रमः । सखायो मास्म मामुपालभेथा अपराध्यत्यत्र सुलोचनास्वयंवरयात्रा । यद्विप्रकृष्टसंनिविष्टराजान्तरशिबिरनिरीक्षणकौतुकेन परिभ्रमतां तृतीयोऽयं दिवसः । किमाहतुः । क्षान्तं हि चापराद्धमिति । एष इदानीं निष्कृतनिजातिक्रमदुष्कर्मा महाकविप्रबन्धस्येव नित्यप्रवृत्तसुखशय्यस्यास्य मिथुनस्य सौखशायिको भवामि । किमाह भवती चङ्क्रमणचपलस्येव बालकस्यान्तर्गृहे निरुध्यमानस्य कुतस्ते प्रियसुहृदः सौख्यमिति । अलं कथान्तरव्याजेनात्मनः सौभाग्यकथया । किमाह भवती । कम्पितास्मि अलंक्रियतामर्धं शय्याया इति । आसु सुलोचनास्वयंवरयात्रां प्रत्यवेक्ष्योपावर्तिष्ये । तदलमतिप्रणयेन । किमाह भवान् । दृश्यतां भवता स्वयंवरयात्रा । अहं पुनस्त्वन्मुखाच्छ्रोष्यामीति । (सस्मितं) अहो चापलमत्र भवतः । यद्वा किंवदन्तीश्रवणदानमपि गृहस्थूणस्यैवादृष्टबहिर्गृहस्य सख्युर्नाल्पीयः । (सस्मितम्)। अथवा प्रवर्तयतु तथापि स्वयंवरयात्रां चन्द्रसेना । कथं ह्रियोत्तरमसौ पत्युरुरसि पतिता ।

किया है ? मित्रो ! मुझे उलाहना मत दीजिये यहाँ सुलोचना की स्वयंवर-यात्रा अपराध कर रही है क्योंकि दूर दूर से आकर ठहरे हुए भिन्न भिन्न राजाओं के शिबिर देखने के कौतुक से घूमते हुए हमारा यह तीसरा दिन है। क्या कहा ? तो क्षमा कर दिया यह कह रही हो ? अब निरपराध होकर मैं महाकवि के प्रबन्ध के समान निरन्तर बिछी हुई सुख-शय्या से युक्त इस दम्पती का कुशल-समाचार पूछनेवाला होता हूँ। क्या कहा आपने ? क्या यह कह रही हो कि घर के भीतर रोके हुए भ्रमणशील बालक के समान तुम्हारे प्रिय मित्र को सुख कैसे हो सकता है ? दूसरी कथा के बहाने अपने सौभाग्य की कथा रहने दो। क्या कहा आपने ? क्या यह कह रही हो कि मैं काँप रही हूँ, यह शय्या का अर्धभाग अलंकृत कीजिये ? सुन्दरि ! सुलोचना की स्वयंवर-यात्रा देखकर लौटूँगा इसलिये अधिक आग्रह रहने दीजिये। क्या कह रहे हैं आप ? क्या यह कह रहे हैं कि आप स्वयंवर यात्रा देखिये, मैं आपके मुख से सुन लूँगा। (मुसका कर) अहा, यहाँ आपकी बड़ी चपलता है। अथवा घर के खूटा के समान जिसने घर बाहर का भाग नहीं देखा है ऐसे मित्र के लिये समाचारों का सुना देना भी कम बात नहीं है। (मुसका कर) अथवा चन्द्रसेना तुम्हारी भी स्वयंवर-यात्रा रचावें। क्या

भवतु साधयामस्तावत्। (परिक्रम्यावलोक्य च) कथमसौ जरत्कूपिका वाराणस्याः प्रदीपच्छाया मदनभानोरकालपलितं तरुणानां सिनीवाली सुरतचंद्रातपस्य जंगमचंचा वेशवाटस्य संमार्जनी स्त्रैणस्य विडंवयंती विलासिनीविभ्रमान्निजोदवसितालिदवितर्दिकां दूषयंती भोगवत्या माता निपादवती। या खलु-

यतस्ततस्सूतविशीर्णसूत्रा पुराणकंथेव शिरालदेहा।
अमुंचती मंडनमं नार्हं चलत्यचारु प्रचलाकिकेव ॥ १३ ॥

अपि चास्याः—

मूले वालयवप्ररोहधवलान् लब्धस्वभावांस्ततो
मांजिष्ठप्रसरच्छवीनथ चरत्कंकेलिनालारुणान्।
पश्चान्मुग्धशिरीषकेसररुचः प्रांते च काकच्छद-
च्छायान्मूर्ध्नि कचान् करोत्यपसरन्नीलीरसो भावितः ॥१४॥

हँसकर चन्द्रसेना पति की छाती पर जा पड़ी ! अच्छा, अब जाते हैं। (घूमकर तथा देखकर) क्या यह वाराणसी की पुरानी कुइया, कामरूपी सूर्य के लिये दिखाई हुई दीपक की छाया, तरुण पुरुषों की असमय में प्रकट हुई वालों की सफेदी, सुरतरूपी चाँदनी के लिये अमावस, वेश्याओं के मोहल्ला की चलती-फिरती तृणनिर्मित स्त्री, स्त्री-समूह की झाड़ू, और स्त्रियों के हावभावों को विडम्बित करती एवं अपने भवन के अग्रभाग के चबूतरे को दूषित करती हुई भोगवती की माता निपादवती है !

यतस्ततः—जिसमें जहाँ-तहाँ से सूत लटक रहे हैं ऐसी पुरानी कथरी के समान इसका शरीर नसों से व्याप्त हो रहा है उतने पर भी यह स्त्रियों के योग्य आभूषणों को नहीं छोड़ रही है तथा मयूरी के समान भद्दी चाल से चलती है ॥ १३ ॥

मूले—इसने सिर पर जो खिजाब लगा रक्खा है वह अधिक हो जाने से कुछ कुछ अलग निकल रहा है तथा वालों की जड़ में जौ के नवीन अङ्कुरों के समान सफेद, फिर कुछ मटमैला, पश्चात् मंजीठ के रङ्ग जैसा खैरा, फिर अशोक की हिलती हुई नाल के समान लाल, फिर सुन्दर शिरीष की केसर के समान, हरा और अन्त में कौए के पङ्ख के समान काला कर रहा है ॥ १४ ॥

हंत भो, अनया खल्वयथार्थनाम्ना भोगवती जाता येन सा भूताविष्टेव समय परिहीयते। ग्रहगृहीतेव न विश्वस्यते विषदूषितेव वापिका नास्वाद्यते। विषधराधिष्ठिता चंदनलता नोपसेव्यते। किंच बहुना चण्डालिका तु सा सम्प्रति चण्डालिकेव दूरे स्पर्शस्यानिसर्गाश्लीलमुखराया (हृदय इवात्मनो बहिर्द्वारे) भवने को वासरमेकं लगति। तथा हि—

निष्कामयत्येकत एकमेषा प्रवेशयत्यन्यमथान्यतश्च।
पतिं सुतायाः कपटोत्कटाभिः स्वाशावतारैरिव कुट्टिनीभिः ॥१५॥
इदं च पुनः समर्थये।
निर्दोषा भणितिर्निसर्गमधुरा निर्मत्सरा शेमुषी
निष्पापा नृपता जगद्बहुमता गीतिश्च निर्वैकृता।
निर्दोषा चरितस्थितिर्गुणवती वेश्या च निर्मातृका
यत्सत्यं बहुनापि भाग्यवसुना लभ्येत वा नैव वा ॥ १६ ॥

बड़े दुःख की बात है कि इस बुढ़िया के कारण भोगवती अयथार्थ नाम-वाली हो गई क्योंकि लोग उसे भयपूर्वक ऐसा छोड़ देते हैं जैसे उसे भूत लग रहा हो। पिशाच से ग्रहीत के समान उसका विश्वास नहीं किया जाता, विष से दूषित बावड़ी के समान उसका स्वाद नहीं लिया जाता और सांप से युक्त चन्दनलता के समान उसका कोई सेवन नहीं करता। अधिक क्या? उसकी सदा टेवरी चढ़ी रहती है वह इस समय चण्डाली के समान स्पर्श से दूर है। स्वभाव से ही अश्लील बोलनेवाली उस बुढ़िया के मकान पर कौन अपना एक क्षण भी लगाता है? क्योंकि—

निष्कामय—यह अपने ही अंश के अवतारों के समान कपट से भरी हुई कुट्टिनियों के द्वारा पुत्री के एक पति को एक ओर से बाहर निकालती है तो दूसरे पति को दूसरी ओर से भीतर प्रवेश कराती है ॥ १५ ॥

निर्दोषा—मैं तो ऐसा समझता हूँ कि दोष से रहित स्वभाव, सुन्दर सूक्ति, ईर्ष्यारहित बुद्धि, पाप से रहित सर्वप्रिय राज्य, निर्विकार गीति, निर्दोष चारित्र की स्थिति, और गुणवती तथा माता से रहित वेश्या, यह सच है कि बहुत भारी भाग्यरूपी धन से मिलती है अथवा नहीं ही मिलती है ॥ १६ ॥

सर्वमेतदास्ताम् । इदं तु पुनरत्र दुनोति । यदद्याप्यसौ तरुणीमन्या झर्झरखर्जूरकमवरुद्धवती न जातूज्झति स्वयं वृषस्या । कथमाह्वयत्यपि । हंत ध्वस्तोऽस्मि । भवतु (उपसृत्य) किमपि व्याजं कृत्वा गमिष्यामि । (हास्यं निरुंधन्) अथवा व्याजीकरणमपि नास्यां अर्थक्रियां प्रवर्तयति । (उपसृत्य) वासु निषादवति सुभगा भव । अथ वयस्यखर्जूरकोऽप्यत्र । किं ब्रवीषि । न जानीम एव तमिति । हंत साधुकृतं खर्जूरकेण । किं भवत्या अपि झर्झरवादनमेव तस्मै स्वदते । एपोऽहमर्धचंद्रकं कृत्वा तमानेष्यामि । मा कदाचिदपि भूर्निषादवती विषादवती । किमाह भवती । कुतो मे विषादः । यदा भाव एवैवं वर्तते इति । वासु तदयमद्यापृच्छे । किं ब्रवीषि, कदा पुनर्भावो द्रष्टव्यः । न खल्विहागत्य युक्तं मित्रदुहितरमसंभाव्य गंतुमिति । वासु सखर्जूरकमद्यैव मां द्रक्ष्यसि । किमाह भवती । तेन हि गम्यतामिति । साधयामस्तावत् ।

खैर यह सब रहे, मुझे तो यहां यह बात दुखी करती है कि यह आज भी अपने आपको युवती समझ रही है तथा स्वयं उपभोग की इच्छा रखती हुई झर्झर खर्जूरक को सदा रोके रखती है उसे कभी छोड़ती भी नहीं है । क्या बुला भी रही है ? हाय मरा । खैर, (पास जाकर) कुछ बहाना कर चला जाऊँगा (हास्य को रोकता हुआ) अथवा इसके विषय में बहाना करना भी सफलता प्राप्त नहीं कराता । (पास जाकर) सुन्दरि निषादवति ! सौभाग्यवती होओ । क्या मित्र खर्जूरक भी यहीं हैं ! क्या कह रही हो ? क्या यह कह रही हो कि हम तो उसे जानती ही नहीं हैं ? प्रसन्नता की बात है ? खर्जूरक ने ठीककिया । क्या आपका भी झर्झर-वादन उसके लिये अच्छा लगता है । यदि अच्छा लगता हो तो यह मैं अर्धचन्द्रक-गले में हाथ देकर ले आऊंगा । निषादवती कभी विषादवती मत होओ । क्या कहा आपने ? क्या यह कहा कि मुझे विषाद क्यों होने चला जब कि आपही इस तरह विद्यमान हैं । तो सुन्दरि ! आज यह आपसे जाने की आज्ञा चाहता है । क्या कह रही हो ? क्या यह कह रही हो कि फिर कब दर्शन दीजियेगा ? यहां आकर मित्र की लड़की से विना मिले जाना अच्छा नहीं है ? सुन्दरि ! खर्जूरक के साथ मुझे आज ही देखोगी । क्या कहा आपने ? क्या यह कहा

(परिक्रम्यावलोक्य च) इयं खलु जरत्तिशाचिकादर्शनप्रायश्चित्तं लोचनाभ्यामिव हि वैजयंती मकरकेतोरवलेपस्तारुण्यस्य पुण्यं लावण्यस्य भाग्यं सौभाग्यस्य माणिक्यं गाणिक्यस्य चन्द्रिका जगन्नयनचकोरकाणां चन्द्रमत्या दुहिता रतिचन्द्रिका नाम मत्तकाशिनी प्रकाशितकाशीराजपुरी यशोवैभवारव भवनप्रान्तवर्तिन. शिक्षागृहात्सङ्गीतयोग्याजनितश्रमरमणीया निर्गच्छति। यासौ—

आबद्धचण्डातकपीड्यमान—मध्यस्फुटालक्ष्यगभीरनाभिः ।
प्रस्वेदसुस्निग्धशरीरयष्टिर्विभाति विभ्रान्तविशालदृष्टिः ॥ १७ ॥

किंच ।

मुहुर्नृत्याभ्यासव्यतिकरचलन्मौक्तिकलता-
समुन्मृष्टाच्छाच्छस्तनमलयजालेपरुचिरा ।

है कि तो आप जाइये । अच्छा जाते हैं । (घूमकर और देख कर) सचमुच ही यह नेत्रों के लिये बूढ़ी चुड़ैल के देखने का प्रायश्चित्त है, यह कामदेव की पताका है, यौवन का गर्व है, सौन्दर्य का पुण्य है, सौभाग्य का भाग्य है, वेश्या-समूह का शिरोमणि है, जगत् के नेत्ररूपी चकोरों के लिये चादनी है, यह चन्द्रमती की पुत्री रतिचन्द्रिका नाम की सुन्दरी है,इसने काशीराजपुरी वाराणसी को प्रकाशित कर रक्खा है, यश ही इसका धन है, सङ्गीतके अभ्यास से उत्पन्न श्रम से इसकी सुन्दरता निखर रही है तथा यह अपने मकान के समीपवर्ती शिक्षागृह से बाहर निकल रही है ।

आबद्ध—कसे हुए लहँगा से पीड़ित मध्यभाग के कारण जिसकी गहरी नाभि साफ साफ नहीं दिख रही है, जिसकी शरीर-यष्टि अत्यधिक पसीना से तर है एवं जिसके बड़े बड़े नेत्र इधर-उधर घूम रहे हैं ऐसी यह रतिचन्द्रिका अत्यधिक सुशोभित हो रही है ॥ १७ ॥

और भी—

मुहु—बार बार नृत्य के अभ्यास-सम्बन्धी कार्य से हिलती हुई मोतियों की माला के द्वारा स्तनों पर लगे हुए चन्दन के निर्मल लेप के पुछ जाने से जो अधिक सुन्दर जान पड़ती है और बहुत देर तक परिश्रम करने के

चिरायासश्रान्यच्चरणशिथिलन्यासमधुरा-
रणन्मंजीरेयं मदयति मनो रंजयति च ॥ १८ ॥

यावदस्याः सौवस्तिको भवामि। (उपसृत्य) स्वस्ति भवत्यै। सुन्दरि! कृतं नृत्तायत्ताभ्यां हस्ताभ्यामंजलिबंधेन।

(सस्मितम्)

उन्मार्जितेपि बहुले हरिचंदनेस्मिन्
प्रव्यक्तनेव निबिडस्तनि दृश्यमानः।
लाक्षारसेन रचितः कुचकुंभपीठे
धन्यस्य कस्य वदने च विशेषकोऽयम् ॥ १९ ॥

कथमदस्तस्याः सत्वरपरावर्तननर्तितस्तनकलशा सविलासविनिहितकरतलस्थगितस्तनतटोत्संगा सलीलचलनवाचालितमेखलाकलापा सवैलक्ष्यतिर्यक्कृतचिकुरलोचना सविभ्रमाकुंचितलज्जास्मितविकसितकपोलतलातूर्णपदमुखर-

---

कारण थके हुए चरणों के मन्द-मन्द निक्षेप से जिसके नूपुर मधुर शब्द कर रहे हैं ऐसी यह रतिचन्द्रिका मन को मत्त करती है तथा आनन्दित करती है ॥ १८ ॥

अच्छा, इसका कुशल समाचार पूछने वाला होता हूँ। (पास जाकर) भला हो आपका। सुन्दरि! तुम्हारे हाथ नृत्य के आधीन है—नृत्य-कला में व्यग्र है अतः उनसे अञ्जलि बांधना रहने दो!

(मुसकुरा कर)

उन्मार्जितेऽपि—हे पीनस्तनि! पुछ जाने पर भी जो अधिक गाढ़ा दिख रहा है ऐसे इस हरिचन्दन के बीच स्पष्ट दिखाई देनेवाला यह तिलक, तुम्हारे स्तनकलश के पृष्ठ पर तथा मुख के ऊपर किस भाग्यवान् ने लाख के रङ्ग से बनाया है? ॥ १९ ॥

शीघ्रता से घूमने के कारण जिसके स्तन-कलश हिल रहे हैं, विलास सहित रखे हुए करतल से जिसने स्तन तट के मध्यभाग को छिपा रक्खा है, लीलासहित चलने से जिसकी मेखला की लड़े रुन-झुन कर रही है, लज्जा के कारण जिसने अपने पक्ष्मल नेत्र कुछ तिरछे कर लिये हैं, हावभाव के साथ प्रकट हुई लज्जा और मन्द मुसकान से जिसके कपोलतल खिल

नूपुरमसौ स्वभवनद्वार एवान्तरिता। चिरादवाप्तमुन्मेषेण फलमीक्षणाभ्याम्। भवतु साधयामस्तावत् (परिक्रम्य) कथमसावशोकतिलकायास्सुता केलीमती-बाल्यसुलभसुकुमारचापला सत्वरमागत्य मा हस्ते गृह्णाति (निर्वर्ण्य) अहो लालनीयता बाल्यस्य। तथाहि—

> गतिर्लीलालोला-तरलतरलं चारु च वच.
> स्फुरद् दन्तज्योत्स्नाप्रसररमणीय विहसितम्।
> स्तनौ नोद्भिद्येते न च विचरत. साचि नयने
> किमप्यस्या बाल्य हरति तरुणिम्नोपि हृदयम्॥ २०॥

मद्रे किं ब्रवीषि। आह्वयति मातमर्युकेति। (ऊर्ध्वं विलोक्य) कथमशोकलतिकापि द्वितीयस्या प्रासादभूमौ गोपानसीमध्यासीना विडम्बयन्ती विमानारूढा दिव्ययोषितमित एव दत्तदृष्टिर्मां प्रतीक्षते। भवतु प्रवेक्ष्यामि। (प्रविश्य)

रहे हैं ऐसी यह रतिचन्द्रिका कुछ उत्तर दिये बिना ही क्या शीघ्रता से उठाये हुए पदों से नुपुरों को शब्दायमान करती हुई अपने मकान के द्वार में ही छिप गई! बहुत दिन बाद नेत्रों ने खुले रहने का फल प्राप्त कर लिया। खैर, अब जाते हैं। (घूम कर) क्या यह अशोकलतिका की पुत्री केलीमती जो अत्यधिक लड़कपन के कारण प्रकट हुई सुकुमारता और चपलता से युक्त है, जल्दी आकर मेरा हाथ पकड़ रही है। (देख कर) अहा, लड़कपन की बड़ी सुन्दरता है। जैसे—

गतिर्लील।—इसकी गति लीलासे चञ्चल है, वचन अत्यन्त चञ्चल तथा सुन्दर है, हँसना दातों की प्रकट होती हुई किरणों के समूह से मनोहर है, अभी स्तन प्रकट नहीं हो रहे हैं और न आखें ही तिरछी चलती हैं। इसका अद्भुत लड़कपन तो यौवन के भी हृदय को हर रहा है॥ २०॥

मद्रे! क्या कह रही है? क्या यह कह रही है की माँ आपको बुला रही है! (ऊपर की ओर देख कर) क्या अशोकलतिका भी दूसरे खण्ड पर छप्परों में बैठी हुई विमान में स्थित देवी को तिरस्कृत कर इसी ओर दृष्टि डाले मेरी प्रतीक्षा कर रही है? अच्छा, प्रवेश करूँगा। (प्रवेश कर) यह

इयं सोपानपंक्तिः । यावदारोहामः । (नाटयेनारुह्य) वासु कल्याणिनी भव । किं ब्रवीषि । संनिहितामम्ूं पर्यंकिकामलंकरोतु भाव इति । यथाह भवती । (उपविश्य) वासु किमिदं गवाक्षजालांतरिता विदूरे वर्तसे । कथं सविभ्रमोन्नमितभ्रूलतमसौ स्मयमानविलोचना न किमपि ब्रवीति । भवतु कथितमनया पुष्पवत्त्वम् । वासु कः खलु वराकः पुष्पवतीमशोकलतिकामसंभावयति । कृतं व्रीडितेन । किं ब्रवीषि । इहागच्छतो हास्तिनपुरवास्तव्यस्य नंद्यावर्तनाम्नः कौरवेश्वरप्रियानुचरस्य त्रीणि दिनानीति । तेन हि लब्धमेव देशांतरपरिभ्रमणफलं नंद्यावर्तेन ।

अथ कीदृशो गुणैर्नंद्यावर्तः । किं ब्रवीषि । न क्वापि हीयते वाराणसी विटपमहत्तरादार्यभद्रिलकादिति । कथं मयैवोपमीयते । भवत्विदमुपालभ्यते ।

सीढ़ियों की पङ्क्ति है । अब चढ़ता हूँ ! (अभिनय द्वारा चढ़कर) सुन्दरि ! कल्याणवती होओ । क्या कह रही हो ! क्या यह कह रही हो कि उस पास पड़ी हुई पलकिया को आप सुशोभित कीजिये । जैसा आप कहती हैं (बैठकर) सुन्दरि ! यह क्या ? झरोखे की जाली से छिप कर दूर क्यों खड़ी हो ? क्या विलासपूर्वक भौंह ऊपर चढ़ा कर नेत्रों को विकसित करती हुई यह कुछ नहीं कह रही है ? खैर इसने कहा है कि मैं पुष्पवती—ऋतुमती हूँ । सुन्दरि ! कौन बेचारा फूली हुई अशोक—लतिका का असम्मान करता है ? लज्जा करना व्यर्थ है । क्या कह रही हो ! क्या यह कह रही हो कि हस्तिनापुरवासी कौरवेश्वर-जयकुमार के प्रिय सेवक नन्द्यावर्त को यहां आते तीन दिन हो गये हैं ? तब तो नन्द्यावर्त ने दूसरे देश में घूमने का फल प्राप्त कर ही लिया ।

अच्छा बताओ नन्द्यावर्त गुणों से कैसा है ? क्या कह रही हो ? क्या यह कह रही हो कि वाराणसी के विट—शिरोमणि आर्य भद्रिलक से किसी भी बात में कम नहीं हैं ? क्या मुझसे ही उपमा दी जा रही है ! अच्छा यह उलाहना देता हूं ।

कथं स कामी पुरुषार्थवित्स्याद्विहाय यस्सम्प्रति वर्तते त्वाम्।
अमोघमस्त्रं ननु पुष्पवृद्धि त्वं पुष्पिता पुष्पशरासनस्य ॥२१॥

किं ब्रवीषि । कुतः पुनर्भवनमप्रविश्य भवन गन्तुमुत्क्रान्तमिति । बालु समागतवति स्वयंवरयात्रायै राजानस्तद्दर्शनचापलमत्र मा चलयति । किं ब्रवीषि । तेन हि स्वैरमिहैवास्यताम् । एष हि स्पष्टमेव निरीक्ष्यते पार्श्वतो राजमार्गः । कियती च वेला पुनरित एव प्रविशमानानां राज्ञामिति । (विलोक्य) कथं प्रवृत्तमेव गन्तुमितो नृपतिभिः । किं ब्रवीषि । अयं कोऽयं पार्श्वचरेण चामरग्राहिणानुगम्यमानो वल्गु वल्गन् महाप्रमाणमाजानेयमारुह्य राजमार्गमवगाहत इति । (विमाध्य) अयं खल्वनिल्वाटेश्वर कुन्जराजस्य पाता । तथाहि—

स्थगितजठरभागा श्मश्रुभिर्लम्बमानै-
र्निशितधवलधारान् बिभ्रतो मण्डलाग्रान् ।

कथं स—वह कामी पुरुषत्व को जाननेवाला कैसे हो सकता है ? जो कि इस समय तुम्हें छोड़ कर अलग रहा है । हे कुसुम-सुकुमाराङ्गि ! तुम पुष्पवती क्या हो ! सचमुच ही कामदेव का अमोघ शस्त्र है ॥ २१ ॥

क्या कह रही हो ? क्या यह कह रही हो कि आप मकान में प्रवेश किये बिना ही क्यों आगे बढ़े जा रहे थे ? सुन्दरि ! स्वयंवर-यात्रा के लिये राजा लोग आ रहे हैं उनके देखने की चपलता मुझे यहां चला रही है । क्या कहती हो ? क्या यह कहती हो कि तो अच्छी तरह यहीं बैठ जाइये । यह पास ही लगा हुआ राजमार्ग दिखाई देता है । राजाओं को यहां से जाते हुए कितनी ही देर हो गई है ! (देख कर) क्या राजाओं ने यहाँ से जाना शुरू कर ही दिया ! क्या कह रही हो ! क्या यह कह रही हो कि अच्छा बताओ पास में चलनेवाले चामरग्राही से अनुगत होता हुआ यह कौन सुन्दर चाल से चलते हुए बहुत ऊँचे कुलीन घोड़े पर बैठ कर राजमार्ग में प्रवेश कर रहा है ! (विचार कर) क्या यह अनिल्वाट का राजा कुञ्जराज का रक्षक है !

क्योंकि—

स्थगित—लम्बी-लम्बी दाढ़ी से जिनके पेट ढक रहे हैं , जो पैनी तथा

अनतितरलयातास्तं पतिं सूचयन्ति
प्रकृतिसरलगात्रास्सैनिकाः कौञ्जरात्राः ॥ २२ ॥

किं ब्रवीषि । कः पुनरयमतिरयतूर्णपदगामिनं वानायुकप्रवेकमारुह्य प्रयातीति । (विभाव्य) कथमसावधिष्ठानस्याधिष्ठाता काश्मीरेश्वरः । तथाहि—

तूणीरिणः स्थूलकठोरवेणुनिर्माणबाणासनपाणयोऽमी ।
गौरत्विषः कर्कशबभ्रुकेशाः काश्मीरनाथं कथयंति सैन्याः ॥ २३ ॥

किं ब्रवीषि । कः पुनरसौ विंध्यशिखरोदग्रकायमाबद्धनक्षत्रमालोज्ज्वलनेपथ्यं स्थूलपृष्ठं विंध्यसिंधुरपृष्ठमधिरुह्यायातीति । (विभाव्य) कममसौ आन्ध्रदेशाधिपतिः विजयवाटीपतिः । तथा ह्यमी—

सफेद धारोंवाली तलवारों को धारण कर रहे हैं, जिनकी चाल अधिक चञ्चल नहीं हैं और जिनका शरीर स्वभाव से ही सीधा-लम्बा है ऐसे कुञ्जरात्र के सैनिक अपने स्वामी को सूचित कर रहे हैं ॥ २२ ॥

क्या कह रही हो ? क्या यह कर रही हो कि तीव्र वेग से जल्दी जल्दी उठनेवाले पैरों से चलनेवाले श्रेष्ठ घोड़े पर सवार होकर यह कौन जा रहा है ?

(विचार कर) क्या यह अधिष्ठान नगर के शासक काश्मीरेश्वर है ? क्योंकि—

तूणीरिण—जो तरकश बाँधे हुए हैं, मोटे और कड़े बांशों से निर्मित धनुप जिनके हाथों में हैं, जिनकी कान्ति गौर वर्ण है तथा जिनके केश कड़े एवं पीले रङ्ग के हैं ऐसे सैनिक काश्मीर के राजा को सूचित कर रहे हैं ॥२३॥

क्या कह रही हो ? क्या यह कह रही हो कि विन्ध्याचल की शिखर के समान उन्नत शरीर, पहिनी हुई नक्षत्रमाला से देदीप्यमान वेप के धारक, एवं चौड़ी पीठवाले विन्ध्यगिरि के श्रेष्ठ हाथी की पीठ पर सवार होकर कौन आ रहा है ?

(विचार कर) क्या यह आन्ध्रदेश का राजा विजयवाटी (वैजवाड़) नगरी का स्वामी है ? क्यों कि ये—

प्रांशुप्रतीका प्रकृतिप्रगल्भा' प्रायेण कालागरुकालवर्णाः।
कृतान् वहतो गुरुदीर्घदण्डानान्ध्राधिराजस्य चरति सैन्या ॥२४॥

किं ब्रवीषि।

कः पुनरसौ महाप्रमाणवाह्लिकनिर्विशेषवर्ष्मामनाकुलचरणविन्यासा विभाव्यमानगमनजवा वेसरवधूमारुह्यातिवर्तते इति। (विभाव्य) अथ खलु कर्नाटकभूमे पालयिता मान्यखेटाधिपति। तथाहि। अमु परित.—

उत्कीर्णशङ्खमणिदामपरीतकण्ठा
प्रालम्बकर्णविनिवेशितदन्तपत्रा।
कर्नाटका विकटविस्मयनीयवेषा
शक्त्युद्यताः प्रथितशक्तय आपतति ॥ २५ ॥

किं ब्रवीषि। क पुनरसौ सत्वरितचटुलगामिनि कर्कशवपुष विक्रमारूढः

प्रांशु—जिनके शरीर अत्यन्त ऊँचे हैं, जो स्वभाव से गम्भीर हैं, प्रायः कर जो कालागुरु चन्दन के समान श्याम वर्ण हैं और जो बड़े-बड़े डण्डों वाले भालाओं को धारण कर रहे हैं एसे ये आन्ध्रदेश के राजा के सैनिक घूम रहे हैं ॥ २४ ॥

क्या कह रही हो ! क्या यह कह रही हो कि बहुत बड़े घोड़े के समान ऊँचे शरीरवाली, बिना किसी व्यग्रता के चरण रखनेवाली एव साफ साफ दिखने वाले गमन के वेग से युक्त ऊँटनी पर चढ़ कर यह कौन जा रहा है ! (विचार कर) सचमुच ही यह कर्नाटक की भूमि का रक्षक, मान्य-खेट का स्वामी है क्योंकि इसके चारों ओर—

उत्कीर्ण—जिनके कण्ठ शङ्ख से युक्त मणियों की माला से सहित हैं, जिन्होंने लम्बे लम्बे कानों में कर्णाभरण पहिन रक्खे हैं, जिनका वेष अत्यन्त आश्चर्यकारक है, जो शक्ती नामक शस्त्र को उठाये हुए हैं तथा जिनका पराक्रम अत्यन्त प्रसिद्ध है ऐसे ये कर्नाटक देश के सैनिक चल रहे हैं ॥२५॥

क्या कह रही हो ! क्या यह कह रही हो कि शीघ्रता से युक्त चपलता पूर्वक चलनेवाले एवं कठोर शरीर के धारक छोटे कद के हाथी पर बैठा

पादचारिभिरेव छत्रधारिभिरासेव्यमानः सत्वरमभ्येतीति । (विभाव्य) कथमसौ चोलेश्वरः खरपुराधिपतिः । तथाहि—

कौक्षेयकान् कुंचितकुब्जपृष्ठान् धनूंषि वार्शाणि च विभ्रतोमी ।
वेषैरनत्युद्भटदर्शनीयैश्चोलेश्वरं चोलभटा ब्रुवंति ॥ २६ ॥

किं ब्रवीषि । कः पुनरसौ नातितूर्णगमनांदोलिताभोगकिंकिणीझणझणारवमुखरं करिकलभमारूढ इति । (विभाव्य) कथमसौ दक्षिणमथुराधिपतिः पाण्ड्यः । तथाहि—

शिखंडिबर्हाग्रपिनद्धचूडाः प्रौढानि तालानि शरासनानि ।
वहंति मुक्तांचितहेमपत्र-कर्णा अमी पांड्यनरेन्द्रसैन्याः ॥२७॥

हुआ तथा पैदल चलने वाले छत्रधारियों से सेवित यह कौन जल्दी जल्दी सामने आ रहा है ?

(विचार कर) क्या यह चोल देश का राजा खरपुर का स्वामी है ? क्योंकि—

कौक्षेयकान्—कुछ टेढ़ी पीठवाली तलवारों, धनुषों और बरछियों को धारण करनेवाले ये चोलदेश के सैनिक कुछ कुछ उद्दण्ड एवं दर्शनीय वेष से चोल देश के राजा को सूचित कर रहे हैं ॥ २६ ॥

क्या कह रही हो ? क्या यह कह रही हो कि मन्द मन्द चाल से हिलती हुई, क्षुद्र घण्टिकाओं के झण झण शब्द से शब्दायमान हाथी के बच्चे पर बैठा हुआ यह कौन है ? (विचार कर) क्या यह दक्षिण मथुरा का राजा पाण्ड्य है ? क्योंकि—

शिखण्डि—जिनकी बँधी हुई चोटी के अग्रभाग में मयूर-पिच्छ की कलगी लग रही है तथा जो कानों में मोतियों से जडित सुवर्णमय पत्र को पहिने हुए हैं ऐसे ये पाण्डय नरेश के सैनिक ताड़ वृक्ष से निर्मित धनुषों को धारण कर रहे हैं ॥ २७ ॥

किं ब्रवीषि ! कः पुनरयमादोलिकाधिरूढो निभृतमदगामिपरिजनो राजन्य इति । (विभाव्य) कथं केरलपालो महोदयपुराधिपतिः ।

अमी हि—

आगुल्फदीर्घच्छुरिकापिनद्ध-कटीतटाःसव्यकरात्तचापाः ।
करे परस्तीक्ष्णमुखान् वहन्ति शिलीमुखान् केरलनाथसैन्याः ॥२८॥

किं ब्रवीषि ! कथमसावचपलखेलस्थूलोच्चयगामिनीं करेणुकामारूढः कौरवेश्वरो दृश्यते इति । (विलोक्य) सुतनु केनाभिज्ञानेन कौरवेश्वरमज्ञासीः । (विभाव्य) नूनमसावमुष्याग्रतः सम्मुखमासीनः स एव भवत्या पतिर्नन्द्यावर्तः । यतः सोऽपि नात्र लग्नां दृष्टिं प्रत्याच्छिनत्ति । कथममुना स्मितेनैव अनुज्ञातव्य-

---

क्या कह रही हो ? क्या यह कह रही हो कि पालकी पर बैठा तथा निश्चिन्तता के साथ धीरे धीरे चलनेवाले परिजनों सेवकों से सहित यह कौन राजकुमार है ! (विचार कर) क्या केरल देश का रक्षक महोदयपुर का स्वामी है ?

क्योंकि ये—

आगुल्फ—जिनकी कमर में घुटनों तक लटकनेवाली छुरियां बँधी हुई हैं, और जो बाये हाथ में धनुष लिये हुए हैं ऐसे ये केरल नरेश के सैनिक दाहिने हाथों से पैनेपैने बाण लिये हुए हैं ॥ २८ ॥

क्या कह रही हो ? क्या यह कह रही हो कि गम्भीर क्रीडा से युक्त स्थूलोच्चय—गतिविशेष से चलनेवाली हस्तिनी पर बैठा हुआ यह कौरवेश्वर—कुरुदेश का राजा—जयकुमार दिखाई दे रहा है ? (देख कर) सुन्दरि ! किस चिह्न से तुमने कौरवेश्वर को पहिचान लिया ? (विचार कर) जान पड़ता है जो इसके आगे सामने मुख कर बैठा है वही आपका पति नन्द्यावर्त है क्योंकि वह भी तो इधर लगी हुई दृष्टि को नहीं हटा रहा है । क्या इस मन्द मुसक्यान के द्वारा ही नन्द्यावर्त आपके प्रति अपना वास्तविक भाव प्रकट करने के योग्य है ? अच्छा रहने दो इसे, बताओ इन

महंत्येव सत्यमत्रभवती नंद्यावर्तः। तिष्ठत्वेतत्। कथय कतमः खल्वत्र काशी राजस्य जामाता भविष्यति। किं ब्रवीषि। श्रुतं मया नंद्यावर्तमुखात् द्विःकिल वृत्तम्। सुलोचनामेवेश्वरयोः परस्परदर्शनमनुरागश्च गरीयान् तथा तथा प्रकटित इति। इति युज्यत एतत्। कुमुदाकरमेव हि कौमुदी संभावयति। व्यज्यते चास्योत्कंठतानेन लिंगेन। अस्य हि—

तंद्रालसानि सुहृदा, सह भाषितानि
निद्रात्ययादिव जडानि निरीक्षितानि।
चिंताभरोपहितपांडिमगंडशोभं
प्रम्लानकोकनदमंथरकांति, वक्त्रम्॥ २९॥

वासु गतस्सर्वो राजलोकः। यावदहं गत्वा स्वयंवरवृत्तान्तं जानामि। किमाह भवती। तेन हि गम्यतामिति (उत्थाय) वाराणसीसारयौवने मेयश्वर-

---

कह रही हो कि मैंने नन्द्यावर्त के मुख से दो बार का हाल सुना है सुलोचना और जयकुमार का परस्पर दर्शन हो चुका है और उस दर्शन में विभिन्न प्रकार से बहुत भारी अनुराग प्रकट किया गया है। यह तो ठीक है चांदनी कुमुदों के समूह को ही सम्मानित करती है। इस वेष से इसकी उत्कण्ठा भी प्रकट हो रही है।

क्योंकि—

तन्द्रालसानि—इसकी मित्र के साथ जो बात हो रही है वह आलस्य से परिपूर्ण है, इसका अवलोकन निद्रा के आक्रमण से ही मानों जड़ हो रहा है तथा इसका मुख चिन्ता के भार से प्राप्त सफेदी से युक्त गालों से सुशोभित और मुरझाये हुए लाल कमल के समान मन्द कान्ति से सहित है॥ २९॥

सुन्दरि! सब राजा जा चुके हैं। अब मैं भी जा कर स्वयंवर का समाचार मालूम करता हूँ। क्या कहा आपने? क्या यह कहा है? तो आप जाइये। (उठ कर) जिसका यौवन समस्त वाराणसी में श्रेष्ठ है ऐसी है प्रिये! सब में काशीराज का जामाता कौन होगा? क्या कह रही हो? क्या यह

मेव वर स्वयं वृणीता सुलोचना, सुभगा त्वामेव नित्यसुमुखा नद्यावर्तोपि नदयतु।

(इति निष्क्रान्तो विट ।)

शुद्धविष्कम्भ

(तत प्रविशत्यासनस्थो राजा नद्यावर्तो विदूषकश्च)

राजा—(सोत्कण्ठमात्मगत) अहो सौकुमार्यमपि योषिता कार्कश्यमेव पुष्णाति पुष्पायुधस्य । तथाहि—

उद्भिन्नकौतुकरसव्यतिभिन्नलज्जा पारिप्लवानि, कृतसाध्वससप्लवानि।
विप्रेक्षितानि मधुराणि सुलोचनायास्सतापयन्ति हृदय मृदुशीतलानि॥३०॥

मुष्णाति च विषमेषुदूषिता शेमुषी धैर्यस्वोन्मेष पुरुषस्य । तथाहि—

सममिदमधुना सुलोचनाया. प्रकृतिचलेन विलोचनद्वयेन ।
अनिभृतमभवद्विलुप्तसत्त्व हृदयमधीरमधीरलोचनाया. ॥ ३१ ॥

सुलोचना कौरवेश्वर को हो स्वयवर में स्वीकृत करे और नन्द्यावर्त भी निरन्तर अनुकूल रहनेवाली एक तुम्हीं को आनन्दित करे।

(इस तरह विट बाहर जाता है)

शुद्ध विष्कम्भ

(तदनन्तर आसन पर बैठा हुआ राजा, नन्द्यावर्त और विदूषक दिखाई देते हैं)

राजा—(उत्कण्ठा के साथ अपने मन में विचार करता है) अहा, स्त्रियों की सुकुमारता भी काम की कठोरता को ही पुष्ट करती है। क्योंकि—

उद्भिन्न—जो प्रकट हुए कौतुक रस से मिश्रित होने के कारण चञ्चल हैं, जिनमें भयका सचार मिला हुआ है, जो अत्यन्त मनोहर हैं तथा जो कोमल और शीतल हैं ऐसी सुलोचना की चितवनें हृदय को सतप्त कर रही हैं॥३०॥

काम से दूषित बुद्धि पुरुष के धैर्य के विकास को हर लेती है। क्योंकि—

सममिद—चञ्चल लोचनवाली सुलोचना के स्वभाव से चञ्चल दोनों नेत्रों के द्वारा इस समय एक ही साथ मेरा हृदय चञ्चल, धैर्य से रहित तथा अधीर हो गया है ॥ ३१ ॥

(विभाव्य) अहो संस्कारसंतानस्य द्रढीयसी प्रौढी येन प्रत्यक्षपरोक्षयोस्तन्वीक्षणं प्रति चक्षुषी न विशेषमीषदपि दर्शयतः। (आत्मानं प्रति) किं च भोः।

नेत्रद्वयं निमिषदुन्मिषदप्यदो मे
संस्कारबद्धघटनामवलोकते ताम्।
तद् ब्रूहि मे हृदय यत्त्वदतेऽत्र तुभ्य-
मुन्मीलयामि यदि वा विनिमीलयामि ॥ ३२ ॥

विदूषकः—भो वअस्स किं अज्ज सो एव्व गंगातीरउत्तंतो हिअए परिवत्तदि। जदो चिंताभरणिप्पंदसव्वंगो णिव्वादत्थिमिदो विअ साअरो णिच्छलं लच्छिसि। (भो वयस्य किमद्य स एव गंगातीरवृत्तांतो हृदये परिवर्तते यतश्चिंताभरनिष्पंदसर्वांगो निर्वातस्तिमित इव सागरो निश्चलं लक्ष्यसे।)

नंद्यावर्तः—आर्य सौघातके साधु लक्षितम्। तथाहि—

(विचार कर) अहा, संस्कार सन्तति की बहुत अधिक दृढ़ सामर्थ्य है क्योंकि नेत्र प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही अवस्थाओं में उस कृशाङ्गी के अवलोकन के प्रति थोड़ी भी विशेषता नहीं दिखाते हैं। (अपने आपके प्रति)

अरे !

नेत्रद्वयं—ये दोनों मेरे नेत्र बन्द रहें चाहे खुले, संस्कार के कारण सामने उपस्थित उस सुलोचना को देखते रहते हैं इसलिये हे मेरे हृदय ! कहो तुम्हें जो अच्छा लगता हो, नेत्रों को खोले रखूं या बन्द कर लूं ॥३२॥

विदूषक—हे मित्र ! क्या आज भी वही गङ्गातट का वृत्तान्त हृदय में घूम रहा है क्योंकि चिन्ता के कारण तुम्हारा समस्त शरीर निश्चल हो रहा है और तुम वायु के अभाव में स्थिर समुद्र के समान निश्चल दिखाई देते हो।

नन्द्यावर्त—आर्य सौघातकि ! आपने ठीक ख्याल किया।

क्योंकि—

कृत्वा दक्षिणपादजानुशिखरे सव्येतरं कर्बुरं
हस्तेनासनहेमपीठमधुनावष्टभ्य वामेन च।
अर्धव्यस्तपुटं विलोचनयुगं न्यस्यन् पुरो निश्चलं
वारंवारमसौ विनिश्वसिति च स्थूलायतं निस्सहम् ॥ ३३ ॥

राजा—(सवैलक्ष्य) सखे नंद्यावर्त वयस्य सौधातके किं ब्रूथ।

नंद्यावर्त —देव न किमपि, इदं तु विज्ञाप्यते।

स्वयमवरिष्ट परितो या त्वां नेत्रोत्पलस्रजैव पुरा।
तस्याः स्वयंवरोऽयं पुनरुक्तो लोकव्यक्त्यर्थम् ॥ ३४ ॥

राजा—अथ कियद्व्यवधानमस्य स्वयंवरयात्रासमयस्य।

विदूषक —ण अत्तहोदीए कासीराअउत्तीए आअमणं (ननु अत्रभवत्या काशीराजपुत्र्या आगमनम्।)

नंद्यावर्त —(पुरो निर्दिश्य) नन्विय प्रविष्टैवात्रभवती काशीराजपुत्री।

कृत्वा—यह इस समय दाहिने हाथ को दाहिने पैर के घुटने के अग्रभाग पर रख कर बायें हाथ से चित्र विचित्र सुवर्णमय सिंहासन को पकड़े हुए हैं, अधखुले दोनों निश्चल नेत्रों को सामने लगाये हुए हैं। तथा बार बार बड़ी बेचैनी के साथ लम्बी लम्बी सांस ले रहे हैं ॥ ३३ ॥

राजा—(कुछ लज्जा के साथ) मित्र नन्द्यावर्त, मित्र सौधातकि! आप दोनों क्या कह रहे हैं?

नन्द्यावर्त—देव! कुछ भी नहीं, मात्र यह निवेदन कर रहा हूँ।

स्वयं—जो सुलोचना पहले आपको सब ओर से नेत्ररूपी नील कमल की माला से स्वयं वर चुकी है उसका यह स्वयंवर लोक में प्रकट करने के लिये पुनरुक्त है ॥ ३४ ॥

राजा—अब इस स्वयंवर यात्रा के समय में कितनी देर है?

विदूषक—लो, माननीय काशीराज पुत्री का आगमन हो ही तो गया।

नन्द्यावर्त—(सामने देख कर) यह माननीय काशीराजपुत्री तो प्रविष्ट ही हो चुकी है।

राजा—(सोच्छ्वासमात्मगतं) कथं प्रविष्टैव । (निर्वर्ण्य)

इयं हि सा काशिपतेस्तनूजा स्वयंवरस्थानसभामुपैति ।
सुलोचना दीर्घविलोचनाभिः पुरांगनाभिस्सह निम्ननाभिः ॥ २५ ॥

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टा सुलोचना नवमालिका प्रतीहारश्च)

प्रतीहारः—इत इतो भर्तृदारिका (सर्वे यथोचितं परिक्रामंति)।

अहो महाराजस्य सर्वातिशायिनी प्रजा यदुपज्ञमियं प्रज्ञावतामगर्हणीया वधूवरसमाराधनलब्धस्तोत्रा स्वयंवरयात्रा ।

पिता वा माता वा भवतु स वरस्तादृगथवा
कुमारी तच्छंदं निभृतमवगच्छेदिति तु यत् ।

राजा—(सुख की श्वास लेता हुआ मन में विचार करता है) क्या प्रविष्ट ही हो चुकी ! (देख कर)

इयं हि—यह गहरी नाभि से युक्त, काशीराज की पुत्री सुलोचना, दीर्घ नेत्रोंवाली नगर की अन्य स्त्रियों के साथ स्वयंवर-स्थान की सभा के निकट आ रही है ॥ २५ ॥

(इसके बाद ऊपर बतलाई हुई सुलोचना, नवमालिका और प्रतीहार प्रवेश करते हैं)

प्रतीहार—इधर इधर राजपुत्री

(सब लोग यथायोग्य घूमते हैं)

अहा, 'महाराज की प्रतिभा सब से बढ़ कर है जिसके द्वारा ही यह स्वयंवर-यात्रा सर्वप्रथम जानी गई है, यह यात्रा बुद्धिमानों के द्वारा प्रशंसनीय एवं वर-वधू के द्वारा अत्यन्त प्रशंसित है ।

पिता वा—वर, माता और पिता के समान हो, अथवा कुमारी, माता पिता के तुल्य हो अथवा उनके प्रतिबिम्ब को वर और कुमारी अच्छी तरह समझ लें····यह जो कन्या-दान की विधियाँ हैं उन्हें यह स्वयंवर की विधि लघु बना देती है—तिरस्कृत कर देती है क्योंकि इसमें वर और वधू के

तदप्येषा दृत्तिर्लंघयति यदस्या रमयितु-
गुणं वा दोषं वा स्वरुचिमनुचक्षुर्विमृशति ॥३६॥

सुलोचना—(अपवार्य) सहि सच्चं एव्वं तं तुए गंगातीरे विलवतस्स ब्रह्मणस्स मुहादो किंपि सुदं त्ति । (सखि सत्यमेव तत् यत्त्वया गंगातीरे विलपतो ब्राह्मणस्य मुखात् किमपि श्रुतमिति ।)

नवमालिका—किं अण्णहा हि तुह मए भणिदं आसि । (किमन्यथा-हि तव मया भणितमासीत् ।)

सुलोचना—(सहि विसरिदं खु तं पुणोवि एक्कवारं भणाहि । (सखि-विस्मृतं खलु तत् पुनरप्येकवारं भण ।)

नवमालिका—(सस्मितं) विसरिदं वा होदु पुणोवि एसा भणामि । (विस्मृतं वा भवतु पुनरप्येषा भणामि ।)

एसो जयोत्ति विदिओ कुरुराअउत्तो
विस्सभणिज्जरसिओ विणयक्कठामो ।
कामो सअरुयअणाण जणस्स कंतो
संतोसपूदहिअओ समरेक्कमल्लो ॥ ३० ॥

नेत्र अपनी रुचि के अनुसार एक दूसरे के गुण और दोष का विचार स्वयं कर लेते हैं ॥ ३६ ॥

सुलोचना—(मुह फेर कर) सखि ! क्या यह सत्य बात थी जो तुमने गङ्गा तट पर विलाप करनेवाले ब्राह्मण के मुख से सुनी ?

नवमालिका—तो क्या मैंने झूठ ही तुमसे कह दिया था ?

सुलोचना—सखि ! मैं भूल गई हूँ एक बार फिर से कहो ।

नवमालिका—(मुसक्या कर भली भूल जाओ, लो फिर से कहती हूँ ।)

एसो—यह जय नाम से प्रसिद्ध कुरुराज—सोमप्रभका पुत्र है, यह विश्वास के योग्य रसिक है, विनय का एक स्थान है, चन्द्रमुखी स्त्रियों के लिये काम है, जनता का स्वामी है, सन्तोष से पवित्र हृदय है और युद्ध का अद्वितीय मल्ल है ॥ ३७ ॥

(एष जय इति विदितः कुरुराजपुत्रो विस्रंभणीयरसिको विनयैकधामा ।
कामो शशांकवदनानां जनस्य कान्तः संतोषपूतहृदयस्स्मेरकमल्लः ॥)

सुलोचना—सहि तंवि खु तेण एव्व भणिदं इमं चेत्र कज्जं उद्दिसित्र सो जणो एत्थ आग्रदोत्ति । (सखि तदपि खलु तेनैव भणितमिदमेव कार्यमुद्दिश्य स जनोऽत्रायात इति ।)

नवमालिका—जेण मं पत्तिआअसि । इद एव्व दक्खसि । (येन मां प्रत्यायसि । अत्रैव द्रक्ष्यसि ।)

प्रतीहारः—प्रविष्टाः स्मः स्वयंवरसभाम् (परितोऽवलोक्य)

एकत्र विद्याधरराजमुख्यैरन्यत्र भूपालकुलप्रकाण्डैः ।
इयं सभा संप्रति सेव्यमाना व्यनक्ति कामप्यपरामभिख्याम् ॥३८॥

अपि च मन्ये ।

दर्शयंती निजामृद्धिं प्रतिराजमिहार्पिताम् ।
स्वयं भगवती लक्ष्मीः श्लाघ्यते जगति ध्रुवम् ॥ ३९ ॥

सुलोचना—सखि ! उसी ब्राह्मण ने यह भी कहा था कि वे महाशय इसी कार्य के उद्देश्य से आये हुए हैं ।

नवमालिका—जिससे मेरा विश्वास करोगी वह अभी देखोगी ।

प्रतीहार—हम लोग स्वयंवर-सभा में प्रवेश कर चुके हैं

(सब ओर देख कर)

एकत्र—एक ओर विद्याधरों के प्रमुख राजाओं और दूसरी ओर भूमिगोचरीभूत प्रमुख राजाओं से सुशोभित यह सभा इस समय किसी अद्भुत शोभा को प्रकट कर रही है ॥ ३८ ॥

दर्शयन्ति—इस स्वयंवर सभा में प्रत्येक राजा के प्रति अर्पित अपनी ऋद्धि को दिखलाती हुई स्वयं भगवती लक्ष्मी निश्चित ही संसार में प्रशंसित हो रही हैं ॥ ३९ ॥

(निर्वर्ण्य) अये परिमितोदारपरिवारता महीपतीनामाविर्भावयति वैभवं विभवस्य। पुन —

वारस्त्रीहस्तधूतो हसति सितरुचां चामराणां समूहो
हसान् प्रावृट्प्रवाभप्रमुदितमनस स्वैरमुड्डीयमानान्।
लीलामालेढिमेघध्वनिजनितमद नृत्यता वर्हिणां च
चचन्मायूरपिच्छव्यजनपरिकर पार्श्वतो धूयमान. ॥ ४० ॥

कथमिदानीमकम्पनसुतासनिधानमभिधमानविभ्रमभगी विडम्बयति कामिलोक कुसुमधन्वा। भवतु प्रकृतमेवोपक्रमामहे। (विलोक्य) कथमयो सार्द्रगधो यावदेन प्रथमतो दर्शयामि। (उपसृत्य)

फणिनामभिपेन यो वितीर्णं विजयार्धस्य भुनक्ति दक्षिणार्धम्।
रथनूपुरचक्रवालनामा प्रथिता यस्य चकास्ति राजधानी ॥ ४१ ॥

(देख कर) अये, राजाओं का परिमित और उत्कृष्ट परिकर उनके विभव की महिमा को प्रकट कर रहा है।

और भी—

वारस्त्रीहस्त—वेश्याओं के हाथो से कम्पित सफेद चामरों का समूह वर्षा के प्रवाह से प्रसन्न चित्त एव स्वच्छन्द रूप से उड़ते हुए हसों की हँसी कर रहा है और पास में हिलता हुआ यह सुन्दर मयूर-पिच्छ से निर्मित पङ्खों का समूह मेघ-गर्जना से मत्त हो नृत्य करते हुए मयूरों की शोभा को प्राप्त हो रहा है ॥ ४० ॥

क्या इस समय महाराज अकम्पन की पुत्री—सुलोचना के समीप अखण्ड हाव-भावों की सन्तति से युक्त कामदेव कामी जनों को विडम्बित कर रहा है? खैर, प्रकृत बात को ही प्रारम्भ करते हैं (देख कर) क्या यह सार्द्र गन्ध है? अच्छा, सब से पहले इसे ही दिखलाता हूँ। (पास जाकर)

फणिना प्रणम्र—जो धरणीन्द्र के द्वारा दिये हुए विजयार्ध पर्वत के दक्षिणार्ध का पालन करता है, रथनूपुर चक्रवाल नाम की जिसकी प्रसिद्ध राजधानी सुशोभित है, तथा जिसके नखों की किरणें नम्रीभूत विद्याधरों की

प्रणम्रविद्याधरमौलिमालिका मणिप्रभालीप्रमिलन्नखार्चिषः।
प्रियात्मजस्तस्य जगद्दृशां प्रियो नमेरसौ मेरुसमानगौरवः ॥ ४२ ॥

नवमालिका—कहं एस चक्कवट्टिणो महाराअभरहस्स अग्गमहिसीए सुभद्दाए जेट्ठभादअस्स सअलविज्जाहरचूडामणीए महाराअणमिए सविसेसपरक्कमतुलिदणिअजणओ तणओ। (कथमेष चक्रवर्तिनो महाराजभरतस्याग्रमहिष्याः सुभद्राया ज्येष्ठभ्रातुः सकलविद्याधरचूडामणेर्महाराजनमेः सविशेषपराक्रमतुलितनिजजनकस्तनयः।)

प्रतीहारः—(सुलोचनां प्रति)

किमस्ति ते चेतसि शश्वदुच्छ्वसन्नमेरुसौरभ्यसुगंधिसीमसु।
विहर्तुमिच्छा गुणिना गुणप्रिये सहामुना मेरुवनांतभूमिषु ॥ ४३ ॥

(विभाव्य आत्मगतम्) कथं पराचति वास्याश्चेतः। भवत्वपर्यनुयोज्याश्चित्तवृत्तयः भवत्वन्यतो दर्शयामि। (परिक्रम्य दृष्ट्वा च) कथमसावौत्तरार्धो विद्याधरकुमारः सुनमिः।

मुकुट-मालाओं में संलग्न मणियों की प्रभा के समूह से मिल रही है उन नमि का यह जगत् के लोचनों को प्रिय एवं मेरु पर्वत के समान गौरव से से युक्त प्रिय पुत्र है ॥ ४१-४२ ॥

नवमालिका—क्या यह चक्रवर्ती महाराज भरत की पट्टराज्ञी सुभद्रा के बड़े भाई समस्त विद्याधरों के चूडामणि नमि का विशिष्ट पराक्रम से अपने पिता की तुलना करने वाला पुत्र है !

प्रतीहार—(सुलोचना की ओर लक्ष्य कर)

किमस्ति—हे गुणप्रिये ! जहां की सीमाएं निरन्तर बढ़ती हुई नमेरु वृक्षों की सुगन्धि से सुगन्धित हो रही हैं उन मेरु पर्वत सम्बन्धी वन की भूमियों में इस गुणी के साथ विहार करने की इच्छा क्या तुम्हारे मन में विद्यमान है ॥ ४३ ॥

(विचार कर अपने मन में) अरे क्या इसका चित्त परामुख हो रहा है ? खैर, मनोवृत्ति प्रश्न के योग्य नहीं होगी, अच्छा दूसरी ओर दिखलाता हूँ। (घूम कर और देखकर) क्या विजयार्ध की उत्तर श्रेणी का स्वामी विद्याधर, कुमार सुनमि है ?

विमोचयन्त्यामपि वारवध्वां स्वयं च पर्यस्तविलोचनान्तः ।
विमोचयत्यङ्गदकोटिदष्टं सविभ्रमं चामरवालकामम् ॥४४॥

(उपसृत्य)

विनमितरिपुपक्षः पक्षपाती गुणानां
विनमिरिति विनेता दुर्विनीताशयानाम् ।
भुजगपतिवितीर्णामुत्तरां राजताद्रेः
भवति सुकृतवान्यः श्रेणिमेणाङ्कसौम्यः ॥ ४५ ॥

अलकामधितिष्ठति पुरीं त्रिजगत्ख्यातविभूतिवैभवाम् ।
अयमप्रतिमेयविक्रमस्तनयस्तस्य नयैककोविदः ॥ ४६ ॥

नवमालिका—कह एस अ मारबाहुबलिणो माउलउत्तस्स महाराअविणमिस्स णिम्मलचरित्तओ पुत्तओ । (कथमेष च मारबाहुबलेर्मातुलपुत्रस्य महाराजविनमेर्निर्मलचरित्रः पुत्रः ।)

जो कि यह—

विमोचयन्त्या—बाजूबन्द की कोटी में उलझे हुए चमर के बाल के अग्रभाग को वेश्या के सुलझाने पर भी विलासपूर्वक उस ओर दृष्टि डालता हुआ स्वयं सुलझा रहा है ॥ ४४ ॥

(पास आकर)

विनमित—अलका—शत्रुओं के पक्ष को दबानेवाला, गुणों का पक्षपाती, उद्दण्ड मनुष्यों का शिक्षक, पुण्यशाली एवं चन्द्रमा के समान सौम्य जो विनमि धरणीन्द्र के द्वारा दी हुई विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी की रक्षा करता है तथा जो त्रिजगत्-प्रसिद्ध संपदा के वैभव से युक्त अलका नगरी में रहता है उस नमि का यह अपरिमित पराक्रम से युक्त नीतिनिपुण पुत्र है ॥ ४५-४६ ॥

नवमालिका—क्या यह, कामदेव पद के धारक बाहुबली के मामा के पुत्र महाराज विनमि का निर्मल चरित्रवाला पुत्र है ?

प्रतीहारः—

मंदमंदविहरत्पवनानि स्वैरमुत्तरकुरूपवनानि ।
सेवितुं किममुनास्ति मनस्ते पारिजातसुमनःसुरभीणि ॥ ४७ ॥

(विभाव्य आत्मगतम्) कथमुदास्त इव । भवत्वन्यतो दर्शयामि (परिक्रम्यावलोक्य च) कथं विद्याधरकुमारो लोहार्गलाधिपतिर्मेघप्रभः । योऽसौ—

समुत्पतत्केसरधूलिलुब्धामलब्धपातामुपरि भ्रमंतीम् ।
अन्वेति दृष्ट्या भ्रमरीं सलीलं लीलासरोजं भ्रमयन् कराभ्याम् ॥ ४८॥

(उपसृत्य)

यस्याग्रतः संयति संपतंतः क्षणेन निर्वासितशौर्यसाराः
मेघप्रभावा रिपवो भवंति मेघप्रभो नाम स एष धीरः ॥ ४९ ॥

नवमालिका—कहं एस विज्जाहरलोअसलाहणिज्जसोहग्गसंभाविदो

प्रतीहार—

जहां मन्द मन्द वायु वह रही है तथा पारिजात के फूलों की सुगन्धि फैल रही है ऐसे उत्तर कुरु के उपवनों में स्वतन्त्रतापूर्वक इसके साथ घूमने का तेरा मन हो रहा है ? ॥ ४७ ॥

(विचार कर अपने मन में) क्या उदासीन जैसी है । खैर, दूसरी ओर दिखलाता हूँ । (घूम कर और देख कर) क्या यह विद्याधर-कुमार लोहार्गल का स्वामी मेघप्रभ है ?

समुत्पतत्—क्रीड़ा-कमल को दोनों हाथों से घुमा रहा है तथा उसकी ऊपर की ओर उड़ी हुई पराग पर लुब्ध किन्तु उस पर बैठ न सकने के कारण ऊपर घूमती हुई भ्रमरी का अपनी दृष्टि से लीलापूर्वक अनुगमन कर रहा है उसकी ओर बार बार देख रहा है ॥ ४८ ॥

(पास जाकर)

यस्याग्रतः—युद्ध में जिसके आगे आने वाले शत्रु क्षणभर में पराक्रम से रहित हो मेघों के समान तितर-बितर हो जाते हैं यह वही मेघप्रभ नामका धीर वीर राजा है ॥ ४९ ॥

नवमालिका—क्या यह विद्याधरों के द्वारा प्रशंसनीय सौभाग्य से

असमाविददोसलेसो लोहग्गलेस्सो। (कथं एष विद्याधरलोकश्लाघनीयसौभाग्य-समावितोऽसमावितदोपलेशो लोहार्गलेशः।)

प्रतीहार

अनेन सार्धं सुरलोकवातव्याधूतसंतानकसौरभाणि।
कल्याणि सेवस्व सुरस्रवतीतीरांतमंदारलतागृहाणि॥ ५०॥

(विभाव्य आत्मगत) कथमिहापि सैव रीतिः। भवतु भूपालानिदानीं दर्शयामि। (परिक्रम्य विलोक्य च) कथमसौ साधुविधानकप्रवर्तितनयप्रवर्तितनय शरत्कौमुदीविशदोदर्कंकीर्तिरर्ककीर्ति। योऽसौ—

दीव्यन्नक्षलाकापरिवर्तनेन सविभ्रमोदञ्चितपूर्वकायः।
स्रस्तं प्रकोष्ठात्कटकं करेण सुश्लिष्टमारोपयतीतरेण॥ ५१॥

(उपसृत्य)

यस्मै कृताञ्जलिरदाद्भिबयार्थ एव सेनानिनायचलितः स्वयमभ्युपेत्य।
एकातपत्रमवते भरतं समस्तं सिंहासनं च चमरद्वयमातपत्रम्॥ ५२॥

सम्मानित तथा अणुमात्र दोष से रहित लोहार्गल का स्वामी है!

प्रतीहार—हे कल्याणि! तुम इसके साथ स्वर्गलोक की वायु से कम्पित सन्तानक वृक्षों से सुगन्धित गङ्गा के तटवर्ती मन्दार-लताओं के निकुञ्जों का सेवन करो॥ ५०॥

(विचार कर अपने मनमें) क्या यहा भी वही रीति है! अच्छा, अब भूमिगोचरीभूत राजाओं को दिखलाता हू। (घूमकर और देख कर) क्या यह उत्तमविधि से नीति को चलानेवाला, एव शरद् ऋतु की चादनी के समान निर्मल कीर्ति से युक्त, चक्रवर्ती का पुत्र अर्ककीर्ति है!

जो यह

दीव्यन्—पासा खेल रहा है तथा पासा के उलटा पड़ जाने से शरीर के उत्तरार्ध को विलासपूर्वक ऊपर की ओर कर बैठा है तथा कलाई से कुछ नीचे की ओर खिसके हुए कड़े को दूसरे हाथ से ठीक चढ़ा रहा है।५१।

(पास जाकर)

यस्मै—समस्त भरत क्षेत्र का एकछत्रपालन करनेवाले जिन भरत के

अपि च—

येनैक एव विशिखश्चतसृष्वपि दिक्षु दिग्जये मुक्तः ।
एकत्र तुषाराद्रावितरत्र पपात पाथसां पत्यौ ॥ ५३ ॥

चक्रेण निष्प्रतिघनिर्जितवैरिराजचक्रेण साधमतिमानुषविक्रमेण ।
वर्णाश्रमस्थितिगुरोर्भरतेश्वरस्य तस्यैव सूनुरुदपादि पुरः प्रवीरः ॥५४॥

किञ्च—

हिमाचलांभोनिलयावधेर्भुवस्स चक्रवर्ती युवराज एष तु ।
समस्तदेवांचितपादपंकजः पितामहश्चास्य पुनः पितामहः ॥ ५५ ॥

नवमालिका—कह एस आउज्झाउरिवल्लहस्स चक्कवट्टिणो महाराअभरहस्स पढमतणओ अप्पडिहदसत्ती जुवराअ अक्ककित्ती । (कथमेष अयोध्यापुरीवल्लभस्य महाराजभरतस्य प्रथमतनयोऽप्रतिहतशक्तिर्युवराजोऽर्ककीर्तिः ।)

लिये सेनापति से विचलित हुए विजयार्ध देव ने स्वयं आकर तथा हाथ जोड़ कर सिंहासन, दो चमर तथा एक छत्र प्रदान किया था ॥ ५२ ॥

और—

येनैक—दिग्विजय के समय जिनके द्वारा चारों दिशाओं में छोड़ा हुआ एक ही बाण एक ओर तो हिम गिरि पर पड़ा था और दूसरी ओर लवण-समुद्र में ॥ ५३ ॥

चक्रेण—जो वर्णों और आश्रमों की स्थिति के गुरु थे उन्हीं भरत महाराज का यह बलशाली पुत्र निर्बाध रूप से शत्रु राजाओं के समूह को जीतने वाले लोकोत्तर पराक्रम से युक्त सुदर्शन चक्र के साथ उत्पन्न हुआ था। जिस दिन भरत-चक्रवर्ती को चक्ररत्न प्राप्त हुआ था उसी दिन इसका जन्म हुआ था ॥ ५४ ॥

और—

हिमाचला—ये भरत महाराज हिमगिरि से लेकर समुद्र तक की पृथिवी के चक्रवर्ती हैं, यह युवराज है तथा समस्त देवों के द्वारा जिनके चरण कमल पूजित हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव इसके बाबा हैं ॥ ५५ ॥

नवमालिका—क्या यह अयोध्यापुरी के स्वामी चक्रवर्ती भरत महाराज का प्रथम पुत्र अखण्ड पराक्रम का धारी युवराज अर्ककीर्ति है ?

प्रतीहार —

समुच्छ्वसन्मेदुरसारसालस झरीसरय्वा मृदुसारसारसैः ।
विगाह्य नीहारजडो निषेवतां रहोविहारेषु युवां समारणः ॥५६॥

(विभाव्य आत्मगतम्) कथमत्राप्यनुत्सुकेव । अलक्षणो विषमेषुव्यापारः । भवत्वग्रतो दर्शयामि । (परिक्रम्यावलोक्य च) कथमसौ बलिनो बाहुबलिनः पोदनाधिपतेः कुमारो महाबली । योऽसौ—

अगुष्ठमुद्रार्पितपद्मराग ज्योतिःशलाकाभिरनाकुलाक्षः ।
आरञ्जयत्यङ्गुलिसारणेन स्मेराणि मुक्तागुणमौक्तिकानि ॥ ५७ ॥

(उपसृत्य)

क्षोणी मालवणोदमा हिमवतो रूप्याद्रिणा गंगया
सिंध्वा चापगया पयोध्यवधिभिः षोढा विभक्तामिमाम् ।

प्रतीहार—जो एकत्रित सारस पक्षियों को अलस करता हुआ बह रहा है तथा सुकोमल कमलों से युक्त सरयू नदी के झरनों में प्रवेश कर जो बर्फ के समान ठण्डा हो रहा है ऐसा पवन एकान्त विहार के समय तुम दोनों की सेवा करे ॥ ५६ ॥

(विचार कर अपने मन में) क्या यहां भी अनुत्सुक जैसी है ! काम का व्यापार पहिचाना नहीं जा सकता । खैर, आगे दिखाता हूँ । (घूम कर और देख कर) क्या यह पोदनपुर के स्वामी बलवान् बाहुबली का पुत्र कुमार महाबली है !

जो यह—

अङ्गुष्ठ—गम्भीर दृष्टि से युक्त है तथा अङ्गुलियों के तीव्र घुमाने के कारण मुक्ताहार के सुशोभित मोतियों को अगूठे की अगूठी में लगे हुए पद्मराग मणियों की किरणरूप शलाकाओं से लाल लाल कर रहा है ॥५७॥

(पास जाकर)

क्षोणी—लवण समुद्र से लेकर हिमवत् पर्वत तक समुद्रान्त लम्बे विजयार्ध गङ्गा और सिन्धुनदियों के द्वारा छः विभागों में विभाजित इस

यत्स्वीकृत्य निरर्गलं विजयते तत्संयुगे चोदितं
चक्रं चक्रधरस्य वक्रितमभूद्यस्मिन् मनाग् द्वेपिणि ॥ ५८ ॥

यश्च ।

तृणायेदं मत्वा सकलमपि साम्राज्यविभवं
सबीभत्सं कृत्स्नं विषयसुखमुत्सृज्य विरसम् ।
तपस्तप्त्वा कर्मास्त्रवमपि दहन् निर्जरयितुं
क्षणाद्बद्धं चैनः शिवपदकवाट व्यघटयत् ॥ ५९ ॥
तस्यैष तनयो यूनां विशिष्टः पौदनेयकः ।
अनेन रममाणा च युवतीनां विशिष्यते ॥ ६० ॥

नवमालिका—कहं एस बाहुबलिणंदणो उक्खादपडिपक्खमाणसंकुलओ इक्खाग्गवंसेक्कभूसणं अक्खलिदणिअपरक्कमतुलिदबाहुबली कुमारमहाबली । (कथमेष बाहुबलिनन्दन उत्खातप्रतिपक्षमानशंकुः इक्ष्वाकुवंशैकभूषणमस्खलितनिजपराक्रमतुलितबाहुबली कुमारमहाबली ।)

पृथिवी को प्राप्त कर जो निर्बाध रूप से विजय प्राप्त करता रहा है ऐसा युद्ध में चलाया हुआ चक्रवर्ती का चक्र भी जिसके कुछ द्वेपी बनने पर टेढ़ा हो गया था ॥ ५८ ॥

और जिन्होंने—

तृणायेदं मत्वा—इस समस्त साम्राज्य के विभव को तृण जैसा तुच्छ मान कर घृणित एवं रसहीन समस्त विषय-सुख को छोड़ दिया था तथा तप-तप कर कर्मास्रव को जलाते हुए पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करने के लिये क्षणभर में मोक्षपद के किवाड़ खोले थे ॥ ५९ ॥

तस्यैष—युवाओं में विशिष्ट तथा पोदनपुर का स्वामी यह राजकुमार उन्हीं बाहुबली का पुत्र है। इसके साथ रमण करती हुई तुम समस्त युवतियों में विशिष्टता प्राप्त करोगी ॥ ६० ॥

नवमालिका—क्या यह बाहुबली का पुत्र कुमार महाबली है—जिसने शत्रुओं के गर्वरूपी कील को उखाड़ दिया है, जो इक्ष्वाकु-वंश का आभूषण है तथा जिसने अपने पराक्रम से बाहुबली की तुलना की है।

प्रतीहारः—

सुरतश्रमाम्बुकणसौरभोद्धुरो-
व्यजनानिलः कुमुदगन्धबन्धुरः ।
मुदमातनोतु भवतोस्समीरणः
प्लुतनातरंगपरिवर्तशीतलः ॥ ६१ ॥

(विभाव्य स्वगतं) कथमिहाप्यसौ कुठोरकठेव । भवत्वन्यतो दर्शयामि (परिक्रम्यावलोक्य च) कथमसौ उज्जयिनीपतेरुग्रान्वयप्रग्रहस्य मध्यमलोकमनोः महाराजमघोनः प्रियतनयः कुमारजयन्तः ।

याऽसौ—

निर्दिश्य किंचित्कटकासुखेन हस्तेन तेनैव पुनः सहेलम् ।
नीतेन सूचीमुखतां निहन्ति स्तम्भं पुरोवर्तिनमर्धवीथ्याः ॥ ६२ ॥

(उपसृत्य)

आज्ञाक्षराण्येव सुखानि पृथ्वीमवन्ति यस्योर्जितशासनस्य ।
अर्थेतिपु प्राप्तललामशोभामलंकरोत्युज्जयिनीं पुरीं यः ॥६३॥

प्रतीहार—जो सभोग सम्बन्धी स्वेदजल के कणों की सुगन्धि से युक्त है, कुमुदों की गन्ध से सुन्दर है, तथा प्लुतना नामक नदी की तरङ्गों में सचार करने से शीतल है, ऐसी वायु पखेकी वायु के समान आप दोनों के हर्ष को विस्तृत करे ॥ ६१ ॥

(विचार कर अपने मन में) क्या यहा भी उत्कण्ठा से रहित है ? और, दूसरी ओर दिखलाता हू । (घूम कर और देख कर) क्या यह उज्जयिनी के राजा, उग्रवंश के शिरोमणि, मध्यम लोक के मनु महाराज मघवा का प्रिय पुत्र कुमार जयन्त है ?

जो यह—

निर्दिश्य—कड़े से सुशोभित हाथ के द्वारा किसी वस्तु का निर्देश कर पुन विलासपूर्वक सुई की अग्रभागता को प्राप्त कराये हुए उसी हाथ से मार्ग के अर्ध भाग में अपने आगे विद्यमान खम्भे को कुरेद रहा है ॥ ६२ ॥

(पास जाकर)

आज्ञाक्षराण्येव—बलिष्ठ शासन से युक्त जिसके सुखकारी आज्ञा के

महीपतेस्तस्य महीयते गुणैरसौ कुमारस्तनयस्तनूदरि।
अजात्र रागप्रगुणा गुणोत्करा गुणज्ञगोष्ठीश्रवणावंतसताम् ॥६४॥

नवमालिका—कहं एस कस्सववंमुत्तंसो दंसिदुद्दाममणोहरदेहकंतिपब्भारो पडिपक्खराअचक्कं जअंतो कुमारजअंतो। (कथमेष काश्यपवंशोत्तंसः दर्शितोद्दाममनोहरदेहकांतिप्राग्भारः प्रतिपक्षराजचक्रं जयन् कुमारजयंतः।

प्रतीहारः—(उपसृत्य)

निशीथिन्यां यूना प्रथितयशसा साकममुना
शरच्चंद्रोद्योतद्विगुणविशदं सौधशिखरम्।
रतिक्रीडाखेदव्यपनयविदग्धोपचरणं
मुहुः सिप्रावातं भज कुमुदसंपर्कसुरभिम् ॥ ६५ ॥

(विभाव्य स्वगतं) कथमिहाप्यनीहैव। भवत्वग्रतो दर्शयामि। (परि-

अक्षर ही पृथिवी की रक्षा करते हैं तथा जो अवन्ति देश के आभूषण के समान सुशोभित उज्जयिनी नगरी को अलंकृत करते हैं ॥ ६३ ॥

महीपते—यह कुमार उन्हीं महाराज मघवा का पुत्र है, तथा गुणों से पूजा को प्राप्त हो रहा है। हे कृशोदरि ! तुम भी गुणों के समूह स्वरूप हो। इस कुमार में अत्यधिक राग करती हुई तुम गुणज्ञ मनुष्यों की गोष्ठी की कर्णाभरणता को प्राप्त होओ ॥ ६४ ॥

नवमालिका—क्या यह काश्यप वंश का आभरण, अत्यन्त सुन्दर शरीर की कान्ति के समूह को दिखानेवाला, शत्रुराजाओं के समूह को जीतता हुआ कुमार जयन्त है ?

प्रतीहार—(पास में जाकर)

निशीथिन्यां—तुम प्रसिद्ध यश के धारक इस युवा के साथ रात्रि में शरद् ऋतु के चन्द्रमा के प्रकाश से अत्यधिक सफेद महल की शिखर पर चढ़ कर रति-क्रीड़ा के खेद को दूर करने में चतुर, एवं कुमुदों के संपर्क से सुगन्धित सिप्रा नदी की वायु का वार वार सेवन करो ॥ ६५ ॥

(विचार कर अपने मन में) क्या यहां भी इच्छा से रहित है ? खैर,

क्रम) कथमसौ मथुरानाथस्य हरिवंशप्रथमकन्दर्पस्य महाराजहरिकान्तस्य प्रियसूनुः सुकेतुः —

योऽसौ—

व्यापारिता दृष्टिमिहैव पूर्वमपाङ्गसंचारिततारकान्ताम् ।
प्रत्याहरत्यव्यपदेशलक्ष्या द्राग्गोचरो मन्मथमार्गणानाम् ॥ ६६ ॥

राजर्षिरस्ति हरिवंशमहीपतीना-
माद्यो हरित्सु हरिकान्त इति प्रतीतः ।
यस्साम्यमेति हरिणा हरिणाङ्करोचि-
र्न्यक्कारिकीर्तिधवलीकृतविश्वलोकः ॥ ६७ ॥

तस्य पृथ्वीपतेः सूनुः कामधेनुरुपेयुषाम् ।
प्रख्यातः शौरसेनोऽसौ सुकेतुश्शूरसैनिकः ॥ ६८ ॥

नवमालिका—कहं एसो सोरसेणीसमुब्भवमहग्घविदतरलकोमलकव्वबन्धस्स सूरसेणमण्डलस्स मण्डणत्तणं महुरं अहिवसन्तो महुरकदिलिण्णमरिसिदमअर-

---

आगे दिखाता हूँ । (घूम कर) क्या यह मथुरा के राजा, हरिवंश के प्रथम कामदेव, महाराज हरिकान्त का प्रियपुत्र सुकेतु है ?

जो यह—

व्यापारिता—काम के बाणों का विषय है तथा पहले इसी ओर संचारित, कटाक्षपूर्ण दृष्टि को बिना किसी बहाने के शीघ्र ही हटा रहा है ॥६६॥

राजर्षि—जो हरिवंश के राजाओं में प्रथम राजर्षि हैं, दिशाओं में हरिकान्त इस नाम से प्रसिद्ध हैं, जिन्होंने चन्द्रमा की किरणों को तिरस्कृत करनेवाली कीर्ति से समस्त संसार को शुक्ल कर रक्खा है और जो इन्द्र के साथ तुलना को प्राप्त हैं ॥ ६७ ॥

तस्य—यह उन्हीं राजा हरिकान्त का पुत्र है, यह शरणागत मनुष्यों के लिये कामधेनु है, अत्यन्त प्रसिद्ध है, शूरसेन देश का स्वामी है, शूर-वीर सैनिकों से युक्त है तथा सुकेतु इसका नाम है ॥ ६८ ॥

नवमालिका—क्या यह शौरसेनी भाषा में रचित होने से महामान्य चञ्चल एवं कोमल काव्य-बन्ध से युक्त शूरसेन देश के आभूषण स्वरू

केदू सुकेदू। (कथमेष शौरसेनीसमुद्भवमहार्घिततरलकोमलकाव्यबन्धस्य शूरसेनमंडलस्य मंडनायितां मथुरामधिसन् मधुरकांतिनिर्भर्त्सितमकरकेतुः सुकेतुः।)

प्रतीहारः—

अमुना यमुनातरंगभंगस्खलनक्लेशितशीतमारुतेषु।
विहरस्व सुखाकरेषु वृंदावनपर्यंतलतागृहांतरेषु ॥ ६९॥

(विभाव्य स्वगतं) कथमसौ न क्वापि रज्यति। तथाप्यन्यतो दर्शयामि। (परिक्रम्य दृष्ट्वा च) कथमसौ हास्तिनापुरकः सोमान्वयककुदो निरायासनिर्वर्तितशत्रुजयः कुमारो जयः। योऽसौ—

नास्ते विभिद्य, क्रममद्य नैव विडंब्यते विभ्रमचेष्टितैर्वा।
नाप्यत्र रिक्तास्थमुदास्त एव वरं तु सत्त्वं विवृणोत्यपूर्वम् ॥७०॥

विदूषकः—(अपवार्य)—कहं उवत्थिदा सअंवरजत्तापरिसमत्ति (कथमुपस्थिता स्वयंवरयात्रापरिसमाप्तिः।)

मथुरा नगरी का निवासी अपनी मनोहर कान्ति से कामदेव को तिरस्कृत करनेवाला सुकेतु है!

प्रतीहार—जिनमें यमुना नदी की तरङ्गावली में स्खलित होने से मन्द-मन्द एवं ठण्डी-ठण्डी वायु बह रही है तथा जो सुख की खान हैं ऐसे वृन्दावन के समीपवर्ती लतागृहोंमें तुम इस सुकेतु के साथ विहार करो ॥६९॥

(विचार कर अपने मन में) क्या यह कहीं भी राग नहीं करती? फिर भी दूसरी ओर दिखाता हूँ। (घूमकर और देख कर) क्या यह हस्तिनापुर का स्वामी, सोमवंश का प्रधान एवं अनायास ही शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनेवाला कुमार जय है? जो—

नास्ते—इस समय क्रम का उल्लङ्घन कर नहीं बैठा है, विलासपूर्ण चेष्टाओं से विडम्बित नहीं हो रहा है, और न इस ओर निरपेक्ष हो कर उदासीन हो रहा है किन्तु अपूर्व धैर्य को प्रकट कर रहा है ॥ ७० ॥

विदूषक—(मुंह फेर कर) क्या स्वयंवर-यात्रा की समाप्ति आ पहुँची?

नद्यावर्त —बाढ तथैव ।

प्रतीहारः—(उपसृत्य)

अभिषिच्य युगोद्यमे त्रिधाम्ना कुरुराज्य त्वमिति प्रबोधितो यः ।
कुरुराज इति प्रतीतनामा कुशलादानमवर्तयत् प्रजानाम् ॥ ७१ ॥

अस्य च—

युगारम्भे दानक्रममनभिजानत्यपि जने
तपश्चर्याप्रादुष्करणपरवत्ताहृतधिये ।
गृहानभ्येताय स्वयमदित दान भगवते
प्रियभ्राता श्रेयान् समुपचितनिश्रेयसरुचिः ॥ ७२ ॥

रूपेण कान्त्या महसा महिम्ना शौर्येण दानेन पराक्रमेण ।
विभ्रत्परां कीर्तिमनन्यलभ्यां तस्यैष पुत्रः शमितारिसत्रः ॥ ७३ ॥

नन्द्यावर्त—हा, यही बात है ।

प्रतीहार—(पास जाकर)

अभिषिच्य—युग के प्रारम्भ में तीन ज्ञान के धारक भगवान् ऋषभदेव ने अभिषेक कर 'तुम राज्य करो' इस तरह जिन्हें प्रबोधित किया था, इसी लिये जो 'कुरुराज' इस नाम से प्रसिद्ध हुए थे तथा जिन्होंने प्रजा में कुशल-मङ्गल की प्रवृत्ति की थी ॥ ७१ ॥

और जिनके—

युगारम्भे—मोक्ष की इच्छा रखनेवाले प्रियभाई श्रेयान् ने युग के प्रारम्भ में जब कि लोग दान के क्रम को नहीं जानते थे तब तपश्चर्या के प्रकट करने की पराधीनता से द्रव-बुद्धि एवं घर पर आये हुए भगवान् ऋषभदेव के लिये स्वयं दान दिया था ॥ ७२ ॥

रूपेण—रूप से, कान्ति से, तेज से, महिमा से, शूर-वीरता से, दान, से, और पराक्रम से अन्यत्र दुर्लभ उत्कृष्ट कान्ति को धारण करता हुआ, शत्रुओं के कपट को शान्त करनेवाला यह जयकुमार उन्हीं महाराज सोमप्रभ का पुत्र है ॥ ७३ ॥

यो हि—

करिकरपरिणाहस्थूलधारांधकार-
स्थगितगगनगर्भं मेघवक्त्रामरौघम्।
अधरितघनघोषः सिंहनादस्वरेण-
व्यजयत यत एषामुष्य मेघेश्वराख्या ॥ ७४ ॥

नवमालिका – एसो खु सुणिम्मलकित्तिसंभारभरिदभुवणब्भंतरस्स राएसिणो महाराअसोमपहस्स पढमतणओ लोअलोअणपुण्णचंदो समरमुहपरम्मुहीकिदवेरिणरिंदो णिअगुणामिअसोत्तणिव्वत्तिअसअलजणसोत्तरसाअणो पवित्तचरित्तपरायणो कोरवेसरो मेहेसरो। ता इमस्सि संचारिअं तु विअसिअउप्पलदलमालकोमलाइ सिणिद्धमुद्धसरलपहमराइ कोदूहलफुल्लाविदाइ तुह लोअणाइ। (एष खलु सुनिर्मलकीर्तिसंभारभरितभुवनाभ्यंतरस्य राजर्षेर्महाराजसोमप्रभस्य प्रथमतनयो लोकलोचनपूर्णचंद्रः समरमुखपराङ्मुखीकृतवैरिनरेंद्रो निजगुणामृतस्रोतोनिर्वर्तितसकलजनश्रोत्ररसायनः पवित्रचरित्रपरायणः कौरवेश्वरो मेघेश्वरः। तस्मादस्मिन् संचार्येताम्। विकसितोत्पलमालाकोमले स्निग्धमुग्धसरलपक्ष्मले कौतूहलफुल्लापिते तव लोचने।)

जो कि—

करिकर—सिंहनाद के स्वर से मेघगर्जना के शब्द को तिरस्कृत करनेवाले इस जयकुमार ने चूंकि हाथियों की सूंडों के समान बड़ी मोटी धाराओं के अन्धकार से आकाश के मध्य को आच्छादित करनेवाले मेघमुख नामक देवों के समूह को जीता था इसलिये इसका दूसरा नाम मेघेश्वर अथवा मेघस्वर भी प्रचलित हुआ है ॥ ७४ ॥

नवमालिका—सचमुच ही यह अत्यन्त निर्मल कीर्ति के समूह से लोक के मध्य को भरनेवाले महाराज सोमप्रभ का प्रथम पुत्र, मनुष्यों के नेत्रों के लिये पूर्णचन्द्र, शत्रुराजाओं को युद्ध से पराङ्मुख करनेवाला, अपने गुणरूपी अमृत के झरनों से समस्त मनुष्यों के नेत्रों के लिये रसायन का काम करनेवाला, एवं निर्दोष चरित्र के पालन करने में तत्पर कौरवेश्वर—मेघेश्वर—जयकुमार हैं। इसलिये खिले हुए नील कमल की माला के समान

सुलोचना—(स्वगत) कह अज्जउत्तो। '(समदनाकूतम्) अम्हो दक्खिदपि इम जणं ण प्पहवम्हि ता कह कंठे माल अ मोअइस्स। (कथमार्यपुत्र । अहो द्रष्टुमपीम जन न प्रभवामि तस्मात्कथ कंठे मालां च मोचयिष्ये ।)

(इति सवैक्लव्यमास्ते)।

प्रतीहार —(विभाव्य) स्थान एव लग्नमस्याश्चेत ।

नवमालिका—(सस्मित) पिअसहि किं अण्णदो गमिस्सामो । (प्रियसखि किमन्यतो गमिष्याम ।)

(सुलोचना साभ्यसूयवैलक्ष्य मुख नमयति)

नवमालिका—तेण हि गहणीअदु एसा सअंवरमाला। (तेन हि गृह्यतामेषा स्वयवरमाला।)

(सुलोचना सलज्जमादत्ते)

नवमालिका—पिअसहि इदो एहि। (प्रियसखि इत एहि।)

कोमल, स्निग्ध, सुन्दर, सरल एव बरुनियों से युक्त कुतूहल से विकसित तुम्हारे नेत्र इन पर सचार को प्राप्त हों।

सुलोचना—(अपने मन में) क्या आर्यपुत्र हैं ? (कामचेष्टा को प्रकट करती हुई) अरे, जब कि इन महानुभाव को देखने के लिये भी समर्थ नहीं हो रही हू तब कण्ठ में माला कैसे छोड़ूगी ?

(इस प्रकार लज्जा से सकुच कर खड़ी रह जाती है)

प्रतीहार—इसका चित्त योग्य स्थान पर ही लगा।

नवमालिका—(मुसक्या कर) प्रियसखि ! क्या दूसरी ओर चलें ?

(सुलोचना ईर्ष्या और लज्जा के साथ मुख झुका लेती है)

नवमालिका—तो फिर यह स्वयंवर-माला ली जावे।

(सुलोचना लज्जा के साथ स्वयवर-माला लेती है)

नवमालिका—प्रियसखि ! यहा आओ

(उभे उपसर्पतः)

नवमालिका—सहि किदत्थेहि एह्णिं तुह मणोरहाइ (सखि कृतार्थयेदानीं तव मनोरथान् ।)

(इति सुलोचना हस्ताभ्यां राज्ञः स्कधे मालामामोचयति)

विदूषकः—(सहर्षं) जेदु पिअवअस्सो, सोत्थि होदु । (जयतु प्रियवयस्यः, स्वस्ति भवतु ।)

नंद्यावर्तः—विजयतां कौरवेश्वरः ।

राजा—(सहर्षमात्मगतं) संपूर्णो मे मनोरथः ।

(नेपथ्ये)

(कलकलांतरं)

भो भो कौरव करत्र क्षणमिमौ सौभाग्यदर्पामयो-
च्छूनौ संगरभंगुरौ तव भुजौ पश्यंतु सर्वे जनाः ।
भूपालाः प्रतिपालयंति बहवस्त्वां युद्धबद्धस्पृहाः
कर्तुं मानविमाननां द्रुतममी हर्तुं च ते मानिनीम् ॥ ७५ ॥

(दोनों पास जाती हैं)

नवमालिका—सखि ! अब अपने मनोरथों को कृतकृत्य–'सफल' करो ।

(इस प्रकार सुलोचना दोनों हाथों से राजा के कंधे पर माला छोड़ देती है ।)

विदूषक—प्रियमित्र जयवन्त हों, कल्याण हो ।

नन्द्यावर्त—कौरवेश्वर की जय हो

राजा—(हर्ष के साथ मनमें) मेरा मनोरथ पूर्ण हो गया ।

(परदे के भीतर कलकल शब्द के बाद आवाज आती है)

भो भो—हे कौरव ! हे कौरव ! सौभाग्य-सम्बन्धी गर्वरूपी रोग से फूली हुई तुम्हारी इन भुजाओं को सब लोग अभी युद्ध में कटी हुई देखें । युद्ध के लिये उत्सुक ये बहुत से राजा तुम्हारे मान का निरादर करने तथा शीघ्रही तुम्हारी स्त्री-सुलोचना को हरने के लिये तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ ७५ ॥

(सर्वे शृण्वन्ति)

कथमन्यदुपक्रान्तमन्यदापतितम्।

सुलोचना—(सभय) ह कि एत्थ सरणं। (सविषाद) ह कह एत्थ हविस्सदि। (हत किमत्र शरणम्। हत कथमत्र भविष्यति।)

विदूषक.—कह एरिसं इमस्स णिट्ठुरवअणं। (कथमीदृशमस्य निष्ठुरवचनम्।)

राजा—(सकोपस्मित) जितकाशिता क्षत्रियडिम्भानाम्।

नन्द्यावर्त—(सकोप) अहो अहो परुषिका क्षत्रियकीटानां। यदेव देवेऽप्यवधीरणागममुदीर्यते।

(प्रविश्य सम्भ्रात)

पुरुष —आर्य महेन्द्रदत्त युवराजहेमाङ्गदस्त्वामाज्ञापयति। आनीयता मितस्त्वरितरं वत्सा सुलोचनेति। तेन हि इत इतो भर्तृदारिका।

(निष्क्रान्ता सुलोचना नवमालिका प्रतीहार पुरुषश्च।)

नन्द्यावर्त.—देव युद्धाय सन्नद्धव्यम्। तदुत्थीयताम्।

(सब सुनते हैं)

क्या कुछ प्रारम्भ किया और अन्य कुछ आ पड़ा।

सुलोचना—(भय सहित) खेद है, यहा शरण क्या है। (खेद प्रकट करती हुई) अब यहा क्या होगा ?

विदूषक—इनके यह ऐसे कठोर वचन क्यों !

राजा—(क्रोध और मुसकयान के साथ) क्षत्रियबालकों का अहंकार है !

नन्द्यावर्त—(क्रोध के साथ) आश्चर्य आश्चर्य क्षत्रियकीटों की इतनी कठोरता जो इस तरह आपके विषय में भी अनादरपूर्वक कहा जा रहा है।

(प्रवेश कर घबड़ाई हुई अवस्था में)

पुरुष—आर्य महेन्द्रदत्त! युवराज हेमाङ्गद तुम्हें आज्ञा देते हैं कि वत्सा सुलोचना को अत्यन्त शीघ्र यहां लाया जावे। इसलिये इधर-इधर राजपुत्री!

(सुलोचना, नवमालिका, प्रतीहार और पुरुष निकल जाते)

नन्द्यावर्त—देव! युद्ध के लिये तैयार होना है इसलिये उठा जावे।

(सर्वे उत्तिष्ठंति)

राजा—(सक्रोधं) अरे रे दुर्वातक्षत्रियकीटाः शृणुतेमां प्रतिज्ञाम्।

वक्षःप्रस्थात् क्षुरप्रप्रहतिविघटितग्रंथिबंधश्लथास्थ्न-
श्च्योतन्मस्तिष्कशकलस्थपुटितपिशितादुत्खनन् मानशंकुम्।
आसातंकाज्जिहासून् प्रथमतरमसून् मोघसंरंभशोच्या-
नाच्छेत्स्यत्येष रोषग्रहविधृतघृणः कौरवो भैरवो वः॥ ७६॥

नंद्यावर्तः—रे रे अस्थानोत्थितक्रोधाभिभूतविडंबितवीररसाः पश्यंतु विश्वेपि क्षुद्राः क्षत्रियकुलपांसनाः।

निर्मुंचन् बाणवृष्टीर्निविडनिपतनाकांडबद्धांधकाराः
स्वैरावस्कंदरुग्णप्रतिनृपतिशिरस्कंधसंबंधसंधीः ।

(सब उठते हैं)

राजा—(क्रोध के साथ) अरे रे उगले हुए क्षत्रियकीटो! सुनो इस प्रतिज्ञा को—

वक्षःप्रस्थान—क्रोधरूपी पिशाच से जिसकी दया रुक गई है ऐसा यह भयंकर कौरव, तुम्हारे उस वक्षःस्थल से जिसकी कि हड्डियां बाणों के प्रहार से ग्रन्थिबन्धन के टूट जाने के कारण शिथिल पड़ गई हैं तथा चूते हुए मस्तिष्क के खण्डों से जिसका मांस ऊँचा-नीचा हो गया है मानरूपी कील को उखाड़ता हुआ भय के आतंक से पहले ही छोड़ने के इच्छुक एवं व्यर्थ के क्रोध से शोचनीय तुम्हारे प्राणों को अभी हाल छेदेगा॥ ७६॥

नन्द्यावर्त—अरे रे अस्थान में उठे क्रोध से तिरस्कृत एवं वीर रस को विडम्बित करनेवाले सभी क्षुद्र क्षत्रिय-कुल-कलङ्कियो! देखो।

निर्मुञ्चन्—सघन पतन से जिन्होंने असमय में ही अन्धकार उपस्थित कर दिया है तथा स्वतन्त्रतापूर्वक आक्रमण से जिन्होंने शत्रुराजाओं के शिर और कन्धों के सम्बन्ध को जोड़नेवाली सन्धियों को नष्ट कर दिया है ऐसी बाण-वृष्टियों को छोड़ता हुआ नन्द्यावर्त आज युद्ध में प्रलय-काल के समय छोड़ी हुई धाराओं से गगनाङ्गण की सीमाओं को ग्रस्त करनेवाले

कल्पान्तध्वान्तधाराकवलितगगनाभोगसीम्नस्समन्ता-
न्नद्यावर्तोऽद्य लीलां रचयति समरे पुष्कलावर्तकस्य ॥ ७७ ॥

विदूषक —इदो इदो पिअवअस्सो । (इत इतः प्रियवयस्य ।)

(परिक्रम्य निष्क्रान्तास्सर्वे)

इति श्री हस्तिमल्लेन विरचिते सुलोचनानाटके स्वयंवरयात्रा नाम
तृतीयोऽङ्कः समाप्त ॥ ३ ॥

पुष्कलावर्तक नामक प्रलयकालीन मेघ की लीला को धूलि में मिला रहा है तिरस्कृत कर रहा है ॥ ७७ ॥

विदूषक—इधर-इधर प्रियमित्र !

(घूम कर सब निकल जाते हैं)

इस प्रकार श्री हस्तिमल्ल कवि के द्वारा विरचित सुलोचना नाटक में स्वयंवर-यात्रा नामका तीसरा अङ्क समाप्त हुआ ॥ ३ ॥



चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशति सरलिका)

सरलिका—भणिदम्हि पिअसहीए णोमालिआए। सहि कीरिसी उण सअंवरकलअलाणंतरं राअउत्ताणं पउत्तित्ति राअउलं गदुअ समंतदो जाणिअ आअच्छेति। ता लहु गच्छेमि। (परिक्रम्यावलोक्य च) एसो हु पड़िहार-महत्तरो अज्जमहिंददत्तो इदो एव अभिवट्टेदि। जाव एअं उवसप्पिअ पुच्छेमि। (परिक्रामति)। (भणितास्मि प्रियसख्या नवमालिकया। सखि कीदृशी पुनः स्वयंवरकलकलानंतरं राजपुत्राणां प्रवृत्तिरिति राजकुलं गत्वा समंततो ज्ञात्वाऽऽगच्छेति। तस्माल्लघु गच्छामि। एष खलु प्रतीहारमहत्तरः आर्यमहेन्द्रदत्त इत एवाभिवर्तते। यावदेतमुपसृत्य पृच्छामि।

(ततः प्रविशति प्रतीहारः)

प्रतीहारः—अहो विवेकमुग्धता क्षत्रियकुमाराणां कुतः!

(इसके बाद सरलिका प्रवेश करती है)

सरलिका—प्रियसखी नवमालिका ने मुझसे कहा है कि सखि! 'स्वयवर की कलकल के बाद राजपुत्रों का क्या समाचार है' यह तुम राजभवन में जाकर तथा सब समाचार जानकर आओ। इस लिये मैं जल्दी जाती हूँ। (घूम कर तथा देख कर) यह प्रमुख प्रतीहार आर्य महेन्द्रदत्त इसी ओर आ रहे हैं। जब तक इनके पास जाकर पूछती हूँ। (घूमती है)

(तदनन्तर प्रतीहार प्रवेश करता है)

प्रतीहार—अहा, क्षत्रियकुमारों की विवेकविषयक मूढता आश्चर्य करनेवाली है। क्योंकि—

भूयांसः क्षितिपात्मजा वरयितुं वाञ्छन्ति यस्यामिमां
सर्वस्याभिमतः स्वयंवरविधिस्तद्वाढमत्रोचितः।
इत्यस्मत्प्रभुणा प्रवर्तितमयं यत्कर्म निर्मत्सरं
जातं प्रत्युत वैरकारणमिदं तेषां मुधा द्वेषिणाम् ॥ १ ॥

इदं चैषामप्ययोग्य पौरोभाग्यम्। यदुत।

अन्य कंचन पञ्चबाणविधुरा दैन्यं धरित्रीश्वरं
या निर्ज्ञातगुणा स्वयं वृतवती पश्यत्सु येष्वग्रतः।
तां सम्प्रत्यभिमानदुर्गतधियो वाञ्छन्ति भूयोपि ते
बीभत्सोपहतां धिगस्तु विषयोन्मुग्धामिमां कामिताम् ॥ २ ॥

सरलिका—(उपसृत्य) अज्ज स्सअंवरवेलाकलअलाणंतरं राअउत्ताणं पउत्तिं जाणिदुं आअच्छेमि। ता भणाहि दाव। (आर्य स्वयंवरवेलाकलकलानंतरं राजपुत्राणां प्रवृत्तिं ज्ञातुमागच्छामि। तस्माद्भण तावत्।)

भूयास'—'इस कन्या को बहुत राजकुमार वरना चाहते हैं इसलिये इस स्थिति में स्वयंवर-विधि सबके लिये इष्ट तथा उचित होगी' यह विचार कर हमारे स्वामी ने ईर्ष्यारहित जो कार्य प्रारम्भ किया था वह हर्ष का कारण तो दूर रहा किन्तु व्यर्थ ही द्वेष करनेवाले उन सबके वैर का कारण हो गया ॥ १ ॥

इनकी यह दाप दृष्टि पुरुषों के योग्य नहीं है किन्तु।

अन्य—काम के बाण से दुखी जिस कन्या ने गुणों को अच्छी तरह जान कर जिन लोगों के देखते हुए उनके आगे दीनता से रहित अन्य किसी राजाको स्वयंवर में स्वीकृत किया इस समय अभिमान से निर्बुद्धि हुए वे ही राजा उस कन्या को फिर भी चाहते हैं अतः घृणा से उपहत एवं विषयों में उन्मुग्ध इस कामिदशा को धिक्कार हो ॥ २ ॥

सरलिका—(पास जाकर) आर्य, स्वयंवर-समय की कलकल के बाद राजपुत्रों का समाचार जानने के लिये आ रही हूँ, इस लिये कहिये।

प्रतीहारः—तेन हि श्रूयताम् ।

सरलिका—अवहिदम्हि । (अवहितास्मि ।)

प्रतीहारः—अस्ति तावत्स्वयंवरयात्रावसानविसंवादिमनोरथानामुज्जृम्भमाणसंरंभरभसगरीयानुत्थितः पार्थिवानां कलकलः ।

सरलिका—हत्थि । (हंत ।)

प्रतीहारः—तत्र च—

युक्तोऽयं गुणिनां वधूर्गुणवतीत्येके प्रसन्नाः स्थिताः
स्वच्छंदप्रसरो मनोभव इति प्राप्तोऽपरैर्निग्रहः ।
स्वावज्ञाजनितत्रपाहृतधियस्तूष्णीमभूवन् परे
केचित्तामपहर्तुमेव समरे प्राक्रंसत क्रोधनाः ॥ ३ ॥

सरलिका—तदो तदो । (ततस्ततः ।)

प्रतीहार—तो सुनिये ।

सरलिका—सावधान हूँ ।

प्रतीहार—इतना तो विदित है न ! कि स्वयंवर-यात्रा की समाप्ति के समय-विरुद्ध इच्छा रखनेवाले राजाओं का बढ़ते हुए क्रोध के वेग से भारी कलकल शब्द उठा था ।

सरलिका—दुःख की बात है !

प्रतीहार—और उस कलकल में—

युक्तोऽयं—गुणी मनुष्यों की गुणवती वधू—हाँ यह उचित ही है ऐसा विचार कर कितने ही लोग प्रसन्न होते हुए चुप रह गये । काम का प्रचार अपनी अपनी इच्छानुसार होता है—यह सोच कर कितने ही लोगों ने अपने आप दण्ड प्राप्त कर लिया और अपने अनादर से उत्पन्न हुई लज्जा के द्वारा जिनकी बुद्धि हत हो गई ऐसा विचार कर कितने ही लोग चुप हो रहे और कितने ही क्रोधी उस कन्या को हरने के लिये युद्ध की तैयारी करने लगे ॥ ३ ॥

सरलिका—फिर क्या हुआ ।

प्रतीहार—तेषु च प्रकृत्यमर्षणा• कुलूनेश्वरदुर्मर्षणप्रभृतयो निसर्गनिरर्गलचेष्टित चक्रवर्तिसुतमर्ककीर्तिमुपसृत्य सोत्साहमवोचन् ।

यथा—

आहूय शाठ्यात् सकलान्नरेन्द्रानकम्पन कौरवपक्षपाती ।
गुणित्वमारोपयितुं जयस्य तस्यायमारोपयतिस्म मालाम् ॥ ४ ॥

सरलिका—परगुणेसु असहणदा रायउत्ताण । तदो तदो । (परगुणेषु असहनता राजपुत्राणाम् । ततस्ततः ।)

प्रतीहार—पुनरस्यावोचन् ।

पितुस्तु सकेतमलघनीय सुलोचना साप्यनुपालयती ।
त्वयि स्थिते श्लाघ्यगुणाभिरामे शोच्या कमप्यन्यमभूद् वृणाना ॥५॥

सरलिका—तदो कि पडिपण्णं अक्ककित्तिणा । (ततश्च किं प्रतिपन्नमर्ककीर्तिना ।)

प्रतीहार—उन राजाओं में कुलून के स्वामी दुर्मर्षण आदि कुछ राजा स्वभाव से ही असहिष्णु थे अत वे स्वभाव से ही निर्बाध चेष्टा करनेवाले चक्रवर्ती के पुत्र अर्ककीर्ति के पास जाकर उत्साह के साथ कहने लगे—

जैसे—

आहूय—कौरव—जयकुमार के पक्षपाती इस अकम्पन ने धूर्तता से समस्त राजाओं को बुलाकर जयकुमार का गुणीपना सिद्ध करने के लिये उसके गले में माला डलवाई है ॥ ४ ॥

सरलिका—दूसरे के गुणों में राजकुमारों को बड़ी असहिष्णुता है। फिर क्या हुआ ?

प्रतीहार—फिर अर्ककीर्ति से बोले।

पितुस्तु—पिता के अनतिक्रमणीय संकेत का पालन करती हुई सुलोचना ने प्रशंसनीय गुणों से मनोहर आपके रहते हुए भी अन्य किसी को वरा इस तरह वह शोचनीय हुई ॥ ५ ॥

सरलिका—फिर अर्ककीर्ति ने क्या स्वीकृत किया ?

प्रतीहारः—ततश्च रोषोत्कर्षकषायितेक्षणेन कथितमर्ककीर्तिना।

सरलिका—कहं विअ। (कथमिव।)

प्रतीहारः—

वाढं तेऽद्य विशीर्यन्ते तस्मिन्नारोपिता गुणाः।
आरोपिते ससंरंभं चापकोट्यां मया गुणे॥ ६॥

सरलिका—अहो असरिसो माणग्गहो (अहो असदृशः मानग्रहः।)

प्रतीहारः—स किं नामार्ककीर्तिः।

सरलिका—तदो तदो (ततस्ततः।)

प्रतीहारः—ततश्च निसर्गनिस्त्रिंशो दाशार्णः राजा समाह्वयन्नर्ककीर्तिमित्थमवोचत्।

अनास्थापर्यस्तस्तव यदि न जृम्भेत सपरं
कठोरः कोपाग्निर्ज्वलितुमुचितेस्मिन्नवसरे।

प्रतीहार—फिर क्रोध की अधिकता से लाल लाल नेत्र करते हुए अर्ककीर्ति ने कहा।

सरलिका—क्या कहा?

प्रतीहार—

वाढं—ठीक है, अब मेरे द्वारा धनुष की कोटि पर क्रोधपूर्वक गुण-डोरी के चढ़ाते ही उस जयकुमार में आरोपित गुण—शूर-वीरता आदि गुण-अभी हाल बिखरे जाते हैं—नष्ट हुए जाते हैं॥ ६॥

सरलिका—अहा, मानरूपी ग्रह असाधारण है।

प्रतीहार—उसका नाम भी तो अर्ककीर्ति है।

सरलिका—फिर क्या हुआ।

प्रतीहार—फिर स्वभाव से क्रूर दशार्ण देश का राजा अर्ककीर्तिका आह्वान करता हुआ इस प्रकार बोला—

अनास्था—यदि प्रज्वलित होने के योग्य इस अवसर पर उपेक्षा से नष्ट हुई आपकी कठोर कोपाग्नि अच्छी तरह वृद्धि को प्राप्त नहीं होती है तो

कुरूणामुद्दाम प्रसरति मदः शौर्यकथया
स काशीनां राजा कलयति निजौर्जित्यविभवम् ॥ ७ ॥

सरलिका—तदो तदो। (ततस्ततः।)

प्रतीहार—निसर्गभीषणचेष्टित सौराष्ट्रो भीम. ससरम्भमवोचत्। का वा चक्रवर्तिन आस्था विशृङ्खलसम्पर्कसंघट्टदुर्बले कुरुकाशिबले।

तदत्र—

आस्तामप्रतिचक्रविक्रमघन. काम भवान् प्रेक्षक
केऽमी शौर्यविपर्ययप्रलघव कोर्जन्ति ते कौरवा।
युद्धाबद्धधिय पृथक्पृथगमी सज्जा वय भूरिश
शत्रूणा दमनाय दुर्दमभुजास्त्वद्भ्रूलताकिंकरा. ॥८॥ इति॥

सरलिका—तदो तदो (ततस्तत।)

शूर वीरता की कथा से कुरुओं का बहुत भारी गर्व फैल जायेगा और यह काशी का राजा अकपन भी अपने पराक्रम के वैभव को प्राप्त कर लेगा ? ॥ ७ ॥

सरलिका—फिर क्या हुआ ?

प्रतीहार—स्वभाव से भयकर चेष्टाओंवाला सुराष्ट्र देश का राजा भीम क्रोधपूर्वक बोला कि स्वतन्त्र युद्ध की टक्कर में दुर्बल कुरु और काशी की सेना में चक्रवर्ती का क्या आदर हो सकता है ? चक्रवर्ती जयकुमार और अकम्पन की सेना को समझते ही क्या हैं ?

इसलिये यहाँ—

आस्ता—अतुल्य पराक्रम के धनी आप तो मात्र अच्छी तरह दर्शक बने रहे हैं। कायरता से हीन ये अकम्पन के पक्ष के कौन हैं ? और वे कौरव अपना बल कहा दिखाते हैं ? युद्ध के लिये उत्सुक, उद्दण्ड भुजाओं से युक्त तथा आपकी भौंहरूपी लता के किंकर हम बहुत लोग, शत्रुओं का दमन करने के लिये पृथक् पृथक् तैयार खड़े हैं ॥ ८ ॥

सरलिका—फिर क्या हुआ ?

प्रतीहारः—अनंतरं चार्ककीर्तिरंतःकोपपावकस्य विप्रुष इव तत्क्षणप्रसभकीलितारातिकंठान् वर्णानुद्गिरन्नित्थमचीकथत्। अथवा समूलकाषं नः कषणीया दोषाः।

ततश्च—

अध्यस्तशौर्योद्धतमेव मिथ्यामध्यस्थमस्थानकृतातिसंधिम्।
किमन्यदन्यायपथप्रवृत्तमकम्पनं संप्रति कम्पयामि ॥ ९ ॥

सरलिका—अहो अच्चाहिदम्। (अहो अत्याहितम्)।

प्रतीहारः—शैलीयं मानशालिनाम्।

सरलिका—तदो तदो। (ततस्ततः।)

प्रतीहारः—अत्रांतरे पार्श्ववर्ती चक्रवर्तिनैवार्ककीर्तेरनुयात्रायां नियुक्तो नीतिमार्गकृतविद्यो निरवद्यो नाम सचिवः साधिक्षेपमवोचत्। यथा। युवराज

प्रतीहार—तदनन्तर अर्ककीर्ति ने अन्तर्गत क्रोधरूपी अग्नि के कणों के समान शत्रुओं के कण्ठों को तत्काल बलपूर्वक कीलित करनेवाले अक्षरों का उच्चारण करते हुए इस प्रकार कहा। अथवा दोषों को हमें जड़ सहित नष्ट करना चाहिये।

इसलिये—

अध्यस्त—और क्या! जो नष्ट हुई शूर-वीरता से उद्दण्ड हो रहा है, झूटमूठ का मध्यस्थ बना फिरता है, अयोग्य स्थान पर जिसने अत्यधिक कपट किया है और जो अन्याय के मार्ग में प्रवृत्त हुआ है ऐसे अकम्पन को ही इस समय कम्पित करता हूं ॥ ९ ॥

सरलिका—अहो, बड़ा अनर्थ हुआ।

प्रतीहार—यह अभिमानी मनुष्यों की शैली है।

सरलिका—फिर क्या हुआ।

प्रतीहार—इस बीच में पास में बैठा, नीति-मार्ग का वेत्ता निरवद्य नाम का मन्त्री, जिसे अर्ककीर्ति की यात्रा के लिये चक्रवर्ती भरत महाराज ने भेजा था, डांट दिखाता हुआ बोला—युवराज! साधारण मनुष्यों में

चेयं पृथग्जनसुलभाऽप्रेक्षापूर्वकारित्वप्रवृत्तिः । किं चेदमात्मवतामनभिमतं दुःशिक्षितजनदुरुपदेशेषु श्रोत्रादानव्यसनम् । कश्चायं प्राकृतजनप्रवर्तितः पुरुषान्तरगुणसमावर्जितचित्तायामाग्रहो योषिति । कश्चायं परिचितः कलुषजनप्रसंगेन कलुषेतरमानसोन्मथनमन्था पन्थाः । कुतश्चामून्यपोढानि परिहृतविवेकयन्त्रणानि क्रोधोद्धतिस्वतन्त्राणि वचांसि । सा खलु चक्षुष्मत्ता यदुत परपरिग्रहगर्हितेषु जनुषान्धत्वं कलत्रेषु । सैव च श्रुतिमत्ता यत् किल दुर्दान्तजनदुःप्रलपितेषु पुरुषस्याश्रवणत्वम् । स खलु विक्रमातिशयो यस्य निसर्गदुर्मार्गप्रसङ्गमलीमसैरिन्द्रियमलिम्लुचैर्न मुष्यते हृदयम् । अभिजातजनहास्यता च भ्रंशयति मानिनो यशस्विताम् । विगीता रणानुविता च विवृणोति पुंसामचातुर्यम् ।

किं च—

> अमुष्मिन् राजर्षौ प्रशमशमितस्वान्तकुसृतौ
> न काशीनामीशो तव विगणनासौ गुणवती ।

सुलभ यह अविचारित कार्य की प्रवृत्ति क्या है ? आत्मज्ञ मनुष्यों के लिये अनिष्ट, दुःशिक्षित मनुष्यों के दुष्ट उपदेशों में कान देने का यह व्यसन क्या है ? अन्य मनुष्य के गुणों से जिसका चित्त वशीभूत है ऐसी स्त्री में साधारण मनुष्यों के द्वारा चलाया हुआ यह आग्रह क्या है ? दुष्ट मनुष्यों की संगति द्वारा निर्मल हृदयवाले मनुष्यों का मन्थन करने के लिये मथानी के समान यह मार्ग तुमने कहां सीखा है ? विवेक की यन्त्रणा से रहित तथा क्रोध की उद्दण्डता से स्वतन्त्र ये वचन तुमने किससे सीखे हैं ? परमार्थ से वही चक्षुष्मत्ता है जो कि पर पुरुष की स्वीकृति से निन्दित स्त्रियों में जन्म से अन्धा रहता है । मनुष्य की वही श्रुतिमत्ता है जो कि दुष्ट मनुष्यों के दुःखदायक निरर्थक वचनों के विषय में बहिरा होता है । यथार्थ में वही पराक्रम दिखाता है जिसका हृदय कुत्सित मार्ग के प्रसंग से मलिन इन्द्रियरूपी चोरों के द्वारा नहीं चुराया जाता है । कुलीन मनुष्यों के बीच हँसी होना मानी मनुष्य की कीर्ति को नष्ट कर देता है और निन्दित युद्ध की तत्परता मनुष्यों की मूर्खता को प्रकट करती है ।

और भी—

अमुष्मिन्—जिन्होंने प्रशम गुण के द्वारा चित्त की समस्त खोटी

पितुश्चैनं नान्यं कलयति मनस्वी तव पिता
सुतानप्युद्वृत्तान्न च वृषभसूनुस्स सहते ॥ १० ॥

अपि च । का चेयं संभावना कौरवेश्वरे ।

सप्ताहं सप्तसप्तिस्थगनकृततमःस्तोमविस्तारमग्ने
मूर्च्छापारिप्लवेऽस्मिन् भरतप्रतिबले विक्लवे प्लाव्यमाने ।
वर्षन्तः संततांभःप्लुतिपिहितदिशः पुष्करावर्तकाद्या
येनैकेनाक्रियंत ज्वलनशरमुचा भस्मसात्कारकीर्णाः ॥ ११ ॥

अथ च—

पुरस्सरणमात्रेण श्लाघ्यं चक्रं विशां प्रभोः ।
प्रायो दुःसाध्यसंसिद्धौ श्लाघते जय एव सः ॥ १२ ॥

प्रवृत्ति को शान्त कर दिया है ऐसे काशी देश के स्वामी इन राजर्षि अकम्पन के विषय में तुम्हारी यह अनादर की बुद्धि लाभदायक नहीं है। तुम्हारे विचारवान् पिता इन्हें अपने पिता से अन्य नहीं समझते हैं और भगवान् वृषभदेव के पुत्र भरत महाराज उद्दण्ड पुत्रों को भी सहन नहीं करते ॥ १० ॥

दूसरी बात यह भी है कि तुमने कौरवेश्वर को समझ क्या रक्खा है ?

सप्ताहं—जब भरत महाराज की सेना लगातार सात दिन तक सूर्य के आच्छादन से किये हुए अन्धकार-समूह के विस्तार में मग्न हो मूर्च्छित हो बड़ी बेचैनी से पानी में उतरा रही थी तब आग्नेय बाण को छोड़नेवाले जिस एक जयकुमार ने बरसते हुए तथा निरन्तर जल के प्रवाह से दिशाओं को आच्छादित करनेवाले पुष्करावर्तक आदि मेघों को भस्मकर इधर-उधर बिखेर दिया था ॥ ११ ॥

और भी—

पुरस्सरण—चक्रवर्ती का चक्र तो आगे चलने मात्र से प्रशंसनीय है परन्तु प्रायः कठिन कार्य की सिद्धि में वह जयकुमार ही प्रशंसा को प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

सरलिका—दाणिं खु सो णिरवज्जो। तदो किं पडिवण्णं अक्ककित्तिणा।
(इदानीं खलु स निरवद्यः। ततः किं प्रतिपन्नमर्ककीर्तिना।)

प्रतीहार—ततश्च निरवद्यवच सतर्जनचरिते क्षत्रियसमे कौरवेश्वरशौर्यातिशयशंसनमसहमानः किमपि सावधीरण इव निरवद्यभाणिते रोषदूषितधीरर्ककीर्तिधीरनिष्ठुरमभाषिष्ट। अहो आर्यस्य कौरवयशःश्लाघने किमप्यनल्पीय कवित्वम्।

पश्य—

> कथमिव जलसाराकीर्णतूलौघतुल्या.
> क्षणविशरणशीला शाश्वतभ्रान्तिलोला.।
> श्वसनचलननुन्ना शौर्यभोगावलीनां
> प्रथममिह निधानं कौरवस्याम्बुवाहा.॥ १३ ॥

सरलिका—अब यह सचमुच का निरवद्य हुआ। फिर अर्ककीर्ति ने क्या स्वीकृत किया?

प्रतीहार—तदनन्तर जब क्षत्रियों का समूह निरवद्य मन्त्री के वचनों द्वारा सतर्जित हो रहा था तब कौरवेश्वर के पराक्रम की अत्यधिक स्तुति को नहीं सहनेवाला अर्ककीर्ति निरवद्य मन्त्री के भाषण का अनादर करता हुआ क्रोध से दूषित बुद्धि हो धीरता एवं कठोरता के साथ बोला। अहा! आपका कौरव के यश की प्रशंसा करने में बहुत भारी कवित्व है।

देखो—

कथमिव—जलवृष्टि हो जाने के कारण जो बिखरे हुए रुई के ढेर के समान थे, क्षणभर में बिखर जाना जिनका स्वभाव था, जो निरन्तर घूमते रहने के कारण चञ्चल थे, और वायु के चलने से जो प्रेरित थे ऐसे मेघ जयकुमार सम्बन्धी पराक्रम की विरुदावली के प्रथम स्थान कैसे हो सकते हैं?॥ १३ ॥

अथवा किमत्र चर्चया ।

ख्यातः पराक्रमिषु यद्यपि कौरवोऽसौ
सत्यत्र युद्धनिकषे न गिरः प्रमाणम् ।
आर्यस्तु पश्यतु तदस्य विशीर्यमाणं
शौंडीर्यमाशु युधि शौर्यकथासमुत्थम् ॥ १४ ॥

सरलिका—कहं दुव्विणिदो विअ हत्थसिक्खं पि ण गिह्णदि । तदो तदो । (कथं दुर्विनीत इव हस्तशिक्षामपि न गृह्णाति । ततस्ततः ।)

प्रतीहारः—अमुं च वृत्तांतमुपलभ्य महाराजः कृतयथोचितकार्यपर्यालोचनो मम हस्ते स्वाभिप्रेतं निवेश्य मामेवार्ककीर्तेर्निसृष्टार्थतया प्रस्थापितवान्। गत्वा च ततोऽहं तत्प्रतीहारनिवेदितस्वागमनश्चक्रवर्तिसूनोः पार्श्वमुपसृत्य समुचितसमुदाचारपुरस्सरमवोचम् । युवराज महाराजस्त्वामाह—

विनीतो बाल्येपि त्वमसि पितुरेव प्रतिनिधिः
परं प्रेक्षानिघ्नः प्रकृतिमनघां मा स्म विसृज ।

(अथवा इस विषय में चर्चा से क्या मतलब है ?)

ख्यातः—यद्यपि वह कौरव पराक्रमियों में विख्यात है यह ठीक है परन्तु इस विषय में युद्धरूपी कसौटी के रहते हुए मात्र वचन प्रमाण नहीं हो सकते । इसलिये आप शूर-वीरता की कथा से उत्पन्न हुई इसकी वज्रवत्ता को युद्ध में शीघ्रता से ही बिखरती हुई देखें ॥ १४ ॥

सरलिका—क्या उद्दण्ड की तरह आत्मीय जन की शिक्षा को भी सहन नहीं करता ? फिर क्या हुआ ?

प्रतीहार—इस वृत्तान्त को पाकर महाराज अकम्पन ने यथायोग्य कार्य का विचार किया और अपना अभिप्राय मेरे हाथ में निवेदित कर मुझे ही प्रधान दूत बनाकर अर्ककीर्ति के पास भेजा । तदनन्तर मैंने जाकर उनके प्रतीहार के द्वारा अपने आगमन की सूचना दी फिर पास जाकर योग्य शिष्टाचार-पूर्वक मैंने कहा—युवराज ! महाराज ने आपसे कहा है ।

विनीतो—आप अत्यन्त विनीत तथा विवेकी हैं अतः बालक होने पर भी पिता के ही प्रतिनिधि हैं । आप अपनी निर्दोष प्रकृति को न छोड़ें ।

परेषां पैशुन्यान्न हि च वचनीयान्मलिनता
क्रियद्वा भिन्न मे भरत इति हेमाङ्गद इति ॥ १५ ॥

किं च—

कुतोपि जन्मांतररूढवासना विबोधलब्धास्पदकौतुकेरिते।
स्वयंवरेऽस्मिन्नलमन्यया धिया परोपि मुह्यन् भवता निगृह्यताम् ॥१६॥

अपि च—

असिमषिकृषिविद्याशिल्पवाणिज्यवृत्तीः
शिवपदपदवीमप्यन्ततो दर्शयित्वा।
अपतमसि कृतेऽस्मिन् विश्वधाम्ना युगेऽत्र
प्रतिहतनिजवृत्तिर्मा कलिश्च प्रविक्षत् ॥ १७ ॥

अपि च—

इयं तनूजा मम रत्नमाला गुणाधिक त्वां सदृशी गुणेन।

दूसरों की चुगली अथवा निन्दा से मलिनता धारण करना अच्छा नहीं। मेरे लिये भरत अथवा हेमाङ्गद कितने जुदे हैं ! ॥ १५ ॥

और भी—

कुतोऽपि—यह स्वयंवर किसी अन्य जन्म में जमी वासना के स्मरण से उत्पन्न कौतुक से किया गया है इसके विषय में अन्य बुद्धि करना—अन्यथा विचार करना व्यर्थ है। प्रत्युत यदि कोई दूसरा पुरुष इसमें भूल करता है तो वह आपके द्वारा दण्डनीय है ॥ १६ ॥

और भी—

असिमषि—पहले असि, मषि, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्य इन छह वृत्तियों को और अन्त में मोक्षपद के मार्ग को भी दिखाकर भगवान् ऋषभदेव ने इस युग को अन्धकार-रहित किया है इसलिये कृतयुग कहलाता है। इस कृतयुग में अपनी मर्यादा को खण्डित करनेवाला कलि काल प्रवेश न करे ॥ १७ ॥

और भी—

इयं—यह हमारी पुत्री रत्नमाला जो कि गुणों से आपके अनुरूप है,

अनन्यसाधारण-भागधेयं वरं वृणीतां मदनुज्ञयैव ॥ १८ ॥

सरलिका—भट्टिदारिअं रअणमालं जुवराअअक्ककित्तिणो पडिच्छंतेण सुविहिदं महाराएण। (भर्तृदारिकां रत्नमालां युवराजार्ककीर्तेः प्रतीच्छता सुविहितं महाराजेन।)

प्रतीहारः—ततश्च लब्धावसरो निरवद्यः पुनरवोचत्। तदिदमिदानीमदीनमनादीनवमावेदितं महाराजेन यतः संप्रतिपत्तिरेव युवराजस्योत्तरमिति।

सरलिका—तदो तदो। (ततस्ततः।)

प्रतीहारः—ततश्च सोल्लुंठं कथितमर्ककीर्तिना। आस्तामार्यस्य प्राड्विवाकतेति। मां चोद्दिश्य कथितम्। अरे योग्यः प्रतिभाति काशीपतिः साधु शिक्षयितुम्।

स्वयंवरव्यतिकरे यौष्माकीणस्य भूपतेः।
संकेतकूटनिष्कस्य साध्वी कूटस्थतापि सा ॥ १९ ॥

अधिक गुणवान् एवं असाधारण भाग्य से युक्त आपको मेरी आज्ञा से अपना वर स्वीकृत करे ॥ १८ ॥

सरलिका—युवराज अर्ककीर्ति के लिये राजपुत्री रत्नमाला को देते हुए महाराज ने बहुत अच्छा किया।

प्रतीहार—तदनन्तर अवसर-प्राप्त कर निरवद्य मन्त्री ने फिर कहा कि इस समय महाराज ने यह दीनता-रहित निर्दोष प्रस्ताव प्रस्तुत किया है इसलिये स्वीकृति ही युवराज का उत्तर होना चाहिये।

सरलिका—फिर क्या हुआ?

प्रतीहार—तदनन्तर अर्ककीर्ति ने बड़ी उद्दण्डतापूर्वक कहा कि आप अपनी वकालत रहने दें और मुझे लक्ष्य कर कहा कि काशीपति शिक्षा देने में बहुत योग्य जान पड़ते हैं।

स्वयंवर—स्वयंवर के कार्य में तुम्हारे राजा संकेत के जाली सिक्का हैं आश्चर्य है कि उनकी माया भी अच्छी समझी जा रही है ॥ १९ ॥

किंतु सधानमतिसधानमिति द्वे इमे न क्वापि सभाविते अवतिष्ठेते।
ततश्च—

प्रयुञ्जानो मोहात्कपटमिममस्मास्वनुचित
नृपालो युष्माकं फलमुचितमस्यानुभवतु।
अयाथातथ्योत्थस्वगुणघटनोत्तेजितमदः
शरव्यं कौरव्यः स भवतु शराणां मम युधि ॥ २० ॥

सरलिका—कह पुणोवि सो एव्व सिद्धतो। (कथं पुनरपि स एव सिद्धान्तः।)

प्रतीहार—ततश्च निरवद्य इदमवोचत्। युवराज! अतिक्रांतोसि। शिक्षेयं किंचिच्छ्रूयताम्।

साक्षादसि त्वं भरतस्य सूनुराद्यस्य पुंसोपि तृतीय एव।
तन्नार्हसि त्वं मनुवंशकेतो! स्रष्टुं युगस्याविनयप्रतिष्ठाम् ॥ २१ ॥

किन्तु याद रखना चाहिये कि मेल और छल ये दोनों किसी एक में सम्मानित होकर नहीं रहते।

इसलिये—

प्रयुञ्जानो—मोह से हमलोगों के विषय में इस अनुचित कपट का प्रयोग करता हुआ तुम्हारा राजा इस कपट के उचित फल का अनुभव करे और अनुचित रूप से बढ़ते हुए अपने गुणों की घटना से जिसका अहंकार बढ़ रहा है ऐसा वह कौरव—जयकुमार युद्ध में हमारे बाणों का लक्ष्य बने ॥ २० ॥

सरलिका—क्या फिर भी वह सिद्धान्त?

प्रतीहार—पश्चात् निरवद्य मन्त्री ने यह कहा—युवराज! तुम बहुत आगे बढ़ चुके हो। कुछ यह शिक्षा सुनी जावे।

साक्षादसि—तुम भरत के साक्षात् पुत्र हो और आद्यपुरुष—भगवान् ऋषभदेव के भी तृतीय ही हो इसलिये तुम मनुवंश की पताका-स्वरूप उन दोनों को अविनय-प्रतिष्ठा करने के योग्य नहीं हो—ऐसा काम मत

किंच—

त्वं काशिराजस्य सुतां यदीप्सुः सुतापि तुभ्यं प्रतिपादितैका।
मा सैनिकास्ते कुशला युधीति मंस्थाः प्रभूतः कुरुकाशिवर्गः ॥२२॥ इति।

सरलिका—तदो तदो। (ततस्ततः।)

प्रतीहारः—ततश्चार्ककीर्तिः ससंरंभमवोचत्। यथा आर्य अस्त्येवैतत्। किं तु—

नाहं सुलोचनार्थ्यस्मि क्षात्रो धर्मस्तु पाल्यते।
तातस्यापि न विद्वेषो निग्रहे कूटकारिणाम् ॥ २३ ॥

अथ च—

द्वैधीभावं भजतु सहसा संहतो राजवर्गः
कामं वासौ पततु निखिलः शात्रवे पक्ष एव।

करं जिये जिससे भरत चक्रवर्ती और प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव की अविनय-प्रतिष्ठा हो ॥ २१ ॥

और फिर—

त्वं काशि—तुम काशीराज की पुत्री के इच्छुक हो सो तुम्हारे लिये भी एक कन्या दी गई है। तुम्हारे सैनिक युद्ध में कुशल हैं ऐसा मत समझो क्योंकि कुरु और काशी के लोगों का वर्ग भी बहुत बड़ा है ॥ २२ ॥

सरलिका—फिर क्या हुआ ?

प्रतीहार—तदनन्तर अर्ककीर्ति ने क्रोध-पूर्वक कहा कि जैसा आप कहते हैं यह यही है। किन्तु—

नाहं—मैं सुलोचना का इच्छुक नहीं हूँ किन्तु क्षात्र धर्म का पालन किया जा रहा है। कपटी मनुष्यों का दमन करने में पिता जी को भी रोष नहीं हो सकता ॥ २३ ॥

इसलिये—

द्वैधीभावं—इकट्ठा हुआ राजसमूह भले ही दो भागों में बँट जावे अथवा इच्छानुसार सबका सब राजसमूह शत्रु के पक्ष में ही जा मिले, इससे

किं नरिष्यन्न ननु रिपुशतोन्माथकोनाशदण्डौ
सन्नद्धौ मे समितिषु भुजावेव साहाय्यकाय ॥ २४ ॥

ततश्च—

जयावाप्त्युद्भूतप्रमदभरसंवर्धितमद
मदीयं पादातं सपदि समरे पश्यतु भवान् ।
कुरूणां तत्सैन्यं जयविरहदैन्यप्रतिहत
जनः स्वैरं शोचत्त्वविनयफलास्वादचकितम् ॥ २५ ॥

सरलिका—अहो कर्कशदा सहावस्स । तदो तदो । (अहो कर्कशता स्वभावस्य । ततस्ततः ।)

प्रतीहार.—ततश्च निरवद्य. सानुशयविषादमेवमवादीत् । धिक्कष्टम् । लघूकृतोस्मि दुर्विनीतेन मामटीकुर्वता चक्रवर्तिना । यदमुना बहुधापि शिक्षितेन जितकाशिता केवल प्रकाशितेति । अर्ककीर्तिना पुनर्दत्तमुत्तर न केवल मे जितकाशितैव, कुरूनपि जितानेव विद्धि इति ।

मेरा क्या खण्डित हो गया ? सैकड़ों शत्रुओं को नष्ट करने के लिये यम-दण्ड के समान मेरी दो भुजाएँ ही युद्ध में मेरी सहायता के लिये तैयार हैं ॥ २४ ॥

अतएव—

जयावाप्त्यु—आप युद्ध में शीघ्र ही मेरी सेना के समूह को जय-विजय की प्राप्ति से उत्पन्न हर्ष के समूह से बढ़ते हुए मद से युक्त देखें और लोग कुरुओं की उस सेना को जय-जयकुमार के विनाशजन्य दीनता से नष्ट तथा अविनय का फल चखने से चकित स्वेच्छानुसार देखें ॥ २५ ॥

सरलिका—अहा, स्वभाव की बड़ी कर्कशता है । फिर क्या हुआ ?

प्रतीहार—फिर निरवद्य मन्त्री ने पश्चात्ताप और विषाद के साथ इस प्रकार कहा—बड़े दुःख की बात है, इस अभिमानी के साथ मेलते हुए चक्रवर्ती के द्वारा मैं अपमानित किया गया हूँ क्योंकि अनेक प्रकार से समझाये जाने पर भी इसने केवल जितकाशिता—अहंकार ही प्रकट किया है । अर्ककीर्ति ने फिर उत्तर दिया कि न केवल मेरी जितकाशिता—काशी का जीतना है किन्तु कुरुओं को भी जीता हुआ ही समझिये ।

सरलिका—हं चक्कवट्टितणओ एव्वं कुप्पेदित्ति जं सच्चं अच्चहिदं संकेदि मे हिअअं। (हंत चक्रवर्तितनय एवं कुप्यतीति यत्सत्यमत्याहितं शंकते मे हृदयम्।)

प्रतीहारः—अलमत्र तावत् शंकया सोपि मेघेश्वर एव।

सरलिका—ण आणामि दुव्वंचिआ अत्थ संधीकरोदुं। (न जानामि दुर्वंचिता अत्र संधीकर्तुम्)

प्रतीहारः—इत्थं च विग्रहैकरुचौ प्रत्यवस्थिते चक्रवर्तिसुते निरवद्यः सनिर्वेदनिश्वासमुत्थाय चिंतावेगमूक एव निरगमत्।

सरलिका—तदो तदो। (ततस्ततः।)

प्रतीहारः—अहं च तूष्णीक एव निर्गच्छंतं निरवद्यमन्वयाशिषम्।

सरलिका—तदो तदो। (ततस्ततः।)

प्रतीहारः—निर्गत्य च निरवद्येन लेखार्पितेनैतद्वृत्तांतेन त्वरितविंयल्लं-

---

सरलिका—खेद है कि चक्रवर्ती का पुत्र इस तरह कुपित हो रहा है इसीलिये मेरा हृदय किसी बड़े अनर्थ की आशङ्का करता है।

प्रतीहार—इसमें शङ्का करना व्यर्थ है वह भी तो मेघेश्वर ही है।

सरलिका—बुरी तरह वञ्चित हुई।मैं इस विषय में संतोष करना नहीं जानती।

प्रतीहार—इस प्रकार युद्ध में ही रुचि रखनेवाला चक्रवर्ती का पुत्र जब विरोध में खड़ा हो गया तब निरवद्य मन्त्री बड़े दुःख के साथ सांस लेकर उठा और चिन्ता के वेग से चुपचाप ही बाहर चला गया।

सरलिका—फिर क्या हुआ?

प्रतीहार—मैं भी चुपचाप ही निकलते हुए निरवद्य के पीछे हो लिया।

सरलिका—फिर क्या हुआ?

प्रतीहार—वहां से निकल कर निरवद्य मन्त्री ने यह सब समाचार

घनजवाल विद्याधरदूतद्वय तत्क्षणमेव चक्रवर्तिनः पार्श्वं प्रस्थापितम्। मयाप्यागत्य यथावृत्त सर्वमेतन्महाराज निवेदितम्।

प्रतीहार:—श्रुत्वा च महाराजः क्षणमिव स्तिमित स्थित्वा सनिर्वेदमवादीत्। कष्ट भोः सकटे पतिताः स्मः।

सरलिका—तदो तदो। (ततस्ततः।)

सुत कुरोरेकतरस्तयोर्द्वयोः परः पुरोरेव सुतस्य नन्दन।
द्विपञ्चवेव कतरस्य वत्सयोर्वैरं तदत्राप्रतिपत्तिरेव नः ॥ २६ ॥

सरलिका—तारिसं क्खु तारिसाणं हिअअ। (तादृश खलु तादृशाना हृदयम्।)

प्रतीहार:—आज्ञापितश्चाहं महाराजेन। भो महेन्द्रदत्त किंबहुना। दैवमेवात्र स्वमनीषितमाचरतु। तदिदानीं मद्वचनात्त्वं हेमाङ्गद ब्रूहि। निष्क्रान्तेषु समरमाय विग्रहव्यग्रेषु राजपुत्रेषु सायंतं पुरमार्गेषु दुर्गरोधप्रतिहतारि-

---

लिपिबद्ध किया और शीघ्र ही आकाश के लाँघने में समर्थ दो विद्याधर दूतों को उसी क्षण चक्रवर्ती के पास भेजा। और मैंने भी आकर जो समाचार जैसा हुआ वह सब महाराज के लिये सूचित किया।

सरलिका—फिर क्या हुआ?

प्रतीहार—सुनकर महाराज पहले तो क्षणभर निश्चल बैठे रहे फिर बड़े दुःख के साथ कहने लगे कि अरे! हमलोग सकट में पड़ गये।

सुतः—उन दोनों में एक तो कुरु का पुत्र है और दूसरा भगवान् ऋषभदेव के पुत्र का पुत्र है। इन दोनों बच्चों में मैं किसका शत्रु बनूँ? इसलिये इस विषय में हमारा चुप रहना ही अच्छा है ॥ २६ ॥

सरलिका—उन जैसे महापुरुषों का हृदय वैसा ही होता है।

प्रतीहार—और महाराज ने मुझे आज्ञा दी। ओ महेन्द्रदत्त! अधिक क्या कहा जाय? इस विषय में भाग्य ही अपने मन की करले। इसलिये इस समय तुम मेरी ओर से बेटा हेमाङ्गद से कहो। युद्ध के लिये उतावले राजपुत्र जब युद्ध के लिये बाहर निकल जावें तब नगर की गलियों में दुर्ग के

प्रपंचाः पांचालिकाः। रक्ष्यंतामारक्षिकैः स्थिरावस्थानानि गुल्मकस्थानानि। निखिलीक्रियंतां निखिलानि पुरद्वाराणि। दुर्भिभेदा व्यतिकीर्यन्तां सुदृढमर्गलादंडाः। प्रगुणीक्रियंतां गाढतरसंघट्टा अट्टालिकवंषाः। प्रवेश्यंतां च प्रतोलीमुखेषु विशिखांतरेषु च सन्नद्धयोधाधिष्ठितास्संनाह्या गंधहस्तिनः। प्रवर्त्यंतां च राजमार्गेषु संरब्धाश्ववाराणि दंशितगात्राण्यश्वीयानि। स्थाप्यंतां च चत्वरेषु प्रयोग्ययुग्ययोजिताश्चतुरघीसारथीसनाथा रथाः। नियोज्यंतां च परितः परिहृतविपत्तयः पत्तयः। परिहार्यन्तां च सुसंनद्धेनांनवंशिकजनेन राजगृहबाह्यालो। स्वयं च वत्सेन वाराणसीरक्षणे यावत्समरावसानं सावधानेन भवितव्यमिति।

(नेपथ्ये, कलकलः।)

सरलिका—किं दाणि एदं। (किमिदानीनेतत्।)

बन्द हो जाने से शत्रु के प्रपञ्चों को नष्ट करनेवाले पंजाबी जवान घुमाए जावें। जिनपर स्थायी ड्यूटी दी जा रही है ऐसे महत्त्वपूर्ण स्थान रक्षकों के द्वारा सुरक्षित किये जावें। नगर के सब द्वार बन्द कर दिये जावें। जिनका तोड़ना कठिन है ऐसे आगल मजबूती के साथ जहां तहां दिये जावें। अट्टालिकाओं को सुरक्षा के प्रचुर साधनों से युक्त कर सुरक्षित किया जावे। गलियों के अग्रद्वार तथा उनके भीतरी प्रदेशों में तैयार योद्धाओं से युक्त तैयार हाथी प्रविष्ट किये जावें। राजमार्गों में घुड़सवारों से युक्त एवं जिनके शरीर पर खुरेरा किया गया है ऐसे घोड़ों के समूह घुमाए जावें। चौराहों पर अत्यन्त बुद्धिमान् सारथियों से सहित रथ खड़े किये जावें। सब ओर विपत्ति का निराकरण करनेवाले सिपाही नियुक्त किये जावें। राजवंश के लोग अच्छी तरह सावधान रहें तथा राजभवन के बाह्य मैदान को छोड़ दें और स्वयं बेटा हेमाङ्गद को युद्ध की समाप्ति-पर्यन्त वाराणसी की रक्षा में सावधान रहना चाहिये।

(परदे के भीतर कलकल शब्द होता है)

सरलिका—यह इस समय क्या हो रहा है!

प्रतीहारः—(विभाव्य) कथं प्रचलितमेव समराय राजन्यकेन ।
तथा हि—

रसति समरभेरी भैरवारावघोरं
चलितनृपतिसरम्भोद्योगशङ्खा ध्वनन्ति ।
प्रसरति च चमूनां प्रस्तरोऽन्तराल-
कलकलनिनदोऽयं काहलध्वानगर्भः ॥ २७ ॥

सरलिका—जाव इमं उत्तन्तं पिअसहीए णोमालिआए णिवेदेमि ।
(यावदिमं वृत्तान्तं प्रियसख्या नवमालिकाया निवेदयामि ।)

प्रतीहार—यावदहमपि युवराजहेमाङ्गदाय महाराजनियोगं निवेदयामि
(परितो विलोक्य) अहो महती समरयात्रा ।

तथाहि—

विदधति नृपतीनां विश्वतोऽप्यरनुवाना

प्रतीहार—(विचार कर) क्या राजकुमार लोग युद्ध के लिये चल ही दिये !

इस समय—

रसति—भयंकर शब्दों के साथ रणभेरी बज रही है, चलते हुए राजाओं के युद्ध सम्बन्धी उद्योग को सूचित करनेवाले शंख शब्द कर रहे हैं और आकाश के अन्तराल को व्याप्त करनेवाला एवं काहल वाद्य के शब्द से मिला हुआ सेनाओं का यह कलकल शब्द फैल रहा है ॥ २७ ॥

सरलिका—अब तक मैं यह वृत्तान्त प्रियसखी नवमालिका के लिये सूचित कर दूँ ।

प्रतीहार—मैं भी युवराज हेमाङ्गद के लिये महाराज का आदेश बतला दूँ । (सब ओर देखकर) अहा, बहुत भारी युद्ध की तैयारी है ।

क्योंकि—

विदधति—इस समय निकल कर सब ओर व्याप्त होती हुई राजाओं

धरणिमनवकाशां निष्पतन्त्यो ध्वजिन्यः ।
विदधति रणनाट्यप्रेक्षकाणां समंताद्
गगनमपि विमानान्यद्य वैमानिकानाम् ॥ २८ ॥

(निष्क्रांतौ)

मिश्रविष्कम्भः

(ततः प्रविशति आकाशयानेन विमानारूढो रत्नमाली मंदारमाला पार्श्वतो मन्थरकश्च)

रत्नमाली—प्रिये मंदारमाले चिरादुपस्थितमेतदतर्कितहेतुकं नः कौतुकम् ।

कुतः—

एको जयः प्रगुणविक्रमलब्धकीर्ति-
र्मानग्रहग्रहिलधीरपरोऽर्ककीर्तिः ।

की सेनाएँ पृथिवी को अवकाश-रहित कर रही हैं और रणरूपी नाटक के देखनेवाले देव और विद्याधरों के विमान सब ओर से आकाश को भी अवकाश रहित कर रहे हैं ॥ २८ ॥

(दोनों निकल जाते हैं)

मिश्रविष्कम्भ

(तदनन्तर आकाशयान से विमान में बैठा रत्नमाली, मन्दारमाला और पास में मन्थरक प्रवेश करता है)

रत्नमाली—प्रिये मन्दारमाले ! जिसके कारणों की कोई संभावना नहीं को ऐसा यह कौतुक हमारे लिये चिरकाल बाद प्राप्त हुआ है ।

क्योंकि—

एको जयः—इनमें एक तो अत्यधिक पराक्रम से कीर्ति प्राप्त करनेवाला जयकुमार है और दूसरा मानरूपी पिशाच से आक्रान्त बुद्धिवाला अर्ककीर्ति है

तस्मात्फलिष्यतितरामनिमेषतैषा
सप्रेक्ष्य युद्धमिह कौरवपौरवीयम् ॥ २६ ॥

मंदारमाला—देव कुदो खु णिरवज्जरज्जणिव्वहणणिग्गहिदसअल लोअविग्गहे पालअन्तेवि भारदवरिसं अप्पडिहदचक्केवि चक्कवट्टिभरहे ईरिसाण दुव्विणीआसगसुलहाण परक्कमो राअउत्ताण। (देव कुतः खलु निरवद्यराज्यनिर्वहणनिगृहीतसकललोकविग्रहे पालयत्यपि भारतवर्षमप्रतिहतचक्रेपि चक्रवर्तिभरते ईदृशानां दुर्विनीतासंगसुलभानां पराक्रमो राजपुत्राणाम्।)

मन्थरक—किं करेदु एत्थ महाराअभरहो सहावदुव्विअद्धाणं सअं वा देवो भारदवरिससिहामणि केलाससेलं अहिवसंतो। (किं करोत्वत्र महाराजभरतः स्वभावदुर्विदग्धानां स्वयं वा देवो भारतवर्षशिखामणिं कैलासशैलमधिवसन्।)

रत्नमाली—एवमेतत्।

वैयात्यं सहजं नृणां दमयितुं नैवापरैः पार्यते
भुञ्जन् भारतवर्षमद्य स हि किं कुर्यादिमानीश्वरः।

इसलिये यहां जयकुमार और अर्ककीर्ति के युद्ध को देखकर हमारी यह अनिमेषता अच्छी तरह सफल होगी ॥ २६ ॥

मन्दारमाला—हे देव! जब कि निर्दोष राज्य के संचालन से समस्त लोगों के विवाद को दूर करनेवाले तथा रोक टोक रहित चक्र के स्वामी चक्रवर्ती भरत इस भारतवर्ष का पालन कर रहे हैं तब उद्दण्ड मनुष्यों की संगति से सुलभ ऐसे राजपुत्रों का पराक्रम क्यों फैल रहा है?

मन्थरक—स्वभाव से उद्दण्ड लोगों का, महाराज भरत अथवा भारतवर्ष के शिखामणि कैलास पर्वत पर निवास करनेवाले भगवान् ऋषभदेव क्या कर सकते हैं?

रत्नमाली—ऐसी ही बात है।

वैयात्य—मनुष्यों की सहज धृष्टता का दूसरों के द्वारा दमन नहीं किया जा सकता। इसलिये इस समय भारतवर्ष का पालन करनेवाले चक्रवर्ती भरत इनके प्रति क्या करें? और देखो, समवसरण सभा में विराजमान

पश्य स्थाणुरपि श्रुतीरुपदिशन्नास्थाय दिव्यां सभां
कैलासाचलमौलिमत्रभगवानध्यास्त एवेश्वरः ॥ ३० ॥

मंदारमाला—किं वहुणा आरोविदा सोहग्गस्स अंतिमतुलं अकंपणसोवासिणी। (किं बहुना। आरोपिता सौभाग्यस्यांतिमतुलामकंपनसुवासिनी।)

मंथरकः—देव दक्ख दक्ख कत्थइ णिरंधसरअसमअतुरअणिअरकठोरखुरघादखंडणवड्ढिदा कत्थइ समददो सरभसचलंतविअडगुडिअगंधसिंधुरणिवहचलणचंडणसमुप्पइआ। कत्थइ णिरंतरच्चरंतपाइचक्कअपरिवट्टणसमुट्ठिदा। कत्थइ अविच्छिरणगच्छंतसंदणचक्कुक्केरकंडणविवड्ढिदा अधावेइ महीअलबलोट्ठिदा सअलं वि दिसावलअं मज्झधूलीजालोलो। (देव पश्य पश्य कुत्रचिन्नरंध्रसरयसमदतुरगनिकरकठोरखुरघातखंडनवर्धिता कुत्रचित्समंततः सरभसचलद्विकटकूरगंधसिंधुरनिवहचरणसंमर्दसमुत्पतिता कुत्रचिन्निरंतरचरत्पदातिचक्रपदपरिवर्तनसमुत्थिता, कुत्रचिदविच्छिन्नगच्छत्स्यदनचक्रोत्करकर्षणविवर्धिता अंधापयति महीतलबलोत्थिता सकलमपि दिशावलयं मध्यधूलीजालालिः।)

रत्नमाली—(विलोक्य)।

होकर श्रुतियों का उपदेश देनेवाले भगवान् ऋषभदेव भी यहां कैलास पर्वत की शिखर पर विद्यमान हैं ही ॥ ३० ॥

मन्दारमाला—अधिक क्या कहा जाय ? अकम्पन की बेटी सौभाग्य की अन्तिम तुला पर चढ़ी हुई है।

मन्थरक—देव ! देखो-देखो कहीं अवकाश-रहित, वेगशाली अहंकारी अश्व-समूह के कठोर खुरों के घात से खुदने के कारण बढ़ी हुई, कही सब ओर वेग से चलते हुए विशाल एवं दुष्ट मदोन्मत्त हाथियों के समूह-सम्बन्धी चरणों के संमर्द से उड़ी हुई, कहीं निरन्तर चलते हुए पैदल सैनिकों के समूह-सम्बन्धी पैरों के परिवर्तन से उठी हुई और कहीं लगातार चलते हुऐ रथ-सम्बन्धी पहियों के समूह से खुदने के कारण वृद्धि को प्राप्त हुई पृथिवी तल की सेना से उठी मध्यलोक की धूलि का समूह समस्त दिशाओं के समूह को अन्धा कर रही है।

रत्नमाली—(देखकर)

चमूविमर्दक्षतभूतलोत्थितो
रजीकृताशेषदिनेशदीधिति ।
रज:प्रतान: प्रगुण प्रकाशयन् ॥ ३१ ॥ (?)

किंच—

ख्यातः पूर्वं जगति समरो मत्कृते भूपतीना
काचित् कन्या प्रति रणमिद तद्यशो मे प्रमार्ष्टि ।
इत्युद्भूतात् प्रकृतिसुलभात् स्त्रीषु सा यत्नवैरात्
क्वापि क्षोणी, घनतमरजश्छद्मना गच्छतीव ॥ ३२ ॥

मन्दारमाला—अहो को एत्थ अक्काकित्ति को वा कोरवेसरो । (अथ कोनार्ककीर्ति, का वा कौरवेश्वरः ।)

रत्नमाली—नन्वयमागत सर्वमेतद्विदित्वा वाराणसीं प्रति प्रहितो मदर ।

(प्रविश्य)

चमू—सेना के सघर्ष से खुदे हुए पृथिवीतल से उठा और सूर्य की समस्त किरणों को धूलिमय करता हुआ यह धूलि का समूह (समस्त लोक में) व्याप्त हो रहा है ।

और भी—

ख्यात —पहले, ससार में राजाओं के जितने युद्ध हुए हैं वे सब मेरे लिये ही हुए हैं परन्तु यह युद्ध किसी कन्या को लक्ष्य कर हो रहा है अत मेरे यश को मिटा रहा है इस तरह स्त्रियों के विषय में उत्पन्न हुए स्वभाव-सुलभ सौतिया वैर से ही मानों पृथिवी अत्यधिक धूलि के छल से कहीं रूठ कर जा रही है ॥ ३२ ॥

मन्दारमाला—अहो, इनमें अर्ककीर्ति कौन है ? और कौरवेश्वर कौन है ?

रत्नमाली—लो, सब समाचार जान कर यह मन्दर आ गया जिसे वाराणसी भेजा था ।

(प्रवेश कर)

मन्दरः—जयतु देवः।

रत्नमाली—अयि मंदरक किमधिगताखिलप्रवृत्तिरसि।

मन्दरः—देव सर्वमेव विदित मे कर्तव्यं जनस्य।

रत्नमाली—तेन हि शृणुमः।

मन्दरः—देव किं बहुना।

जित्वा कौरवमाहवे नृपसुतां हर्तुं प्रतिज्ञातवा-
नौद्धत्येन स पौरवः शमयितुं तस्योद्धतिं कौरवः।
द्वैतेऽस्मिन् प्रशमी स काशिनृपतिः प्रोज्झन् द्वयोः पक्षतां
संप्रेक्ष्यात्मन औचितीं दुहितरं रक्षन् पुरेऽवस्थितः॥ ३३॥

रत्नमाली—अहो जामातृत्वमपि कौरवेश्वरस्य नावेक्षितं माध्यस्थ्यैकरुचिना काशीपतिना। अथ सर्वमन्यद्राजकं कथमवृतत। अथवा किमत्र प्रश्नेन। न खलु हातुं प्रभवंति चक्रवर्तिसूनोः पक्षतां सर्वेऽप्युर्वीभृतः।

मन्दर—जय हो देव की।

रत्नमाली—अये! मन्दरक! क्या सब समाचार जान लिये?

मन्दर—मुझे लोगों का सभी कर्तव्य विदित हो चुका है।

रत्नमाली—तो हम सुनते हैं।

मन्दर—देव! अधिक क्या कहा जाय?

जित्वा—उस अर्ककीर्ति ने उद्दण्डता के कारण युद्ध में कौरव को जीतकर राजपुत्री को हरने की प्रतिज्ञा की है और जयकुमार ने उसकी उद्दण्डता को शान्त करने की प्रतिज्ञा ली है। इस द्वन्द्व के समय शान्त-परिणामी काशीनरेश दोनों का पक्ष छोड़ अपनी योग्यता का विचार कर पुत्री की रक्षा करते हुए नगर में स्थित हैं॥ ३३॥

रत्नमाली—आश्चर्य है कि माध्यस्थ्यभाव में रुचि रखनेवाले काशी-नरेश ने इस बात का भी विचार नहीं किया कि जयकुमार हमारे दामाद हैं। अच्छा बाकी सब राजा किस प्रकार हैं? अथवा इसमें पूछने की क्या बात है? सभी राजा चक्रवर्ती के पुत्र का पक्ष छोड़ने के लिये समर्थ नहीं हो सकते।

मन्दर —एवमेतत् । किंतु एक उज्जयनीपतिर्जयन्तश्चिरविरूढसौहार्दचोदित कौरवस्य पक्षता प्रत्यपादि ।

रत्नमाली—बलीयो हि प्रभविष्णुताया अपि सौहार्दम् ।

मन्थरकः—अथ किं पडिवण्ण विज्जाहरेहि । (अथ किं प्रतिपन्न विद्याधरै ।)

मन्दर.—

विशां प्रभोरात्मजमर्ककीर्ति पैतृष्वसेयं सुनमि. प्रपन्न ।
मेघप्रभोऽभूत्प्रविचिन्त्य मातृष्वस्रीयतामस्य जयस्य गृह्य. ॥ ३४ ॥

रत्नमाली—युक्तमेतत् । क्व पुनरन्ये ।

मन्दर —

स यत्राभूद्विद्याधरमुकुटसघट्टकपण-
क्वणत्पीठीकोणस्सुनमिरधिपो राजतगिरे. ।
उदीच्या भूपोऽपि त्वरितमथ समेत्य सकल-
स्तदायत्तस्तत्तत्त्वयमजनि विद्याधरजन ॥ ३५ ॥

मन्दर—ऐसी ही बात है किन्तु एक उज्जयिनी के राजा जयन्त ने चिरकालीन मित्रता से प्रेरित होकर जयकुमार का पक्ष लेने की घोषणा की है ।

रत्नमाली—सचमुच ही प्रभुता की अपेक्षा मित्रता बलिष्ठ होती है ।

मन्थरक—अच्छा, विद्याधरों ने किसका पक्ष स्वीकृत किया ?

मन्दर—

विशां—सुनमि, चक्रवर्ती के पुत्र अर्ककीर्ति के पक्ष में गया है क्योंकि वह उसकी बुआ का लड़का है और मेघप्रभ इस बात का विचार कर कि जयकुमार मौसी का लड़का है, जयकुमार के पक्ष में गया है ॥ ३४ ॥

रत्नमाली—यह तो ठीक है और दूसरे लोग किधर रहे ?

मन्दर—

स यत्रा—विद्याधरों के मुकुट समूह की टक्कर से जिसकी पाद चौकी का कोना शब्द कर रहा है ऐसा विजयार्ध गिरि का स्वामी वह सुनमि

रत्नमाली—तदप्युपपन्नम् ।

मन्दरः—ततश्च सर्वेपि निर्वाणारस्यः समासाद्य समस्थिरां निरुत्खातिनींमपंककंटकादिदूपितां युद्धभूमिं सुविभक्तकक्षपक्षोरस्यान्यनीकानि व्यूह्यामी समवस्थिताः । पश्यतु च देवः ।

चक्रव्यूहं विभज्यास्ते योसौ रथमधिष्ठितः ।
स चक्रवर्तिनस्सूनुरर्ककीर्तिः पराक्रमी ॥ ३६ ॥
विभज्य मकरव्यूहं योसौ स्यंदनमास्थितः ।
स कौरवो जयः कांत्या साक्षान्मकरकेतनः ॥ ३७ ॥

इतोपि—

विभज्य गरुडव्यूहमध्यास्ते सुनमी रथम् ।
मेघप्रभोऽमुं व्यूहेन दुर्जयं विजिगीपते ॥ ३८ ॥

जिस ओर हुआ उसी ओर उत्तर श्रेणी का राजा तथा उन दोनों के अधीन रहनेवाला समस्त विद्याधरों का समूह शीघ्र ही मिलकर स्वयं एकत्रित हो गया है ॥ ३५ ॥

रत्नमाली—वह भी ठीक है ।

मन्दर—तदनन्तर वाराणसी से बाहर निकल कर ये सब सम, स्थिर, ऊँची-नीची भूमि से रहित तथा कीचड़ और कण्टक आदि से अदूपित युद्ध-भूमि में जा पहुँचे और जिनमें कक्ष, पक्ष तथा छाती आदि के स्थानों का अच्छी तरह विभाग किया गया है ऐसे सैन्य-व्यूहों की रचना कर खड़े हो गये हैं । देखिये आप ।

चक्रव्यूहं—जो यह चक्रव्यूह का विभाग कर रथ पर बैठा हुआ है वह चक्रवर्ती का पुत्र अर्ककीर्ति है ॥ ३६ ॥

विभज्य—और जो यह मकर व्यूह का विभाग कर रथ पर सवार है वह कान्ति से साक्षात् कामदेव के समान कुरुवंशी राजा जयकुमार है ॥ ३७ ॥

इस ओर भी—

विभज्य—गरुड व्यूह का विभाग कर सुनमि रथ के ऊपर बैठा है और

इतोपि—

> सुकेतुः प्रविभज्यास्ते व्यूहं पारिपतङ्गकम्।
> तं व्यूह्य सर्वतोभद्रं जयतो विजिगीषते ॥ ३६ ॥

मन्थरकः—कहं इमेहिं समआलवज्जंतकंसिककंसालजअघंटसंखसिंगकाहला तुरुतुरीडमरुअढिमिलडिंडिममद्दलदुन्दुभिकरडपडहहुडुक्कुडुक्काभेरीमगापहुदिभूरिवज्जमहतुमुलकोलाहलवहलणिग्घोसणिव्विग्घविअप्पिअकोऊहलपेल्लिदेहिं झडत्ति ढक्किअणहअलगअणाभोअपेरन्तो परोप्परं विमुक्को दुवेहिं बलेहिं संगामणाडअपुव्वरंगकुसुमंजलिसरणिअरो। (कथमेताभ्यां समकालवाद्यमानकांस्यकांस्यतालजयघंटाशंखशृङ्गकाहलतुरुतुरीडमरुकढिमिलडिंडिममर्दलदुन्दुभिकरडपटहहुडुक्कुडुक्काभेरीमगाप्रभृति भूरिवाद्यमहातुमुलकोलाहलबहलनिर्घोषनिर्विघ्नोत्पादितकौतूहलप्रेरिताभ्यां झटिति स्थगितनभस्तलगगनाभोगपर्यन्तः परस्पराभ्यां विमुक्तो द्वाभ्यां बलाभ्यां संग्रामनाटकपूर्वरंगकुसुमाञ्जलिशरनिकरः।)

मन्दरः—देव पश्य पश्य।

मेघप्रभ दु ख से जीतने योग्य उस सुनमि को व्यूह के द्वारा जीतना चाहता है ॥ ३८ ॥

इस और भी—

सुकेतु,—सुकेतु पारिपतङ्गक व्यूह का विभाग कर खड़ा हुआ है और जयन्त सर्वतोभद्र व्यूह की रचना कर उसे जीतना चाहता है ॥ ३६ ॥

मन्थरक—क्या एक साथ बजते हुए कांस्य, कांस्यताल, जयघण्टा, शंख, शृङ्ग, काहल, तुरु, तुरी, डमरुक, ढिमिल, डिंडिम, मर्दल, दुन्दुभि, करड, पटह, हुडु, कुडु, ढक्का, भेरी और मङ्गा आदि अनेक वादित्रों के प्रचण्ड कोलाहल के जोरदार शब्दों से निर्विघ्नपूर्वक उत्पादित कौतूहल से प्रेरित हुई इन दोनों सेनाओं ने परस्पर संग्रामरूपी नाटक के पूर्वरङ्ग-नामक प्रारम्भिक प्रकरण की पुष्पाञ्जलि-स्वरूप बाणों का समूह छोड़ ही दिया !

मन्दर—देव ! देखो देखो !

निशितधवलधारास्तिग्मरोचिर्मरीचि-
प्रतिफलितफलान्तवेगदीर्घोपलब्धाः ।
निविडमभिपतन्तस्संततोल्काकराला
गगनमनवकाशं पत्रिणश्चित्रयंति ॥ ४० ॥

(विलोक्य) कथमधुना—

इषूणामन्योन्यप्रतिहतिषु लब्धप्रसृतिभिः
स्फुटज्योतिश्चक्रस्खलनविनिकीर्णोडुरुचिभिः ।
स्फुरंतीभिः प्लापग्लपितशरपत्ताभिरभितः
स्फुलिंगाभिर्व्योमस्फुटमनलवृष्टिं नटयति ॥ ४१ ॥

मन्दारमाला—कहं दाणिं सरसहस्सवारिदसत्तिपाससंघट्टभीसणो चलंतदोघंटघडाकरालो पअट्टन्ततुरअच्छटभअंकरो ओवडंतसंदणसंदोहभआणओ वट्टेदि रोमहस्सणो जुद्धसंमद्दो । (कथमिदानीं शरसहस्रवारितशक्तिपाशसंघट्टभीषणः चलद्द्विपघटाकरालः पर्यटत्तुरगच्छटाभयंकरोऽवपतत्स्यंदनसंदोहभयानको वर्तते रोमहर्षणो युद्धसंमर्दः ।)

निशित—जो पैनी एव सफेद धाराओं से युक्त हैं, जिनके अग्रभाग में सूर्य की किरणें प्रतिबिम्बित हो रही हैं, जो बड़े, वेग से आ जा रहे हैं, जो बड़ी सघनता से पड़ रहे हैं तथा जो विस्तृत उल्काओं से भयंकर दिख रहे हैं ऐसे बाण आकाश को अवकाश-रहित कर रहे हैं ॥ ४० ॥

(देखकर) क्या इस समय !

इषूणा—जिन्होंने बाणों की टक्करों में प्रसार प्राप्त किया है, जो प्रकाशमान ज्योतिश्चक्र के टकराने से बिखरे हुए नक्षत्रों के समान कान्ति से युक्त हैं, और जिन्होंने गर्मी से बाणों के पङ्ख जलाकर नष्ट कर दिये हैं ऐसे सब ओर फैलते हुए तिलगों से आकाश ऐसा जान पड़ता है मानों स्पष्ट रूप से अग्निवर्षा का अभिनय ही कर रहा हो ॥ ४१ ॥

मन्दारमाला—क्या इस समय हजारों बाणों के द्वारा रोके हुए शक्ति और पाश नामक शस्त्रों के संघटन से भीषण, चलती हुई गजघटा से विकराल, घूमते हुए घोड़ों के समूह से भयंकर और दौड़ते हुए रथसमूह से युद्ध का दौर हो रहा है !

मन्दरः—

अयमिह सुभटानां शौर्यमारोद्भटानां
रणरसरसिकानां वर्तते वर्धते च ।
शरशतविनिपातक्षुण्णसर्वाभिसारः
प्रचुरसमभिहारस्साम्प्रतं सम्प्रहारः ॥ ४२ ॥

मन्दारमाला—अम्हो भीसणदा सङ्गरास्स । (अहो भीषणता सङ्गरस्य ।)

रत्नमाली—अयमुदग्रसपेटकठोरः समरः । तथाहि—

क्षुन्ध्याघूर्णय कुट्टय क्षिपदहव्यारध सधानय
भिंधि छिन्धि मथान ताडय जहि व्यावर्तयापातय ।
धिद्भ्यास्फालय भज राध विकिर व्याकर्ष घर्षोद्धरे-
त्येव प्रायमिहोच्चरच्च इव व्याजायते व्योमनि ॥ ४३ ॥

मन्थरकः—(अथ क एष प्रवरद्दानसलिलनिर्झरदुर्दिन विंध्यशिखरसमुत्तुङ्गदीर्घांग प्रतिपक्षसैन्यरुधिरद्विगुणशृङ्गारितोज्ज्वलांग मातंगमारूढोऽवधीरितवेदनोऽकर्कतिबलस्यामेधरो भवति ।)

मन्दर—इधर यह इस समय पराक्रम के भार से उद्भट, रण-सम्बन्धी रस के रसिक योद्धाओं का सैकड़ों बाणों के पतन से सबलोगों के आवागमन को नष्ट करनेवाला अत्यधिक मारकाट से युक्त युद्ध हो रहा है ॥ ४२ ॥

मन्दारमाला—अहा, युद्ध की बड़ी भयकरता है ।

रत्नमाली—क्या युद्ध रोषपूर्ण वाणी से कर्कश है ! क्योंकि

क्षुन्ध्याधूर्णय—टुकड़े टुकड़े कर दो, घुमा दो, कूट दो, फेंक दो, जला दो, रांध दो, मिला दो, भेद दो, छेद दो, मथ दो, पीटो, मारो, लौटाओ, पटक दो, वेध दो, पछाड़ दो, मोड़ दो, रोक दो, बिखेर दो, खींच दो, घसीट दो, और ऊपर को उछाल दो । प्राय इसी प्रकार के वचन यहा उच्चरित होते हुए आकाश में व्याप्त हो रहे हैं ॥ ४३ ॥

मन्थरक—अब यह कौन झरते हुए मदजल के निर्झर से दुर्दिन को प्रकट करनेवाले, विन्ध्याचल की शिखर के समान ऊँचे और लम्बे शरीर से युक्त तथा शत्रु-सैनिकों के रुधिर से शृङ्गार किये हुए उज्ज्वल

मन्दरः—नन्वेष स्वयंवरकलहोपदेशप्रथमोऽध्यायः कुलूतेश्वरो दुर्मर्षणोऽसौ।

ख्यातः संख्यपटीयसां मुखपटीमुत्क्षिप्य दत्त्वा प्रिय-
व्याहारानधिमस्तकं करतलास्फालेन संभावयन्।
संग्रामावसरप्रधाननिविडश्चोतन्मदश्चोतसं
सोत्सेकोज्ज्वलितांकुशः करटिनं प्रोत्साहयत्याहवे ॥ ४४ ॥

अहो अस्य पराक्रमप्रक्रमः। यद्यनुरूपमस्य निर्वहणमपि स्यात्।

भोः पश्य पश्य।

चरति युधि विलोहितानन त्विपमधिरुह्य कुलूतभूपतिः।
हरितमलघुसत्त्वमुन्नतं पवनजवं गजमांगरेवकम् ॥ ४५ ॥

मन्थरकः—को एस जिएणखंभदीहरपरुससुण्डादंडसहेलाअट्टसम्मद्दिद-

शरीर से सहित हाथी पर वेग तथा दुःखानुभव की परवाह न करता हुआ अर्ककीर्ति की सेना का अग्रसर हो रहा है?

मन्दरः—जो, यह स्वयंवर-सम्बन्धी कलह के उपदेश का पहला अध्याय कुलूत का स्वामी दुर्मर्षण है!

ख्यातः—जो कि रणवांकुरों में प्रसिद्ध है तथा मुख के परदा को कुछ ऊपर की ओर उठाकर प्रिय वचन देकर मस्तक पर हस्ततल के आस्फालन से सन्मानित करता हुआ युद्ध-समय के प्रधान अन्य हाथियों से युक्त चूते हुए मद को झरानेवाले हाथी को गर्व के साथ देदीप्यमान अंकुश को उभार कर युद्ध के लिये प्रेरित कर रहा है ॥ ४४ ॥

इसके पराक्रम का प्रारम्भ आश्चर्यकारक है, काश, इसकी समाप्ति भी इसी के अनुरूप हो।

अरे देखो देखो!

चरति—जिसके मुख की कान्ति लाल लाल है, जो हरे रङ्ग का है, जिसका पराक्रम बहुत भारी है, जो अतिशय ऊँचा है, और वायु के समान वेगशाली है ऐसे आङ्गरेवक हाथी पर सवार होकर यह कुलूत का राजा दुर्मर्षण युद्ध में घूम रहा है ॥ ४५ ॥

मन्थरक—जीर्ण खम्भे के समान दीर्घ और कठोर शुण्डादण्ड के अनायास संचार से घोड़ों के समूह को मर्दित करनेवाले, चारों पैरों के द्वारा

सेंधवणिवहं चउप्पाअपीडणमद्दिदपाइक्क रहसपहजणाहत्थिदहत्थिजूहं गअगइंद आरूढो कुलूदेसर अभिजुज्जदि। (क एष जीर्णस्तंभदीर्णपरुष-शुण्डादण्डसहेलापर्णसमर्दितसैंधवनिवहं विशालपादपीडनमर्दितपादातिक रभस-प्रभञ्जनाहरिततहस्तियूथं गजगजेंद्रमारूढः कुलूतेश्वरमभियुध्यते।)

मन्दरः—एष खलु कौरवेश्वरशरीरनिर्विशेषो नन्द्यावर्तो नाम प्रियसखः।

रत्नमाली—अहो नन्द्यावर्तस्य कृतहस्तता।

तथाहि।

मूर्ध्नं स्फोटयति द्विषां क्षिपणिभिर्लोहान् क्षिपन् गोलकान्
कुन्तैः कृन्तति शक्तिभिर्विशसति प्रासैर्विपर्यस्यति।
पर्यायेण करद्वयार्पितधनुर्विष्वक् शरान् वर्षति
व्यूहानेष विसारयन् विघटयन् विक्रम्य विभ्राम्यति॥ ४६॥

मन्दर—देव पश्य पश्य।

सैनिकों को पीसनेवाले एवं वेगशाली वायु से हाथियों के समूह को दूर हटानेवाले गजराज पर बैठा हुआ यह कौन कुलूत नरेश से युद्ध कर रहा है?

मन्दर—यह कौरवेश्वर के शरीर के समान उनका नन्द्यावर्त नामका प्रिय मित्र है।

रत्नमाली—अहा, नन्द्यावर्त की बड़ी कुशलता है—इसका हाथ बहुत सधा हुआ है।

क्योंकि—

मूर्ध्नं—यह बन्दूकों के द्वारा लोहे के गोलों को फेंकता हुआ शत्रुओं के मस्तक फोड़ रहा है, भालों से उन्हें छेद रहा है, शक्ति नामक शस्त्रों से काट रहा है, प्रास नामक शस्त्रों से उलटा कर रहा है, कम क्रम से दोनों हाथों में धनुष लेकर चारों ओर बाण-वर्षा रहा है तथा व्यूहों को मुरार के समान विघटित करता हुआ बड़ी वीरता के साथ घूम रहा है॥ ४६॥

मन्दर—देव! देखो, देखो!

ततश्चाब्दच्छायं प्रधनचतुरं भूरि परितः
स्रवंतं स्रोतांसि प्रबलमखिलश्रांतिसहनम् ।
असौ नंद्यावर्तस्त्वरयति कलिंगोद्भवमिभं
कुलूतानामीशं प्रसभमभियोक्तुं प्रकुपितः ॥ ४७ ॥

मन्थरकः—कहं दूरदो एव्व णंदावत्तकरविमुक्केण विद्धो वाणेण कुलूदेसरस्स दाहिणो भुअसिअरो। (कथं दूरत एव नंद्यावर्तकरविमुक्तेन विद्धो बाणेन कुलूतेश्वरस्य दक्षिणो भुजशिखरः ।)

मन्दरः—देव पश्य पश्य ।
रिपुशरमुखखंडिताङ्गजात् समरखरस्य कुलूतभूपतेः ।
क्षरति रुधिरपूर्णसारणी सृतिरिव वीररसस्य निस्सृता ॥ ४८ ॥

मन्थरकः—कहं अणपेक्खिदवाणघादेण परोप्परदंतपीडणखडक्कारमुहरं झडंति संघटिदो गओ णंदावत्तगएण । (कथमनवेक्षितवाणघातेन परस्परदंतोत्पीडनकटात्कारमुखरं झटिति संघटितो गजो नंद्यावर्तगजेन ।)

रत्नमाली—हंत भोः ।

ततश्चाब्द—उस ओर कोप से युक्त नन्द्यावर्त, कुलूत नरेश से हठात् युद्ध करने के लिये मेघ के समान काले, युद्ध-निपुण, मद को झरानेवाले, अतिशय बलवान् , और सब प्रकार की थकावट को सहनेवाले कलिङ्ग देशज हाथी को शीघ्रता करा रहा है ॥ ४७ ॥

मन्थरक—क्या दूर से ही नन्द्यावर्त के हाथ से छोड़े हुए बाण से कुलूत नरेश की दक्षिण भुजा का शिखर खण्डित हो गया है ?

मन्दर—देव ! देखो, देखो,

रिपुशर—युद्ध में तीक्ष्ण कुलूत नरेश की शत्रु के बाण के अग्रभाग द्वारा खण्डित भुजा से रुधिर की पूर्ण बड़ी मोटी धारा ऐसी निकल रही है मानो वीर रस का प्रवाह ही निकल रहा हो ॥ ४८ ॥

मन्थरक—क्या बाण के प्रहार की परवाह न करनेवाले कुलूत नरेश ने परस्पर दांतों की टक्कर से कटाकट शब्द करता हुआ अपना हाथी नन्द्यावर्त के हाथी के साथ शीघ्र ही भिड़ा दिया है ?

रत्नमाली—अरे दुःख की बात है ।

प्रहतो यो मुखाद्दन्तान्नंद्यावर्तस्य दन्तिना।
दन्ती सीदति कौलूतं ह्रेपयन् खर्विपर ॥ ४९ ॥

मन्दारमाला—हत्थि पाडिदो एव्व एसो हत्थिसामन्तेण। (हत पातित एव एष हस्ती सामन्तेन।)

मन्दरः—आशसोचितमेव लब्धं कौलूतेन। श्रूयतामस्य युयुत्सो सोत्सेक वच।

अवश्य मर्तव्य कतिचिदतिवाह्यापि दिवसा-
नल विद्युल्लेखाविलसितविलोलैः कदसुभिः।
प्रभूत क्रीणातु प्रधनविपणौ विक्रमपणै-
र्यश स्थास्नु ज्योत्स्नाशुचि रणकुचिव्यग्रमनस ॥ ५० ॥

मन्थरक—तेण हि सुट्ठु णिउत्तं इमिणा एं उइअं। (तेन हि सुष्ठु निव्यूढमनेन ननूचितम्।)

मन्दरः—देव पश्य पश्य।

प्रहतो—नन्द्यावर्त के हाथी ने जिसे मुख और दांतों से चोट पहुँचाई है ऐसा दूसरों को पराजित करनेवाला हाथी अपने स्वामी कुलूतेश्वर को लज्जित करता हुआ दुखी हो रहा है ॥ ४९ ॥

मन्दारमाला—हाय, यह हाथी तो सामन्त के द्वारा गिरा ही दिया गया।

मन्दर—कुलूत नरेश ने समावज्ञा के उचित ही फल प्राप्त कर लिया। अच्छा, इस युद्धाभिलाषी के अहंकार पूर्ण वचन सुनो।

अवश्य—हे रण की इच्छा से व्यग्र चित्तवाले सैनिकों! कुछ दिन विताने के बाद भी मरना तो अवश्य ही है अत विजली की कौंद के समान अत्यन्त चञ्चल नीच प्राणों से क्या काम होनेवाला है? उनकी इच्छा छोड़ो और युद्धरूपी बाजार में पराक्रमरूपी पैसों से अत्यधिक, स्थायी तथा चाँदनी के समान निर्मल यश को खरीदो ॥ ५० ॥

मन्थरक—इसने योग्य बात ही कही।

मन्दर—देव! देखो, देखो।

भूयिष्ठमग्नशरसंचयसततांगः
शेते करी रदनरुग्णधरः परासुः।
बिभ्रच्छरीरमधिकोच्छ्रितिकोप्यपूर्वः
सर्वाङ्गसंगशललः शलली यथैव ॥ ५१ ॥

मन्थरकः—अह को एस गमणजवेण सव्वदो संगरंगणं दीसंतं आजाणेअं तुरगरअणं आरूढो करालकरवालवावदकरो अक्ककित्तिबलं लोलावेदि। (अथ क एष गमनजवेन सर्वतस्संगरांगणं दृश्यमानमाजानेयं तुरगरत्नमारूढः करालकरवालव्यापृतकरः अर्ककीर्तिबलं लोलापयति।)

मन्दरः—अयमपि विशारदनामा नंद्यावर्तसमः कौरवेश्वरस्य।

रत्नमाली—किं नाम दुष्करमनयोस्सुहृदा कौरव्येण।

मन्दरः—

भुजाविमौ द्वौ कुरुनंदनस्य सुदुर्जयौ विक्रमसूत्रधारौ।
स्वयंगृहीताहवचेष्टिताभ्यामाभ्याममुष्याह्रियते युयुत्सुकाः ॥ ५२ ॥

भूयिष्ठ—अत्यधिक मात्रा में गड़े हुए बाणों के समूह से जिसका शरीर व्याप्त हो रहा है तथा जिसकी खीसें टूट गई हैं ऐसा यह मृत हाथी ऐसा शयन कर रहा है मानों अधिक ऊँचे शरीर को धारण करनेवाला एवं सम्पूर्ण शरीर में लगे हुए शलल—कांटों से युक्त कोई अनोखा सेही ही हो ॥ ५१ ॥

मन्थरक—अब यह कौन गमन के वेग से रणांगण के सब ओर दिखाई देनेवाले उत्तम अश्वरत्न पर सवार हुआ हाथ में भयंकर तलवार लिये अर्ककीर्ति की सेना को चञ्चल कर रहा है!

मन्दर—यह भी विशारद नाम का है तथा कौरवेश्वर—जयकुमार के लिये नन्द्यावर्त के समान है।

रत्नमाली—इन दोनों के मित्र जयकुमार के लिये क्या कठिन है?

मन्दर—

भुजाविमौ—पराक्रम के सूत्रधार स्वरूप ये दोनों कौरवेश्वर की अत्यन्त दुर्जेय भुजाएँ हैं। स्वेच्छा से युद्ध की चेष्टा को स्वीकृत करनेवाले इन दोनों मित्रों के द्वारा कौरवेश्वर की युद्धेच्छा हरी जा रही है ॥ ५२ ॥

रत्नमाली—अहो श्लाघनीय शौर्यचातुर्यक विशारदस्य।

अस्य हि—

छिनत्ति स्वच्छन्द सरसकदलीच्छेदमधुना
तुरगान्मातङ्गान् प्रचुरमभितोपि प्रतिभटान्।
किरन् पेशीराशास्वभिहतिरटत्कीकसततो-
नृशंसो निस्त्रिशस्त्रिदशयुवतीत्रासरसदः ॥ ५३ ॥

मन्थरकः—अथ को एस अप्पडिहदगइप्पसर गअवारणं पेरन्तो विसारदं अभिजुज्झदि। (अथ क एष अप्रतिहतगतिप्रसर गजवारणं प्रेरयन् विशारदमभियुध्यते।)

मन्दरः—एष दाशार्णं सङ्कर्षणं। पश्यतु देव।

महामोदमदं युद्धसहमादध्वपीवरम्।
दाशार्णोऽभ्येति दाशार्णं गजं वाजिपुरोपगम् ॥ ५४ ॥

रत्नमाली—अहा, विशारद की शूरवीरता और चतुराई दोनों ही प्रशंसनीय है।

अस्य हि—देवाङ्गनाओं को भयानक रस प्रदान करनेवाला इसका क्रूर कृपाण इस समय चारों ओर खड़े हुए शत्रुपक्षीय घोड़ों और हाथियों को अधिक संख्या में सरस कदली वृक्ष के समान स्वतन्त्रतापूर्वक छेद रहा है तथा परस्पर की टक्कर से जिनकी हड्डियों का समूह शब्द कर रहा है ऐसी मांस की पेशियों को सब दिशाओं में फेंक रहा है ॥ ५३ ॥

मन्थरक—अब यह कौन बेरोक आगे बढ़ते हुए मदस्रावी हाथी को प्रेरित करता हुआ विशारद के साथ जूझ रहा है?

मन्दर—वह दशार्ण का राजा सङ्कर्षण है। देखिये आप।

महामोद—जिसके मद से अत्यधिक सुगन्धि फैल रही है, जो युद्ध को सहन करनेवाला है, मोटा है तथा घोड़ों के समूह को नष्ट करनेवाला है ऐसे दशार्णदेशीय हाथी पर सवार होकर यह दशार्ण का राजा सङ्कर्षण सामने आ रहा है ॥ ५४ ॥

मन्थरकः—कहं दूरदो एव्व विसारदेण संकरिप्रसणगग्रं उद्दिसिग्र विमुक्को कग्रंतजीहादीहरो पासो। (कथं दूरत एव विशारदेन संकर्षणगज-मुद्दिश्य विमुक्तः कृतांतजिह्वादीर्घः प्रासः।)

मन्दरः—हंत भोः।

भग्नेन निर्याणपथे सदंडप्रासेन भिन्नः प्रथमं प्रभिन्नः।
प्रयाति निर्याणमसौ विनिघ्नन् दंती दशार्णाधिपतेर्मदांधः॥ ५५॥

मन्थरकः—हद्धि हद्धि। (हा धिक् हा धिक्।)

रत्नमाली—कथमुपेक्षित एव विशारदेन वाहनविकलो दाशार्णः। साधु विशारद साधु मानभरोद्वहनवैवधिकोसि।

मन्थरकः—ग्रत्थ को एस ग्रवरो गंधगग्राहिरूढो तं एव विशारदं ग्रभिजुज्जदि। (ग्रथ क एषः ग्रवरो गंधगजाधिरूढस्तमेव विशारदमभि-युज्यते।)

मन्दरः—एष सौराष्ट्रो भीमः।

मन्थरक—क्या विशारद ने संकर्षण के हाथी को लक्ष्य कर दूर से ही यमराज की जिह्वा के समान दीर्घ भाला फेंका है!

मन्दर—हाय, दुःख की बात है।

भग्नेन—जो पहिले ही प्रभेद को प्राप्त था जिसके गण्डस्थल में पहले से ही मदस्राव का छिद्र था तथा अब ढोह के पास नेत्र के समीप गड़े हुए दण्डयुक्त भाले से जो पुनः प्रभेद को प्राप्त हुआ है ऐसा यह दशार्ण देश के राजा का मदान्ध हाथी गमनागमन को रोकता हुआ भाग रहा है॥५५॥

मन्थरक—हाय धिक्कार हो धिक्कार हो।

रत्नमाली—क्या विशारद ने वाहन से रहित दशार्णश्वर की उपेक्षा ही कर दी! ठीक विशारद ठीक, तुम मान का भार धारण करने के लिये वैवधिक हो अर्थात् काँवर को धारण करनेवाले हो।

मन्थरक—अब मदोन्मत्त हाथी पर सवार हुआ यह दूसरा कौन उसी विशारद से जूझ रहा है!

मन्दर—यह सौराष्ट्र का राजा भीम है।

मन्दारमाला—हद्धि हद्धि अजगरभोगभीमेण सुडादंडेण वेडिदो विसारदतुरगमो भीमगइंदेण। (हा धिक् हा धिक्, अजगरभोगभीमेन शुडादंडेन वेष्टितो विशारदतुरगमो भीमगजेन्द्रेण।

रत्नमाली—अहो विशारदस्य वैशारद्यम्।

अनेन हि—

खड्गेन हेलोद्भ्रमितेन यस्य काण्डाङ्कुरच्छेदनिर्विवधम्।
आमूलमालूनसदन्तहस्तो भीमस्य हस्ती विहतो विहस्त ॥ ५६ ॥

मन्दर—कथ मुक्तक्रन्दनमसौ परिवृत्य प्रपलायते। देव पश्य पश्य।

सौराष्ट्रस्यैष सौराष्ट्र करी लघु पलायते।
बलवानपि सङ्ग्रामे हीन शिक्षापराङ्मुख ॥ ५७ ॥

मन्थरक—अथ को एसो आअच्छदि जिव चदणअरपरिहगुरुअदतग्गल असिथिलमासलंग परक्कमकक्कस दरावदवरिस चेदिकरूस गअ आरूढो कोरवबल अलंकरेदुं। (अथ क एष आगच्छतीव चन्दनगरपरिघगुरुकदता-

---

मन्दारमाला—हाय धिक्कार हो धिक्कार हो, भीम के गजेन्द्र ने अजगर के शरीर के समान भयकर सूड से विशारद के घोड़े को लपेट लिया है।

रत्नमाली—अहा, विशारद की चतुराई देखो।

इसके द्वारा—

खड्गेन—अनायास घुमाई हुई तलवार से जिसके दांत और सूड मृणाल की तरह जड़ से बिलकुल काट दिये गये हैं ऐसा भीम का हाथी बेहाथ हुआ घायल हो गया है ॥ ५६ ॥

मन्दर—क्या यह चिल्लाता हुआ लौट कर भाग रहा है? देव! देखो, देखो।

सौराष्ट्रस्यैष—सौराष्ट्र देश के राजा का यह सौराष्ट्रदेशीय हाथी शीघ्र ही भाग रहा है सो ठीक है क्योंकि बलवान् होने पर भी शिक्षा से रहित व्यक्ति युद्ध में हीन रहता है—खरा नहीं उतरता है ॥ ५७ ॥

मन्थरक—जिसके दातरूपी आगल चन्दनगर के आगल के समान भारी है, जिसका परिपुष्ट शरीर लगड़ा है, जो पराक्रम से कठोर है, तथा

र्गलमशिथिलमांसलांगं पराक्रमकर्कशमैरावतसदृशं चेदिकरुशं गजमारूढः कौरवबलमलंकर्तुम् ।)

मन्दरः—

असौ कुरुग्रामनवग्रहश्चरन्निरंमदो नाम पताकिनीपतिः ।
उदेति मेघेश्वर एष संमदं दधद् विभिंदन् प्रतिपक्षभूभृतः ॥ ५८ ॥

मन्थरकः—का इमो पडिहदपडिवक्खमणोरहं रभसतुलिदपत्तरहं रहं आरूढो इमं अभिजुज्झदि । (क एषः प्रतिहतप्रतिपक्षमनोरथं रभसतुलितपत्त्ररथं रथमारूढ इममभियुध्यति ।)

मन्दरः—एष खलु बाहुबलितनुर्महाबली ।

रत्नमाली—

विमतमथनक्रोधाविष्टं विशंकटकंकट-
स्थपुटघटितस्फीतोरस्कं गृहीतशरासनम् ।
शरधिपरिणद्धांसप्रांतं कृतांतभयंकरं
वपुरिदमहो श्लाघ्यं वश्यां करोति जयश्रियम् ॥ ५९ ॥

ऐरावत के समान है ऐसे चेदिदेशीय हाथी पर सवार हुआ अब यह कौन कौरवेश्वर की सेना को अलकृत करने के लिये आ रहा है ?

मन्दर—यह बेरोक टोक चलने वाला कुरुओं का इरंमद नामका सेनापति है। यह अभ्युदय को प्राप्त होने वाले जयकुमार के विषय में हर्ष को धारण करता है तथा शत्रुराजाओं के खण्ड-खण्ड करता है ॥ ५८ ॥

मन्थरक—शत्रुओं के मनोरथों को नष्ट करने वाले तथा वेग से गरुड की तुलना करने वाले रथ पर चढ़ा हुआ यह कौन इरंमद से जूझ रहा है ?

मन्दर—यह बाहुबली का पुत्र महाबली है।

रत्नमाली—

विमत—जो शत्रुओं को नष्ट करने वाले क्रोध से युक्त है, विशाल कवच से जिसकी चौड़ी छाती ऊँची नीची हो रही है, जिसने धनुष ले रक्खा है, जिसके कन्धों के समीप तरकश बँधे हुए हैं, तथा जो यमराज को भी भय उत्पन्न कर रहा है ऐसा इसका यह प्रशंसनीय शरीर विजयलक्ष्मी को वशीभूत कर रहा है ॥ ५९ ॥

मन्दारमाला—हद्धि हद्धि । णिविडपसरणिरन्तरओगाहिअअउव्वनट्ठिअमवाउरासरिच्छाहिं सच्छण्णो कुमारेण कोरवसेणावइस्स वारणो वाणधाराघोरणीहिं । (हा धिक् हा धिक् । निविडप्रसरनिरन्तरावगाहितापूर्वयष्टिमवागुरासदृशाभिः संछन्नः कुमारेण कौरवसेनापतेर्वारणो बाणधारावोरणीभिः ।)

रत्नमाली—अहो प्रागल्भ्यमस्य करिणः ।

निविडमभिपतन्तीं बाणवृष्टिं प्रतीच्छन्
सरभसमुपपद्य क्रोधनिर्बन्धरौद्रः ।
सरथितुरगसूतं शुण्डयोत्क्षिप्य तूलो-
च्चयमिव रथमेव क्षिप्तवान् वारणेन्द्रः ॥ ६० ॥

मन्थरक—अहो अच्चेरं एसो खु सइसत्ति रहादो लहु पडिय विक्खित्तो धणुलट्ठिं अवलम्बिअ सुवठिदो महावट्ठे कुमारो । (अहो आश्चर्यमेव खलु सहशक्तिः, रथाल्लघु पतित्वा निक्षिप्य धनुर्यष्टिमवलम्ब्य सुप्रतिष्ठितो महीपृष्ठे कुमारः ।)

मन्दारमाला—दिट्ठिआ अक्खदसरीरो कुमारो । (दिष्ट्या अक्षतशरीरः कुमारः ।)

मन्दारमाला—हाय धिक्कार हा, धिक्कार हा, कुमार महाबली ने सघन समूह के साथ निरन्तर प्रवेश करने वाली अपूर्व लाठियों अथवा यमराज के जाल के समान बाणों की सन्तति से कौरव-सेनापति के हाथी को आच्छादित कर दिया है।

रत्नमाली—अहा, इस हाथी की सामर्थ्य देखो।

निविड—क्रोध के सम्बन्ध से अत्यन्त रौद्र यह हाथी सघन रूप से पड़ती हुई बाणवृष्टि को झेलता हुआ बड़े वेग से आगे बढ़ा और आगे बढ़ कर इसने रथ के मालिक, घोड़े तथा सारथि के सहित रथ को रुई के ढेर के समान सूंड से उठा कर दूर फेंक दिया ॥ ६० ॥

मन्थरक—अहा आश्चर्य है कि शक्ति के सहित यह कुमार शीघ्र ही रथ से कूद कर अकेला ही धनुर्यष्टि को पकड़ कर पृथिवी पर खड़ा हो गया है।

मन्दारमाला—सौभाग्य से कुमार अक्षत शरीर है—इसके शरीर में कोई चोट नहीं आई।

मन्दरः—कथमिरंमदद्विरदेनापि सर्वाङ्गसंगिसायकप्रोतशरीरः प्रहारमूर्च्छितः प्रसार्य पूर्वकायं भूमौ निषण्णः।

मन्थरकः—कहं इमो वुदिण्णरत्तचंदणथासअभूसिदंगो ओदिण्णो खंदादो सिंधुरस्स। (कथमेष उदीर्णरक्तचंदनस्थासकभूषितांगोऽवतीर्णः स्कंधात् सिंधुरस्य।)

रत्नमाली—द्वयोरपि वाहनभंग इति कृतमेतत्।

मन्दरः—

सप्तच्छदामोदसखं मदांभः-
शिलीमुखाः काममपुः परासोः।
तानद्य निर्घाट्य कटांतलग्नान्
शिलीमुखास्तीक्ष्णमुखाः पिबंति॥ ६१॥

रत्नमाली—अथ कावेतौ प्रजविवाजिपृष्ठाधिरूढौ समरसंमर्ददुर्दमौ परस्परं युंजाते सवयस्कौ राजकुमारौ।

मन्दर—क्या समस्त शरीर में गड़े हुए बाणों से जिसका शरीर व्याप्त हो रहा है ऐसा यह इरंमद का हाथी भी प्रहार से मूर्च्छित हो शरीर के पूर्वभाग को फैला कर पृथिवी पर पड़ा हुआ है!

मन्थरक—क्या दिये हुए लाल चन्दन के तिलक से जिसका शरीर सुशोभित हो रहा है ऐसा यह इरंमद के हाथी के कन्धे से नीचे उतर आया है!

रत्नमाली—दोनों की सवारी भङ्ग हुई यह बराबरी रही।

मन्दर—

सप्तच्छदा—इस मृत हाथी के सप्तपर्ण के समान सुगन्धित मदजल का शिलीमुख—भ्रमरों ने पहले अच्छी-तरह पान किया था अब गण्डस्थल के समीप लगे हुए उन शिलीमुखों—भ्रमरों को दूर हटा कर पैने मुखवाले शिलीमुख—बाण उस मदजल का पान कर रहे हैं॥ ६१॥

रत्नमाली—वेगशाली घोड़े की पीठ पर बैठे तथा युद्ध-सम्बन्धी मार-काट से अजेय, समान अवस्था वाले ये कौन दो राजकुमार परस्पर भिड़ रहे हैं!

मन्दर.—देव !

अर्ककीर्त्यवरजस्तुरगस्थः स्थैर्यशौर्यसदृशं तुरगस्थम् ।
सजयन्तमजितजय एष कौरवानुजमसावभियुङ्क्ते ॥ ६२ ॥

रत्नमाली—न परस्परं हीयेते रणकर्मणि कुमारौ ।

मन्दर.—देव इत पश्यतामन्यदाश्चर्यम् ।

अन्योन्याघातभग्नस्थिररदनमुखौ ससजत्पूर्वकाया-
वष्टभस्तब्धवेगौ समतुलितबलौ यन्त्रणासक्तहस्तौ ।
मर्माविच्छस्त्रचक्रक्षतिमथिततनू प्राप्य विक्रान्तिकाष्ठा-
मुत्क्रान्तौ दन्तिनौ द्वौ कथमनिपतितौ तिष्ठतोऽन्तर्मुहूर्तम् ॥ ६३ ॥

इत पश्य ।

मर्मसु हता अपि शूरा प्रायोऽपगमनमनिच्छवः केचित् ।
धीरा स्वर्गं वीरा प्रापन् प्रायोपगमनेन ॥ ६४ ॥

मन्दर—देव !

अर्क—यह घोडे पर बैठा अर्ककीर्ति का छोटा भाई अजितजय, दृढता और शूरता में अपनी तुलना करने वाले घोड़े पर बैठे कौरवेश्वर—जयकुमार के छोटे भाई सजयन्त से भिड़ रहा है ॥ ६२ ॥

रत्नमाली—दोनों कुमार रणकौशल में एक दूसरे से कम नहीं हैं ।

मन्दर—देव ! इधर यह दूसरा आश्चर्य देखिये ।

अन्योन्या—परस्पर के प्रहार से जिनके मजबूत दांत और मुख भग्न हो गये हैं, परस्पर मिलते हुए मस्तक के आश्रय से जिनका वेग रुक गया है, जिनका बल एक बराबर है, जिनकी एक सूंड़ दूसरे को पीड़ा पहुँचाने में सलग्न हैं, मर्मवेधी शस्त्रों के अग्रभाग के प्रहार से जिनके शरीर घायल हो रहे हैं और जो पराक्रम की चरम सीमा को प्राप्त कर शूरता दिखला रहे हैं ऐसे दो हाथी अन्तर्मुहूर्त तक किसी तरह बिना पड़े खड़े हैं ॥ ६३ ॥

इधर देखो,

मर्मसु—मर्मस्थानों में ताड़ित होने पर भी प्रायः अपगमन—पलायन की इच्छा न रखने वाले कितने ही धीर वीर शूर मनुष्य प्रायोपगमन सन्यास मरण के द्वारा स्वर्ग को प्राप्त हुए हैं ॥ ६४ ॥

मन्दारमाला—हण्डे मंदरअ ! णिरंतरुप्पइअखुरप्पकडप्पप्पसप्पणगुत्तण-हस्थलदुप्पेक्खो अप्पडिहदरअं अहिरहं अहिरोहिअ अक्ककित्तिबलं चमक्करंतो किं एस कुमारजअंतो । (हले मंदरक निरंतरोत्पतितक्षुरप्रसमूहप्रसर्पद्व्यन्नभः स्थलदुःप्रेक्ष्योऽप्रतिहतरमाधिरथमधिरुह्यार्ककीर्तिबलं चमत्कुर्वन् किमेष कुमार-जयंतः ।

मन्दरः—एवम् ।

अवेहि सैन्यं द्विषतां जयंतममुं मघोनस्तनयं जयंतम् ।
न व्यज्यते यस्य जवादिपूणामाधानसंधानविमोक्षकालः ।। ६५ ।।

रत्नमाली—अहो उग्रता समरकर्मण्युग्रकुलकुमारस्य ।

मन्थरकः—किं एस अणिट्ठिदप्पट्ठाविदवाणतटसंघट्टखंडिदवइरिसरा-सारो तिहुअणेक्कल्लरहिओ इमं अभिजुज्जंतो कुमारसुकेदू । (किमेषोऽनिष्ठित-प्रस्थापितबाणाग्रसंघट्टखंडितवैरिशरासारस्त्रिभुवनैकरथिकः इममभियुध्यन् कुमारसुकेतुः ।)

मन्दारमाला—मित्र मन्दरक ! निरन्तर ऊपर की ओर पड़ते हुए बाणों के समूह से व्याप्त आकाश के कारण जिसका देखना भी कठिन हो रहा है ऐसा अखण्डवेगशाली रथ पर चढ़कर अर्ककीर्ति की सेना को चकमा देता हुआ क्या यह कुमार जयन्त है ?

मन्दरः—ऐसी ही बात है ।

अवेहि—इसे तुम शत्रुओं की सेना को जीतने वाला मघवा का पुत्र जयन्त जानो । वह जयन्त कि वेग के कारण जिसके बाणों के रखने मिलाने और छोड़ने का काल प्रकट नहीं होता है ।। ६५ ।।

रत्नमाली—अहा, उग्रवंश के कुमार जयन्त के युद्धकार्य में बड़ी तीक्ष्णता है ।

मन्थरक—क्या यह इससे युद्ध करता हुआ, समाप्त न होनेवाले छोड़े हुए बाणों के अग्रभाग के संघट्टन से शत्रुओं की बाणवर्षा को खण्डित करनेवाला त्रिभुवन का अद्वितीय रथी कुमार सुकेतु है ?

मन्दरः—

अवेहि विद्वेषिभयैकहेतुममुं सुकेतुं हरिवंशकेतुम् ।
द्विषां करोत्याशु विलक्ष्यतां यः शरैः शितानामपि चन्द्रराणाम् ॥ ६६ ॥

रत्नमाली—मन्ये नामू परस्परस्य जेतु प्रभवत ।

मन्दरः—इतो दृश्यतां छलबहुलं वैद्याधरं युद्धम् । एष खलु लोहार्गलाधिपतिरनर्गलचोद्यमानवातप्रमोर्मितममहाश्वतुरगमोह्यमानमधिरूढ स्यन्दनमभिषेणयति विद्याधराधिराजमभिमुख मुनमिम् ।

मन्दारमाला—कह एकदो सव्वोवि विज्जाहरलोओ एक्कदो अ एक्को मेहप्पहो । हद्धि हद्धि किं एत्थ हविस्सदि । (कथमेकतः सर्वोऽपि विद्याधरलोक एकतश्चैको मेघप्रभः । हा धिक् हा धिक् किमत्र भविष्यति ।)

मन्थरक —कह समसघाणमुञ्चणहेदिणिवहक्कवलिदसअलदिसाचक्को विमुक्ककिलकिलासद्दमहुरं झत्तिवहारिद विज्जाहराण बलं हिअअङ्गणेतो णमिणन्दणं एव्व अहिजुज्झदि मेहप्पहो । (कथं समसंधानमुच्यमानहेतिनिवहकवलितसकलदिशाचक्रो विमुक्तकिलकिलाशब्दमधुरं झटित्यवतीर्य विद्याधराणां बलं हृदयंगमयन् नमिनन्दनमेवाभियुध्यति मेघप्रभः ।)

मन्दर—

अवेहि—इसे तुम शत्रुओं के भय का एक कारण, हरिवंश की पताका स्वरूप सुकेतु जानो। वह सुकेतु जो कि अपने वाणों के द्वारा शीघ्र ही शत्रुओं के पैने बाणों को भी लक्ष्य से भ्रष्ट कर देता है।

रत्नमाली—मैं तो मानती हूँ कि ये दोनों परस्पर एक दूसरे को जीतने में समर्थ नहीं हैं।

मन्दर—इधर विद्याधरों का छलपूर्ण युद्ध देखिये। यह लोहार्गल का राजा निरन्तर प्रेर्यमाण वातप्रमी—मृग के समान महावेगशाली घोड़ों से खींचे जानेवाले रथ पर सवार हो रथ पर आरूढ विद्याधराधिराज मुनमि के सम्मुख सेना के साथ आक्रमण कर रहा है॥

मन्दारमाला—क्या एक ओर सभी विद्याधर लोग और एक ओर अकेला मेघप्रभ। हाय धिक्कार हो, हाय धिक्कार हो, यहां क्या होगा?

मन्थरक—क्या रखते हो साथ छोड़े हुए बाणों के समूह से दशों दिशाओं के समूह को व्याप्त करनेवाला मेघप्रभ, छोड़े हुए किलकिला शब्द

रत्नमाली—अहो स्थैर्यं वीरव्रतचर्यायां मेघप्रभस्य ।

मन्दरः—किमुच्यते ।

चरत्यमुष्मिन् बलशौर्यविक्रमैर्न राजते कश्चन राजते गिरौ ।
हरौ करीन्द्रक्षतजांबुचूषणप्रवृद्धगृध्नावपरे यथा मृगाः ॥ ६७ ॥

मन्दारमाला—हद्धि हद्धि । अणारदणिसरंदवाणधारापूरंददिट्ठिपहेहिं परप्परणिरंघसंदट्टेहिं महारहाहिट्ठिदेहिं रहसहस्सेहिं सव्वदिसाअक्कं वेट्टिओ सम एव्व णमिणंदणो । ण आणे किं एत्थ होहिइ । (हा धिक् हा धिक् । अनारतनिस्सरद्बाणधारापूर्यमाणदृष्टिपथैः परस्परनीरन्ध्रसंदष्टैमहारथाधिष्ठितैः रथसहस्रैः सर्वदिशाचक्रं वेष्टितो समगेव नमिनंदनो । न जाने किमत्र भविष्यति ।)

रत्नमाली—प्रिये नैतद्रथसहस्रं मेघप्रभस्यैवायमधरितालातचक्रभ्रमस्य स्यदनस्य स्यंदः ।

मन्दारमाला—अम्हे अच्छेरं जं कहिदंपि ण विस्ससंति लोअणाइ ।

से मनोहर शीघ्र ही उतरे हुए विद्याधरों के सैन्य को खदेड़ता हुआ नमि के पुत्र के साथ युद्ध कर रहा है ।

रत्नमाली—अहा, मेघप्रभ की वीरव्रतचर्या—युद्ध में बड़ी दृढ़ता है ।

मन्दर—क्या कहा जावे ?

चरत्य—गजराज के रुधिर रूपी जल के चूसने से जिसकी लालसा चढ़ रही है ऐसे सिंह के विचरण करने पर जिस प्रकार मृग शोभा नहीं पाते उसी प्रकार विजयार्थ पर्वत पर बल, शौर्य और विक्रम के साथ इस राजा के विचरण करने पर कोई दूसरा राजा शोभा नहीं देता ॥ ६७ ॥

मन्दारमाला—हाय, हाय, निरन्तर निकलते हुए बाणों की धारा से जिन्होंने दृष्टिपथ को पूर्ण कर दिया है, जो परस्पर सघनरूप से घिसपिस कर चल रहे हैं तथा जिनपर महारथी योद्धा बैठे हुए हैं ऐसे हजारों रथों ने नमि के पुत्र को एक साथ सब ओर से घेर लिया है । नहीं जानती कि यहां क्या होगा ?

रत्नमाली—प्रिये ! यह हजार रथ नहीं हैं किन्तु अलातचक्र के भ्रमण को तिरस्कृत करनेवाले मेघप्रभीय रथ का ही यह संचार है ।

मन्दारमाला—अहा बड़ा आश्चर्य है कि नेत्र इस कही हुई बात पर

(अहो आश्चर्य यत् कथितमपि न विश्वसत. लोचने ।)

मन्दरः—अरे किं एद विअसन्तदाविच्छगुच्छसप्पहो पक्कराअजम्बूफलसामलो णीलकठकठप्पहाकब्बुरो अआलोपट्ठिदबहुलपक्खदोसाकसणो अञ्जणधूलीपुंजसच्छओ राहुविम्बसहस्ससपादमीसणो तमिस्सगुहातिमिरुग्गारगहीरो सत्तमपाआलोदरदुरालोओ पसप्पइ गअणअण अतदो एव्व णमिणंदणस्स । (अरे किमेतत् विकसत्तापिच्छगुच्छसप्रभ पक्वराजजम्बूफलश्यामलः नीलकठकठप्रभाकर्बुरः अकालोपस्थितबहुलपक्षदोषाकृष्णः अञ्जनधूलीपुञ्जसदृशः राहुबिंबसहस्रसपातभीषण तमिस्रागुहातिमिरोद्गारगभीरः सप्तमपातालोदरदुरालोक प्रसर्पति गमनागण अन्तत एव नमिनंदनस्य ।)

मन्दारमाला—(सभय) हद्धि हद्धि । किं एद । (हा धिक् हा धिक् । किं नु एतत् ।)

मन्दरः—अहो आश्चर्यम् ।

दृश्यते कवलयन्निव क्षणाद् विश्वमेव सचराचर जगत् ।
अंधकारनिकर समुत्पतन्निन्द्रनीलमणिमेचकच्छविः ॥ ६८ ॥

भी विश्वास नहीं करते ।

मन्थरक—अरे यह क्या खिले हुए तापिच्छ पुष्पों के गुच्छक के समान पके हुए जामुनों के समान श्याम, मयूरग्रीवा की प्रभा के समान चितकबरा, असमय में उपस्थित कृष्णपक्ष की रात्रि के समान काला, अञ्जनधूलि की राशि के समान, हजारों राहुओं के आक्रमण के समान भयकर और तमिस्रागुहा के अन्धकार के उद्गार के समान गभीर, सप्तम नरक का मध्यवर्ती अन्धकार नमिपुत्र के समीप ही आकाशरूपी आगन में फैल रहा है ।

मन्दारमाला—(भयसहित) हाय हाय, यह क्या है ?

मन्दर—अहा, बड़े आश्चर्य की बात है ।

दृश्यते—इन्द्रनीलमणि के समान काली कान्ति वाला उठता हुआ यह अन्धकार का समूह ऐसा दिखाई देता है मानो चर-अचर वस्तुओं के सहित समस्त ससार को क्षण भर में निगले जा रहा हो ॥ ६८ ॥

रत्नमाली—(विभाव्य) देवि तामसमस्त्रमासूत्रितं सुनमिना ।

अद्य हि—

क्षणेन मूर्च्छामिव तामसास्त्रं प्रयच्छतीदं प्रसभं जनस्य ।
तमःप्रभावस्तिमितावकाशमाकाशमाशाविनिवेशशून्यम् ॥ ६६ ॥

मन्थरकः—हु किं गोद जुअंतआलजलहरणिवहवारिसज्जंतजलणजालोलिकरालो धगधगंतघोलिरुज्जलजालाजालजडिलजंतगअणपेरंतो एक्कलोअं दसदिसाअक्कं दंसअंतो सव्वंपि दिट्ठिवहं ओवाहेदि साहाणाहो । (हतं किमेतत् युगांतकालजलधरनिवहवर्ष्यमाणज्वलनज्वालावलीकरालो धगधगुद्घूर्णनोज्वलज्वालाजालजटिलितगगनपर्यंतः एकलोकमिव दशदिशाचक्रं दर्शयन् सर्वमपि दृष्टिपथमतिवाहयति स्वाहानाथः ।)

मन्दरः—देव पश्य पश्य ।

जनस्याक्ष्णां तीक्ष्णं तिमिरमिव संरोधि तिमिरं
प्रमार्जन्नूर्जस्वी प्रभृत इव सार्जेन रजसा ।

रत्नमाली—(विचार कर) देवि ! सुनमि ने तामस अस्त्र चलाया है ।

इस समय

क्षणेनि—यह तामस अस्त्र मनुष्यों को जबर्दस्ती क्षणभर में मानो मूर्च्छा प्रदान कर रहा है तथा इस समय आकाश, अन्धकार के प्रभाव से संकीर्ण एवं दिशाओं के विभाग से शून्य हो गया है ॥ ६६ ॥

मन्थरक—हाय, क्या यह प्रलयकाल-सम्बन्धी मेघ-समूह के द्वारा बरसायी जानेवाली अग्नि-ज्वालाओं के समूह से भयंकर, धक-धक शब्द के साथ निकलती हुई ज्वालाओं के समूह से आकाश के छोर को व्याप्त करनेवाली तथा दशों-दिशाओं के समूह को एक लोक की तरह दिखाने वाली अग्नि दृष्टिपथ को उल्लंघित कर रही है ?

मन्दर—देव ! देखो, देखो !

जनस्या—जो मनुष्यों के नेत्रों को रोकनेवाले प्रगाढ तिमिर रोग के समान अन्धकार को साफ कर रहा है, सागौन वृक्ष के बुरादे से भरे हुए के समान अतिशय बलवान है और फैलती हुई सैकड़ों ज्वालाओं से जिन्होंने आकाश की सीमा को व्याप्त-ग्रस्त कर रक्खा है ऐसा यह आग्नेय वाण,

समुत्सर्पज्ज्वालाशतकवलितव्योमपरिधि-
विना काष्ठाभेदं पतति शर एतानधिरुहन् ॥ ७० ॥

रत्नमाली—निर्मुक्तमाग्नेयमस्त्रं मेघप्रभेण ।

अत्र हि ।

जनयत्यनेकपानां पाकल इव पावकः परं दवथुम् ।
सूकल इव दुष्टहयः सर्वोऽस्माद्भिभ्यदुद्भ्रमति ॥ ७१ ॥

मन्थरकः—देक्ख देव कत्थइ चलपडाआवलिवीजिओ हत्थिदग्धजालाजालआपुञ्जिओ कत्थइ करिकण्णआलचालणुत्थाविओ घोलप्फुलिंगआलिंगिओ कत्थइ चलतजालासिहड्डामरो कत्थइ चलतधूमग्गमधारिओ करितुरअरहिमणुआणिवहविद्दावणो दहइ दहणो इमो पोरवाण बलं। (पश्य देव कुत्रचिच्चलपताकावलीवीजितः हस्तिदग्धज्वालाजालपुञ्जितः कुत्रचित् करिकर्णतालचालनोत्थापितः घूर्णमानस्फुलिंगकालिंगितः कुत्रचिच्चलज्ज्वालाशिखोड्डामरः कुत्रचित् चलद्धूमोद्गमान्धकारितः करितुरगरथिमनुजनिवहविद्रावणः दहति दहन अयं पौरवाणां बलम्।)

इन सब पर आरूढ होता हुआ बिना किसी दिशाभेद के एक साथ पड़ रहे हैं ॥ ७० ॥

रत्नमाली—मेघप्रभ ने आग्नेय बाण को छोड़ा है।

इस अस्त्र में

जनयत्य—अग्नि, पाकल-हाथियों के ज्वर के समान हाथियों को बहुत भारी दाह उत्पन्न कर रहा है और सभी दुष्ट घोड़े सूकल नामक घोड़ों के रोग विशेष से युक्त हुए के समान इससे भयभीत होते हुए उद्भ्रान्त हो रहे हैं ॥ ७१ ॥

मन्थरक—देव! देखो, जो कहीं चञ्चल पताकाओं की पंक्ति से हवा किये जाने के कारण हाथियों के समान बड़ी मोटी ज्वालाओं के समूह से युक्त है, जो कहीं हाथियों के कानों की फटकार के कारण उड़ते हुए तिलगों से आलिङ्गित है, जो कहीं लपलपाती हुई ज्वालाओं के अग्रभाग से भयकर है, और जो कहीं उठते हुए धुएं की उत्पत्ति से अन्धकारयुक्त है ऐसा हाथी

मन्दरः—देव पश्य पश्य ।

उप्लुष्यन्नलकास्थिनालविगलन्मज्जाद्रवोद्रेचित-
ज्वालाजालजटाललोलदनलव्यासंगपीडांगकाः ।
प्लोपोत्पिण्डितकंधराविलुठनाकांडस्फुटोत्थापिताः
संत्रासं पिशिताशिनां च विदधत्यद्धा कबधा अमी ॥ ७२ ॥

रत्नमाली—अहो विश्वमश्नाति वैश्वानरः । एष हि ।

धूमैः श्यामलयन् प्रलिप्य गगनं निष्ठापयन्नातपं
ज्वालासंततिभिर्नवान् विरचयन् धूम्याभिरंभोधरान् ।
उत्पातोपनतोपरागबहलव्यादेहसंदेहदः
सप्तार्चिः कवलीकरोति विलिहन् बिंबं सहस्रार्चिपः ॥ ७३ ॥

मन्दरः—

मेघप्रभस्यैव जय ब्रवीति धूमध्वजः पौरवसैन्यघाती ।
नमेः सुतस्यापि पराजयाय पतन् ध्वजस्योपरि धूम एपः ॥ ७४ ॥

घोड़ा, रथी और मनुष्यों के समूह को खदेड़ता हुआ यह अग्नि पौरवों अर्ककीर्ति के पक्ष के लोगों की सेना को जला रहा है।

मन्दर—देव ! देखो देखो ।

जलते हुये नलकास्थि की नाली से बहती हुई मज्जा द्रव से बढ़ी हुई ज्वाला के समूह से भयङ्कर लपटो वाली अग्नि से जिनके अङ्ग जल रहे हैं। और जलने से पिण्डाकार कन्धराओं के हो जाने से अनवसर में ही उठाये हुये कबन्ध मांसाशियों (जीवों) को निश्चय त्रास पहुँचा रहे हैं ॥ ७२ ॥

रत्नमाली—अहा, यह अग्नि तो सबको खा रही है।

धूमैः—जो धुएं से लिप्त कर आकाश को श्याम कर रही है, घाम को समाप्त कर रही है, धुएं से युक्त ज्वालाओं के समूह से नये-नये मेघों को रच रही है, और जो उत्पात के लिये उपस्थित उपराग (दिशाओं में अत्यधिक लाली छा जाना) के अत्यधिक विस्तार का संदेह उत्पन्न कर रही है ऐसी यह अग्नि सूर्य के बिम्ब को चाटती हुई ग्रस्त कर रही है ॥ ७३ ॥

मन्दर—

मेघप्रभस्यैप—इधर अर्ककीर्ति की सेना का घात करती हुई यह

रत्नमाली—कथमकांडवृष्टया विध्याप्यते सहसा विभावसु । नूनमुत्सृष्टं वारुणमस्त्रं नमिसूनुना ।

मन्दारमाला—अहो अच्छेरं । (अहो आश्चर्यं ।)

रत्नमाली—

प्रावृट् प्रवर्तयति चारुचलत्कलापा-
नुच्चैःशिखानविरतं शिखिन. सुखाप्तान् ।
निर्मूलनिर्दलितधूमशिखाकलापः
प्रावृष्ण्य इत्यह शिखी प्रलय प्रयात ॥ ७८ ॥

मन्थरकः—कह एस रुप्पदंडधवलसलिललट्ठिसहस्सच्छाइदणिस्सेसजलणिहिणिवडणाब्भुदो पज्जलत्तजबूणदथोरभासुरविज्जुलिजालजडिलो कज्जलमिलिकसणसजलजलहरणिवहमरिज्जतसिद्धपहद्धतो सतदुवरतयणिदणिग्घोसभीसणोपब्भट्ठपमूढिदविअडमहीहरसिहरपब्भारो णिम्मज्जमतमग्गुणीमयरहसभावणिज्जसतमसो पवसतमिहुणहिअअविदारणकरपचो पउचो वारिसारत्तो । (कथमेष रौप्यदण्डधवलसलिलयष्टिसहस्रच्छादितनिश्शेषजलनिधिनिपतनाद्भुत प्रज्वलज्जांबूनदस्थूलभासुरविद्युज्जालजटिल. कज्जलमषिकृष्णसजलजलधरनिवहध्रियमाणसिद्धपथध्वात. सततोद्धरस्तनितनिर्घोषभीषणो वज्रपतनप्रोटितविकटम-

---

अग्नि मेघप्रभ की जय को कह रही है और उधर ध्वजा के ऊपर पड़ता हुआ यह धुवाँ नमिसुत की पराजय के लिये हो रहा है ॥ ७४ ॥

रत्नमाली—क्या असमय की वृष्टि के द्वारा अग्नि अकस्मात् बुझाई जा रही है । जान पड़ता है नमिपुत्र ने वारुण अस्त्र छोड़ा है ।

मन्दारमाला—अहा, आश्चर्य है ?

रत्नमाली—

प्रावृट्—अन्य वर्षा ऋतु, जिनकी सुन्दर पूछ हिल रही है, जिनकी कलगी ऊपर की ओर उठी हुई है तथा जो सुख से आये हैं ऐसे शिखी—मयूरों को चलाती है—प्रकट करती है परन्तु इस वर्षा ऋतु में जिसका धुआ रूप शिखाओं—कलंगियों का समूह जड़ सहित नष्ट हो चुका है ऐसा यह शिखी—अग्नि प्रलय को प्राप्त हो रही है ॥ ७५ ॥

मन्थरक—क्या यह वह बरसात आ गई है जो चादी के दण्ड के

-ह्रीधरशिखरप्राग्भारो निर्भरोद्भ्रांताभिसारिकामनोरथसंभाव्यमानसंतमसः प्रव-
-सन्मिथुनहृदयविदारणकरपत्रः प्रवृत्तः वर्षरात्रः ।)

रत्नमाली—

नभसोऽयं कालत्वं रचयति वहलो वलाहकव्यूहः ।
जरठशिखिकंठकालः कालीमपि करोति नभ एव ॥ ७६ ॥

अपि च ।

सौदामिन्य इमा विभांति शिखिनः पूर्वं निगीर्णाशिखा
रोमंथायितुमिच्छया मुहुरथोद्गीर्णा इवांभोधरैः ।
किंचांतः कवलीकृतो जलधरैर्वैश्वानरो दुर्जर-
स्तत्क्रोडानि विपाट्य वाढमशनिच्छद्मा विनिर्गच्छति ॥ ७७ ॥

समान सफेद हजारों जलधाराओं से समस्त समुद्र के आ पड़ने का संशय उत्पन्न होने से आश्चर्यपूर्ण है, तपाये हुए सुवर्ण के समान मोटी देदीप्यमान बिजलियों के समूह से व्याप्त है, काजल और स्याही के समान काले सजल मेघों के समूह में जिसमें आकाश में अन्धकार भरा जा रहा है, जो निरन्तर प्रकट होनेवाली मेघ-गर्जना से भयंकर है, वज्रपात के कारण जिसमें बड़े बड़े पर्वतों के शिखरों के अग्रभाग टूट टूट कर गिर रहे हैं, जिसमें अत्यधिक मात्रा में घूमने वाली अभिसारिकाओं—व्यभिचारिणी स्त्रियों के मनसूबों ने सघन अन्धकार को आदर प्राप्त हो रहा है तथा जो प्रवासी स्त्री पुरुषों के हृदय को विदीर्ण करने के लिये करौत के समान है ।

रत्नमाली—

नभसोऽय—वृद्ध मयूर के कण्ठ के समान कृष्णवर्ण यह अत्यधिक मेघों का समूह आकाश को काला कर रहा है या आकाश ही काली—घनघटा को भी उत्पन्न कर रहा है ॥ ७६ ॥

और भी

सौदामिन्य—ये बिजलियां ऐसी जान पड़ती हैं मानों मेघों के द्वारा पहले निगली हुई अग्नि की वे शिखाएं-ज्वालाएं हैं जिन्हें वे रोमन्थ की इच्छा से बार बार बाहर निकालते हैं। और मेघों ने पहले तो अग्नि को

मन्दरः—कथं प्रावृषमप्यतिशेते वानरविहितसृष्टिरियं वृष्टिः ।
अद्य हि—

निर्यत्कुरङ्गनिकुरम्बकरम्बितानि ।
चुम्बन्ति सम्प्रति कदम्बकदम्बकानि ।
कादम्बिनीनिविडनिष्पतदम्बुपूराः
कूलकषोर्मिभरिताः सरितः सरन्त्यः ॥ ७८ ॥

रत्नमाली—कथम् ।

रत्याडम्बरसाध्वसारसपुलकं निमग्नवक्त्रेष्वमी ।
यूनः मास्वसु कामिनीस्तनतटेष्वासक्तयन्तः सदा ।
व्योम्नः सीमसु केतकीसुमनसामच्छाः परागच्छटा
प्लुष्यत्प्रोषितधैर्यभस्मधवला मोक्ष्यन्ति झञ्झानिलाः ॥ ७९ ॥

खा लिया परन्तु वह हजम नहीं हो सकी इसलिये वज्र के बहाने उन मेघों के मध्यभाग को फाड़कर अच्छी तरह बाहर निकल रही हैं ॥ ७७ ॥

मन्दर—समस्त सृष्टि को अपने भीतर करनेवाली यह वृष्टि क्या वर्षा ऋतु को भी मातकर रही है ?

क्योंकि इस समय—

निर्यत्कुरङ्ग—लोग निकलते हुए काटों के समूह से व्याप्त कदम के फूलों के समूह का चुम्बन कर रहे हैं—उन्हें छू रहे हैं और मेघमाला से अत्यधिक मात्रा में पड़ते हुए जल के पूर से युक्त नदियां किनारों को कपने वाली लहरों से पूर्ण होकर बह रही हैं ॥ ७८ ॥

रत्नमाली—क्या ?

रत्याडम्बर—जो सभोग के विस्तार से गरमाये युवा पुरुषों की गर्म एवं उन्हीं में निमग्न चूचुकों से युक्त स्त्रियों के स्तनों में सदा सलग्न किया करती है ऐसी बरसात की झञ्झा वायु—वृष्टि के साथ चलने वाली ठण्डी ठण्डी वायु आकाश की सीमाओं में प्रवासी मनुष्यों के जलते हुए धैर्य का भस्म के समान सफेद केतकी के फूलों को सफेद सफेद पराग को छोड़ रही है ? ॥ ७९ ॥

कथमसौ रभसोद्दासितसकलजलधरः समुद्वेजयति सैनिकान् कल्पांतपवन-कल्पः प्रभंजनः। नूनं व्यापारितं वायव्यमस्त्रं मेघप्रभेण।

मन्दारमाली—(सभयम्) हं किं णेदं। (हंत किमेतत्।)

मन्दरः—देव पश्य पश्य।

घनौघं शैलीयं क्रकच इव संतेजनकटु-
दृढाघातप्रौढो दलयति तिरश्चीनमृजु च।
तरन् धारासारं प्रसभमथ संचूर्ण्य कणशः
पुरस्तादाशानां सपदि पवनोऽसौ विकिरति॥ ८०॥

मन्थरकः—कहं णिम्मूलपहुट्ठमेहजूहो णिस्सेसप्पमुसिदसलिलधारासारो रहसोन्मूलिदधअपडपेक्खोलणपेक्खणिज्जो हेलालूसिदराअच्छत्तचित्तलिअग-अणपरिसरो कढिणसिलाणिट्ठुरुप्पादणिग्घणो णिग्घादणिणादघग्घरघोरघोसु-प्पिडणभप्पेदसेण्णकण्णकुहरो वडवडयदि सगरगणं समीरणो। (कथं-निर्मूलप्रभृष्टमेघयूथः निःशेषप्रमुषितसलिलधारासारः रभसोन्मूलितध्वजपटप्रे-ङ्खोलनप्रेक्षणीयः हेलापर्यस्तिराजछत्रचित्रितगगनपरिसरः कठिनशिलानिष्ठु-रोत्पातनिर्घृणः निर्घातनिनादघर्घरघोरघोषोत्पीडनवधिरितसैन्यकर्णकुहरः वड-वडायति संगरांगणं समीरणः।)

क्या वह वेग से समस्त मेघों को उड़ा देनेवाली, प्रलयकाल की वायु के समान तीव्र आंधी सैनिकों को भयभीत कर रही है! जान पड़ता है मेघप्रभ ने वायव्य अस्त्र चलाया है।

मन्दारमाली—(भय सहित) हाय यह क्या है!

मन्दर—देव! देखो, देखो!

घनौघं—तीक्ष्णीकरण की क्रिया से तीक्ष्ण पैनी की हुई करौत के समान मजबूत प्रहार करने में समर्थ यह वायु पर्वत पर विद्यमान मेघसमूह प्रहार करने में समर्थ यह वायु पर्वत पर विद्ययान मेघसमूह को कभी तो तिरछा चीर रहो है और कभी सीधा। यह वायु मूसलधार वर्षा को जबर्दस्ती हर कर तथा उसके कण-कण बराबर चूर्ण कर शीघ्र ही दिशाओं के आगे बिखेर रहा है॥ ८०॥

मन्थरक—जिसने मेघों के समूह को निर्मूल नष्ट कर दिया है, जिसने

रत्नमाली—

जलदपटलं दूराद् दूरीकृतभ्रममाहृतं
पिबति पवनो नूनं वात्यामुखैः प्रविदारितैः ।
इदमपि पुनः शङ्के निर्मूलयन्नयमम्बुदान्
घनलवमपि प्रावृट् स्वागामिनीषु न लप्स्यते ॥ ८१ ॥

(विभाव्य) कथमुपसंहृतमेव चरितार्थमनेन वायव्यमस्त्रं । साधु लोहार्गलाधिपते साधु जानासि निराक्रोशं पराक्रमितुम् ।

मन्दरः—देव इतः कृतार्थय चक्षुषी । अत्र हि—

तरङ्गैराघ्नानं रथ इव पितुर्व्यन्तरजये
समुद्रं निर्मुद्रं जितमकरसञ्चाररभसः ।

जलधारा की वर्षा को सम्पूर्ण रूप से अपहृत कर लिया है, जो वेग से उखाड़ी हुई ध्वजाओं के वस्त्रों के इधर उधर उड़ने से दर्शनीय मालूम होती है, अनायास उड़ाये हुए राजाओं के छत्रों से जिसने आकाशतट को चित्रित कर दिया है, जो कठोर शिलाओं को निष्ठुरता के साथ उड़ाने में निर्दय है, और वज्र गर्जना के भयकर घर्घर शब्द के उत्पीडन से जिसने सैनिकों के कर्ण कुहरों को बहिरा कर दिया है ऐसी तीव्र आंधी युद्ध के मैदान को नष्ट भ्रष्ट कर रही है ।

रत्नमाली—वायु सचमुच फैलाये हुये बवण्डर रूपी मुखों से, जिनका भ्रमण करना दूर कर दिया गया है ऐसे दूर से खींच कर लाये हुए मेघ समूह का पान (समाप्त) कर रहा है जिससे यह भी शङ्का हो रही है कि यह (बवण्डर) मेघों को निर्मूलन करता हुआ आगामी वर्षा ऋतु में मेघ का लेश मात्र भी प्राप्त नहीं कर सकेगा ॥ ८१ ॥

(विचार कर) क्या इसने काम पूरा करने वाले वायव्य अस्त्र का संकोच कर लिया है ? ठीक लोहार्गल नरेश, ठीक, तुम क्रोधरहित पराक्रम दिखाना जानते हो ।

मन्दर—देव ! इस ओर नेत्रों को कृतकृत्य करो ।

इस ओर—

तरङ्ग—जिस प्रकार लवण—समुद्र के अधिष्ठाता मागध नामक व्यन्तर को जीतने के समय मगर-मच्छों के संचार-सम्बन्धी वेग को जीतता हुआ भरत चक्रवर्ती का रथ लहरों से प्रहार करनेवाले अनुपम समुद्र को विघटित

कुरूणां निर्भिन्दन् झटिति मकरव्यूहमधुना
रथः सम्राट्सूनोर्विघटयति वेगप्रतिभयः ॥ ८२ ॥

रत्नमाली—(विलोक्य) कथमभियुक्तौ परस्परेण कौरवपौरवौ ।

मदरः—कथं प्रतिपिध्य सैन्ययुद्धमेकतुलाघातमेतौ कर्तुं प्रवृत्तौ ।

रत्नमाली—यावदीपदवतारितविमानाः परस्परव्याहारमनयोः शृणुमः ।
(विमानावतारनाटितकेन तिष्ठंति)

मंदरः—कथमित्थमाह पौरवः । अयि कौरव—

म्लेच्छानां समरे कुरोः स्वजनतां तातेन संपश्यता
वीराणां प्रथमेऽव्वहंप्रथमिकाबद्धप्रतिज्ञेष्वपि ।
बद्ध्वा वीररसानभिज्ञभवतो द्राग्वीरपट्ट कृता
कीर्तिस्तां विततोत्थितामपहरत्यद्यार्ककीर्तिः क्रुधा ॥ ८३ ॥

मंदारमाला—अम्हो गरिट्ठा दिट्ठि ठिआ पोरवस्स । (अहो गरिष्ठा दृष्टिः स्थिता पौरवस्य ।)

करता था उसी प्रकार इस समय वेग से भय उत्पन्न करनेवाला सम्राट्-पुत्र-अर्ककीर्ति का रथ शीघ्र ही कौरवों के मकरव्यूह को भेदता हुआ विघटित कर रहा है ॥ ८२ ॥

रत्नमाली—(देख कर) क्या जयकुमार और अर्ककीर्ति परस्पर भिड़ गये ?

मन्दर—क्या सैनिकों के युद्ध को रोक कर दोनों एक सदृश घात करने के लिये प्रवृत्त हुए हैं ?

रत्नमाली—जब तक विमानों को कुछ नीचे उतार कर इन दोनों के पारस्पारिक वार्तालाप को सुनें ।

(विमान नीचे उतारने का अभिनय कर खड़े होते हैं)

मन्दर—क्या अर्ककीर्ति ने ऐसा कहा कि हे कौरव ।

म्लेच्छानां—म्लेच्छों के युद्ध में कुरुओं की आत्मयीता को देखते हुए पिता जी ने 'मैं पहले प्रहार करूँ—मैं पहले प्रहार करूँ' इस तरह प्रतिज्ञा-बद्ध श्रेष्ठ वीरों के विद्यमान रहते हुए भी वीर रस से अनभिज्ञ आपके लिये शीघ्र ही वीरपट्ट बाँध कर जिस कीर्ति को उत्पन्न किया था आज सुविस्तृत होकर उठी हुई कीर्ति को अर्ककीर्ति क्रोध से अपहृत करता है ॥ ८३ ॥

मन्दार माला—अहा, अर्ककीर्ति की दृष्टि बड़ी गुरुतर है ।

मदर—कथमित्थमाह कौरव । अयि पैतृकानीकप्रपञ्चनिरीक्षणप्रदृप्त श्रूयतामयमर्थ ।

शीतांशोरिव तीक्ष्णांशुं तव मामुपसर्पत ।
बाणै. स्पृष्टस्य पक्षस्य प्रणाश. प्रांशु जायते ॥ ८४ ॥

रत्नमाली—अहो स्थैर्यं कुरुकुलकुमारस्य । कथसकोपोत्सेकमाह पौरव । रे रे अनिबद्धप्रलापिन् ।

अर्ककीर्तिरसावर्क सोमस्त्व सोमवशज. ।
अमुमास्कन्दतो मूढ तवैव प्रत्युत क्षय ॥ ८५ ॥

अपि च,

रे सन्नद्धतया विक्रम्य सत्रस्त किमसि विस्मृत वाहनिकयुद्धनिषेधनम् । ननु तूष्णीमेवास्ते मर्मेयममर्षिणी सर्वाप्यक्षौहिणी ।

मन्दर—क्या जयकुमार ने इस प्रकार कहा—हे पिता की सेना का विस्तार देखने मात्र से उन्मत्त अर्ककीर्ति, यह बात सुनो ।

शीतांशो—जिस प्रकार सूर्य के सम्मुख जाने वाले चन्द्रमा का प्रणाश हो जाता है उसी प्रकार मेरे सम्मुख आनेवाले बाणों से स्पृष्ट तुम्हारे पक्ष का शीघ्र ही नाश हो जानेवाला है ॥ ८४ ॥

रत्नमाला—अहो, कुरुवश के कुमार की बड़ी स्थिरता है । क्या अर्ककीर्ति ने क्रोध और अहकार के साथ कहा कि रे रे असगत बोलने वाले ।

अर्ककीर्ति—यह अर्ककीर्ति सूर्य है और चन्द्रवश में उत्पन्न हुए तुम चन्द्रमा हो इस लिये रे मूर्ख ! अर्ककीर्ति के सम्मुख आते हुए तुम्हारा ही क्षय होगा ॥ ८५ ॥

और भी,

अरे तैयारी के साथ पराक्रम दिखा कर भयभीत होता हुआ तू क्या भूल गया है कि सैनिकों का युद्ध बद किया गया है ? देख, क्रोध से भरी हुई मेरी सभी सेना चुप-चाप ही खड़ी है ॥

तदद्य—

शासितुं काममीशस्त्वामेकको मम सायकः ।
शोभायै दिक्परीणाहगृहिणी मम वाहिनी ॥ ८६ ॥

रत्नमाली—आहोपुरुषिकामसहमानः कथं सानुतापमाह कौरवः । अयि स्वयंवरमर्यादाविभेदिन्नखर्वितदुर्विनयगर्वित शोचनीय इदानीं भवादृशैः पुत्रैर्महाराजभरतः ।

कुतः ।
स्खलन्मरीचिश्चरिताद्‌हिंसितात्तपांसि पाखंडकृदग्रजस्ते ।
त्वमर्ककीर्तिः पदवीमकीर्तेर्गतोसि भिंदन् गृहमेधिवृत्तिम् ॥ ८७ ॥

रत्नमाली—युक्तमाह कौरवः ।

मंदरः—कथमवधीरणाधीरमाह पौरवः । अयि मूर्ख प्रक्रांतमपि न स्मरसि न खल्वियमनुनयगोष्ठी । तदिदानीम्—

इस लिये इस समय,

शासितुं—तुम्हारा शासन करने के लिये तो मेरा एक बाण ही अच्छी तरह समर्थ है । दिशाओं के विस्तार को घेरने वाली मेरी सेना सिर्फ शोभा के लिये है ॥ ८६ ॥

रत्नमाली—क्या अहंकार को नहीं सहनेवाले जयकुमार ने पश्चात्ताप के साथ कहा कि हे स्वयंवर की मर्यादा को तोड़नेवाले एवं अत्यधिक उद्दण्डता से गर्वीले ! इस समय आप जैसे पुत्रों से महाराज भरत शोचनीय हो रहे हैं ।

क्योंकि—

स्खलन्—पाखण्ड को करनेवाला तुम्हारा बड़ा भाई अहिंसापूर्ण चरित्र से भ्रष्ट हो तप को भेदता हुआ अकीर्ति के मार्ग को प्राप्त हुआ है और तू अर्ककीर्ति गृहस्थ की वृत्ति—आचार को भेदता हुआ अकीर्ति के मार्ग को प्राप्त हुआ है ॥ ८७ ॥

रत्नमाली—कौरव ने ठीक कहा ।

मन्दर—क्या अर्ककीर्ति ने तिरस्कारपूर्वक कहा—अये मूर्ख ! प्रकृत बात का भी स्मरण नहीं रखता है यह अनुनय की गोष्ठी नहीं है । इस लिये इस समय,

नमतु शरसहस्रोद्गारसरम्भभीमः
परुषपविनिपातस्फारविस्फारघोरः ।
हठविघटितशत्रुक्षत्रियव्यूहवधः
स्समरनिकृतिचण्डः सामि कोदण्डदण्डः ॥ ८८ ॥

मन्थरक —अहो अविलम्बसहो सहाओ । (अहो अविलम्बसह स्वभाव ।)

मन्दर —कथमित्थमाह कौरव्यः । अहो अनात्मनीन न जानास्यात्मानम् । अविचारिताचरणनिम्नो हि पुमानचिरेण विपदुपभ्नतामालिम्पते ।

तदिदानीम्—

येऽमी रथं ते परिवारयन्ते भवत्परित्राणकृतोऽष्टचन्द्राः ।
निहन्मि तानेष शरैरमोघैस्त्व तावदात्यदयसि चेद्युयुत्सा ॥ ८९ ॥

मन्दर —कथं निहता एव कौरव्येणाष्टाभिश्शरैरर्ककीर्तिरथरक्षिणोऽष्टचन्द्राः ।

रत्नमाली —कथमधुना—

नमतु—जो हजारों बाणों के उगलने की क्रिया से भयंकर है, कठोर वज्रपात से होनेवाले विशाल शब्द के समान आस्फालन के विशाल शब्द से घोर है, जिसने शत्रु राजाओं की व्यूह-रचना को हठपूर्वक विघटित कर दिया है तथा जो युद्धसम्बन्धी माया से अत्यन्त कुपित है ऐसा धनुष-दण्ड आधा नम्रीभूत हो ॥ ८८ ॥

मन्थरक—अहा, विलम्ब को न सहनेवाला स्वभाव है ।

मन्दर—क्या जयकुमार ने इस प्रकार कहा कि हे अपना हित न जाननेवाले ! तू अपने आपको नहीं जानता है । बिना विचारे कार्य करनेवाला पुरुष शीघ्र ही विपत्ति की अधीनता को प्राप्त होता है ।

इस लिये इस समय,

येऽमी—आपकी रक्षा करने वाले जो ये अष्टचन्द्र तुम्हारे रथ को घेरे हुए हैं यह मैं अमोघ बाणों से उन्हें नष्ट करता हूँ सम्भव है कि तब तक तुम युद्ध की इच्छा को छोड़ दोगे ॥ ८९ ॥

मन्दर—क्या जयकुमार ने अर्ककीर्ति के रथ की रक्षा करनेवाले अष्टचन्द्र आठ बाणों के द्वारा नष्ट कर ही दिये ?

रत्नमाली—क्या इस समय,

अष्टचंद्रविनिपातविलक्षो नष्टचंद्रतिथिनिष्प्रभ एषः।
चक्रवर्तितनयस्य रथोद्य कुंठिताखिलमनोरथ आस्ते ॥ ९० ॥

मंदरः—कथं पुनरप्याह कौरवः। अयि युयुत्सासमुत्सुक अव्युत्पन्नोसि रणकर्मणि।

ततश्च।

इदानीमप्यस्ति त्वयि भरतसूनौ मम घृणा
क्षमात्युद्वृत्तेषु द्रविणमिह नः पैतृकमिदम्।
व्रज स्वैरं युद्धात् स्वगृहमथवा प्रेतभवनं
गतिस्तार्तीयीकी न पुनरिह काप्यस्ति भवतः ॥९१॥

रत्नमाली—अनुकरोति सोमप्रभं प्रशमेन मेघेश्वरः।

मन्दरः—कथं क्रोधोद्धतिसापरूयमाख्यत्कौरवः।

कथमपि रणं प्रत्याख्याय स्थिरीकृतजीवितः
क्व पुनरधुना कौरव्य त्वं पलायितुमीहसे

अष्टचन्द्र—अष्टचन्द्रों के नष्ट हो जाने से लज्जित, अमावास्या के समान प्रभाहीन एवं समस्त मनोरथों से रहित यह चक्रवर्ती के पुत्र—अर्ककीर्ति का रथ खड़ा है ॥ ९० ॥

मन्दर—क्या जयकुमार ने फिर भी कहा है—हे युद्ध की इच्छा से उत्सुक! तुम युद्ध के कार्य में अव्युत्पन्न हो।

इसलिये—

चूंकि तुम भरत के पुत्र हो अतः तुम पर मेरी दया अब भी विद्यमान है। अविनीत जनों पर क्षमा करना यह हमारा पैतृक धन है अतः तुम इच्छानुसार युद्ध से अपने घर चले जाओ या फिर यमराज के घर जाओ यहां आपकी तीसरी कोई भी गति नहीं है ॥ ९१ ॥

रत्नमाली—जयकुमार शान्ति द्वारा पिता सोमप्रभ का अनुकरण करता है।

मन्दर—क्या अर्ककीर्ति ने क्रोध की उद्दण्डता से दुर्वचनों के सहित उत्तर दिया है?

कथमपि—अरे कौरव्य! किसी तरह रण का निषेध कर अपनी जान

उरसि लुठति मे नो सौभाग्यविक्रमदायिनी
मम तु विशिखाश्छिन्दन्त्येते स्वयंवरमालिकाम् ॥ ९२ ॥

रत्नमाली—कथमुपहासोल्लासमाह कौरवः । अहो ते दुष्करकारिता यत्कुसुमान्यपि छेत्तुमातिष्ठसे ।

मन्दरः—कथं क्रोधोत्सेकमाह पौरवः । किंच अनादरतयोपेक्षितविक्रम मां गणयसि तन्मुग्धसुकुमार समरविदग्ध ।

नायं तोयधरोऽस्थिरश्चलधनुर्नैतद्वियत्कार्मुकं
नेयं प्रणयिणी तडित्प्रलघवो नैतेऽप्यपां विंदवः ।
जेताहं भवतोऽर्ककीर्तिरलघुस्थेमेदमस्मद्धनु-
र्ज्याहानौ विमुखेयमस्य विशिखाश्चैते प्रहारोन्मुखाः ॥९३॥

रत्नमाली—अहो परगुणाभ्यसूया पौरवस्य ।

बचाते हुए तुम अब कहां भागना चाहते हो ? हमारे वक्ष स्थल पर सौभाग्य और विक्रम को देनेवाली माला थोड़े ही लटक रही है किन्तु तुम्हारे वक्षःस्थल पर जो स्वयंवर माला लटक रही है उसे ये मेरे बाण अभी छिन्न छेदे डालते हैं ॥ ९२ ॥

रत्नमाली—क्या जयकुमार ने उपहासपूर्ण विनोद के साथ कहा कि अहो, यह तो तुम्हारी बड़ी बहादुरी है कि फूलों को भी छेदने के लिये तैयार खड़े हो ।

मन्दर—क्या अर्ककीर्ति ने क्रोध और अहंकार के साथ कहा कि अनादर से पराक्रम की उपेक्षा करनेवाले मुझको तू भोला सुकुमार समझता है और अपने आपको रणबांकुरा ।

नाथ—यह अस्थिर मेघ नहीं है यह चञ्चल आकाश-धनुष नहीं है, यह नश्वर बिजली नहीं है और ये अतिशय छोटी जल की बूंदें भी नहीं हैं । किन्तु मैं आपको जीतने वाला अर्ककीर्ति हूं, यह बहुत भारी मजबूती से युक्त हमारा धनुष है, यह हानि से रहित इसकी डोरी है और ये प्रहार करने के लिये सम्मुख बाण हैं ॥ ९३ ॥

रत्नमाली—अहो, अर्ककीर्ति को दूसरे के गुणों में ईर्ष्या है ।

मन्दरः—कथमवगणनादारुणमाह कौरवः। अयि भो भरतपुत्र साधु शिक्षितोसि नटविभीषिकायां यद्वीररसोदारप्रयोगेष्वसमर्थस्तत्रभवानित्थमेवं विकत्थसे।

रत्नमाली—अहो सरसानि धीराणां मानावष्टंभसोल्लाधानि स्वस्वकोवाक्यानि।

मन्दरः—कथं क्रोधोत्सेकसंवल्गितभ्रुकुटिभीषणभालपीठकठोरमाह पौरवः। अरे दुर्मानमदनोन्मत्त, निर्मर्याद, दुर्वादमुखर, कुरुकुलपांसन, वाढमद्य विपर्यस्तप्रकृतिरसि। यत्सुगृहीतनामधेयं तातमप्युपहासविरसं विभाषसे। तत् किं बहुना।

तातस्सेवैकवश्यः स्वजनयति कुरूनित्युपेक्षाप्युदस्ता
ताताधिक्षेपवद्यं मुखकुहरमिदं मृष्यते नार्ककीर्तिः।

मन्दर—क्या जयकुमार ने अनादर से कठोर उत्तर दिया। अये भरतपुत्र! (पक्ष में नाट्याचार्य के पुत्र!) तुम नट की विभीषिका में अच्छी तरह शिक्षित हो। यही कारण है कि तुम वीर रस के उदार प्रयोगों में असमर्थ होकर इस तरह अपनी प्रशंसा आप किये जा रहे हो।

रत्नमाली—अहा, वीरों के अहंकार-पूर्ण उत्तर-प्रत्युत्तर बड़े सरस होते हैं।

मन्दर—क्या अर्ककीर्ति ने क्रोध की अधिकता से उत्पन्न भौंह से ललाट-तट को भीषण एवं कठोर करते हुए कहा कि अरे अहंकारी! कामोन्मत्त! मर्यादारहित! अपशब्दों से मुखर! कुरुकुल-कलंकी! सचमुच ही आज तू विपरीतस्वभाव हो गया है इसी लिये तो पूज्य पिता जी के प्रति भी उपहास से विरस शब्द बोल रहा है। अतः अधिक कहने से क्या?

तातः—एक सेवा से वश में हो जानेवाले पिता कुरुओं को स्वजन के समान मानते हैं इस कारण से अबतक जो उपेक्षा की जाती रही है उसे भी नष्ट कर दिया है। पिता की निन्दा का उच्चारण करनेवाले इस मुख-गर्त को अर्ककीर्ति सहन नहीं करेगा! अतः जबड़ों में लगी हुई दोनों धाराओं के द्वारा ऊपर के अर्धमस्तक को खण्डित कर देनेवाला, यह

सृक्प्रान्तावलग्नोल्लुठद्भयशिखाखण्डितोर्ध्वांघमूर्धा
भल्ल प्रद्योपमल्ल. शमयतु तव त्वीवमीखयंमेप ॥ ६४ ॥

मथरक —हत विमुक्त एव्व पोरवेण कअवदाढाकरालधारापेरतो रभ-सुप्पदणभीसणसग्गिलो सणमल्लो (हत विमुक्त एव पौरवेण कृतांतदंष्ट्राकराल-धारापर्यंत रभसोत्पतनभीषणशरवान् भल्ल ।)

मन्दारमाला—कह अद्धपह एव्व कोरवेण सहसुम्मोवखसम्मोढरिदेहि सरणिअरेहि चुण्णिदो सो मल्लो । (कथमर्धपथ एव कौरवेण सहसोन्मुक्तसमु-द्धूतैः शरनिकरैः चूर्णितः स भल्ल ।)

मदर.—न तावन्मात्रमेव केतुदण्डाग्रमपि खण्डित पौरवस्य । साधु कौरव्य साधु । इत्यमाह च कौरव. । अरे अरे पौरव पश्य पश्य ।

ललद्घण्टाजिह्वोल्लुठनरचिताक्रन्दविरस
शिर.केतोरेतन्निपतति पुरस्तात्तव भुवि ।
विमुक्त्याऽऽलोलध्वजपटशिखाकेशनिचय
मदीयादाच्छिन्न तव च निधन भाव्युपदिशत् ॥ ६५ ॥

शत्रुओं के लिये मल्ल-स्वरूप हमारा भाला ही तुम्हारे पागलों जैसे प्रलाप को शान्त करे ॥ ९४ ॥

मन्थरक—खेद है कि जिसकी धाराओं का पर्यन्तभाग यमराज की दाढ़ों के समान भयकर है तथा जिसका फलक वेग से उत्पतन के कारण अत्यन्त भयावह है ऐसा भाला अर्ककीर्ति ने छोड़ ही दिया ।

मन्दारमाला—क्या जयकुमार ने सहसा छोड़े और धारण किये हुए बाणों के समूह से उस भाले को अर्धमार्ग में ही चूर चूर कर डाला ।

मन्दर—उतना ही नहीं, अर्ककीर्ति के ध्वजदण्ड के अग्रभाग को भी खण्डित कर दिया है । ठीक कौरव्य ठीक । और कौरव—जयकुमार ने इस प्रकार कहा—अरे अरे पौरव—देख देख ।

ललद्—जो हिलते हुए घण्टारूपी जिह्वा के सचलन से उत्पन्न आक्रन्दन से विरस है, चञ्चल ध्वजपट के बहाने जिसकी चोटी के बालों का समूह बिखर रहा है, तथा जो तुम्हारे भावी मरण की सूचना दे रहा है ऐसा

रत्नमाली—कथं सर्वत्राप्यतिशेते कौरवः ।

मन्दरः—कथं पुनरप्याह क्रोधसंरंभभैरवः पौरवः

रे रे कौरव संप्रति क्षणक्षणं दत्तक्षणो निर्भयः
स्वैरं विक्रमिणां वचांसि पठितान्यावर्तयावर्तय ।
निष्पर्यायविनिष्पतच्छरशताच्छिन्नांश्च पश्य क्षणात्
त्वं तूणीं कवचं गुणं धनुरिपून् वाहान् ध्वजं सारथिम् ॥९६॥

रत्नमाली—अहो दुर्भरः प्रतिज्ञाभरः ।

मन्दरः—इत्थमाह कौरवः ।

संधातुमेकतममुत्सहते पृषत्कं
यावद्भवान् धनुषि वाञ्छितसंप्रहारः ।
अस्मत्पतत्रिमुखलूनतया तवेयं
तावद्द्विधा भवती पश्य शरासनज्या ॥ ९७ ॥

यह तुम्हारी पताका का शिर—अग्रभाग मेरे बाणों से कट कर, तुम्हारे सामने पृथिवी पर पड़ रहा है ॥ ९५ ॥

रत्नमाली—क्या जयकुमार सभी विषयों में आगे बढ़ रहा है ?

मन्दर—क्या क्रोध के संरम्भ से भयंकर अर्ककीर्ति ने फिर भी कहा ?

रे रे—रे रे कौरव ! इस समय तुझे अवसर दिया गया है इसलिये निर्भय हो कर, तू ने शूर-वीरों के जितने वचन पहले पढ़े हैं तू उन्हें इच्छानुसार प्रत्येक क्षण दुहरा ले । फिर क्षणभर में ही तरकश, कवच, डोरी, धनुष, बाण, घोड़े, ध्वजा और सारथि को एकसाथ छोड़े हुए सैकड़ों बाणों से खण्डित देख ॥ ९६ ॥

रत्नमाली—अहा, बड़ी कठिन प्रतिज्ञा है ।

मन्दर—क्या कौरव ने इस प्रकार कहा ?

संधातु—प्रहार की इच्छा रखते हुए आप जब तक धनुष पर एक बाण रखने के लिये उत्साहित होते हैं तब तक देखो, आपकी धनुष की यह डोरी हमारे बाण के अग्रभाग से कट कर दो टूक हुई जाती है ॥ ९७ ॥

मन्थरक—कह छिएण एव पोरवधणुसिंजणी कोरवखुरप्पेण। (कथं छिन्नैव पौरवधनुश्शिञ्जनी कौरवक्षुरप्रेण।)

रत्नमाली—युगपदेव कौरवस्य प्रतिज्ञा च साधन सम्पन्नम्।

मन्दर—देव—

पश्य कोदण्डदण्डोऽयमर्ककीर्तेर्गतौजस।
निर्जीवश्चिमितो जातः शत्रुणा समरे हत ॥ ६८ ॥

मन्थरक—कह झत्ति पोरवरहं आरूढेण गहीदो कोरवेण विलक्खतुहिणको अक्ककित्ति। पलाइदं च समतदो पोरवबलेण। उट्ठिदो अ कोरवस्स जअकोलाहलो। पोरवो बाहुजुअलवट्टिएण पासेण कह सएदो कि कुणइत्ति आसकेमि। (कथं झटिति पौरवरथमारूढेन गृहीत कौरवेण विलक्षतूष्णीक अर्ककीर्ति पलायितं च समततः पौरवबलेन। उत्थितश्च कौरवस्य जयकोलाहल। पौरवो बाहुयुगलवर्तिना पाशेन कथमद्य कि करोत्याशके।)

मन्दरः—कथमात्मन एव मस्तके निपतितोऽर्ककीर्तेर्दम्भदम्भोलि ।

मन्थरक—क्या कौरव के बाण से अर्ककीर्ति के धनुष की डोरी कट ही गई ?

रत्नमाली—कौरव की प्रतिज्ञा और उसकी सिद्धि दोनों एक साथ सम्पन्न हो गई।

मन्दर—देव,

पश्य—ओजहीन अर्ककीर्ति का यह धनुर्दण्ड युद्ध में शत्रु के द्वारा हत होकर निर्जीव—डोरीरहित (पक्ष में प्राणरहित) होने से निश्चेष्ट हो गया है ॥ ६८ ॥

मन्थरक—क्या शीघ्रता से अर्ककीर्ति के रथ पर चढ़े हुए जयकुमार ने लज्जा के कारण चुप बैठे हुए अर्ककीर्ति को पकड़ लिया ? अर्ककीर्ति की सेना सब ओर भाग गई और जयकुमार की विजय का कोलाहल उठ खड़ा हुआ ? दोनों भुजाओं में वर्तमान पाश से बँधाहुआ अर्ककीर्ति अब क्या करेगा मुझे इस बात की आशंका हो रही है।

मन्दर—क्या अर्ककीर्ति का कपटरूपी वज्र अपने ही मस्तक पर पड़ा ?

रत्नमाली—अहो कौशलं कौरवस्य ।

मन्दरः—आह च कौरवः ।

अयमयमिह युद्धावद्धगर्वोद्धतानां
भुजबलमदभारं स्वैरमद्यावरोप्य ।
नियमयति भुजौ द्वौ भारतस्यार्ककीर्ते-
र्युधि कुरुपतिसूनुर्मोचयंत्वेतदीयाः ॥ ९९ ॥

मन्थरकः—सव्वेवि एणिह दिव्वअणा, दिण्णसाहुक्कारोपहारा कोरवेसरस्स उवरि मुंचंति मजुगुंजंतमहुअरणिव्विज्जंतमअरंदणिस्संदणिम्महिअवहलगुरुपरिमलवासिज्जंतगअणाभोगां विअसत्तसंताणमंदारहरिच्चंदणणमेरुपारिजादभूइट्ठा पुप्फविट्ठि। (सर्वेपीदानीं दिव्यजना दत्तसाधुकारोपहाराः कौरवेश्वरस्योपरि मुंचंति मंजुगुंजन्मधुकरनिकरनिर्विश्यमानमकरंदनिष्यंदनिर्मथितवहलगुरुपरिमलवास्यमानगगनाभोगां विकसत्संतानमंदारहरिचंदननमेरुपारिजातभूयिष्ठां पुष्पवृष्टिम् ।)

मन्दरः—तेन हि वयमपि तथा कुर्मः ।

रत्नमाली—अहा, जयकुमार की बड़ी कुशलता है !

मन्दर—और कौरव ने कहा

अयमय—इस युद्ध के मैदान में यह कुरुपति का पुत्र जयकुमार युद्ध की आकांक्षा से उद्धत लोगों के बाहुबल के गर्व के भार को आज अच्छी तरह उतार कर भरत के पुत्र अर्ककीर्ति की दोनों भुजाओंको बाँध रहा है इसके पक्ष के लोग आकर छुड़ावें ॥ ९९ ॥

मन्थरक—इस समय सभी दिव्यजन साधुकार का उपहार देते हुए कौरवेश्वर-जयकुमार के ऊपर वह पुष्पवृष्टि छोड़ रहे हैं, जिसने मनोहर शब्द करनेवाले भ्रमर-समूह के द्वारा उपभुक्त मकरन्द के निष्यन्द की अत्यधिक सुगन्धि से आकाश के प्राङ्गण को सुवासित कर दिया है तथा जो खिलते हुए सन्तानक, मन्दार, हरिचन्दन, नमेरु और पारिजात के फूलों से परिपूर्ण है ॥

मन्दर—तो हम लोग भी वैसा ही करें ।

(सर्वे साधुकारमुखराः पुष्पवर्षं नाटयति)

मन्दर —देव पश्य पश्य ।

सुरकरविनिर्मुक्तां व्यक्तापदानविकत्थिनीं
वहति सुमनोवृष्टिं सिद्धाध्वन पतिता जयः ।
नृपतिषु बहुष्वभ्यर्थ्यैव स्थितेषु जयश्रिया
विदितगुण एवान्या न्यस्तां स्वयंवरमालिकाम् ॥ १०० ॥

रत्नमाली—

परा जयमसौ प्राप्ता कौरवस्य पताकिनी ।
पराजयमसौ प्राप्ता पौरवस्य पताकिनी ॥ १०१ ॥

मन्दर —देव पश्य पश्य ।

कुरुनरपतिपाशात्सद्धनिष्पंदबाहु-
र्विघटितनिजसैन्यः शोभते नार्ककीर्तिः ।
इयमपि दिवसांतम्लानिपर्यस्तबिम्बा
क्षपितकरसहस्रा शोभते नार्ककीर्तिः ॥ १०२ ॥

(सब साधु साधु शब्द का उच्चारण करते हुए पुष्प वर्षा करते हैं ।)

मन्दर—देव ! देखो, देखो,

सुरकर—प्रसिद्ध गुणों का धारक जयकुमार देवों के हाथ से छोड़ी, एवं प्रकट पराक्रम को सूचित करनेवाली, आकाश से पतित पुष्प-वृष्टि को ऐसा धारण कर रहा है मानो प्रार्थना करके बहुत से राजाओं के स्थित रहते हुए विजय-लक्ष्मी के द्वारा डाली हुई दूसरी स्वयंवर माला को ही धारण कर रहा हो ॥ १०० ॥

रत्नमाली—परा—कौरव—जयकुमार की यह उत्कृष्टसेना विजय को प्राप्त हुई और पौरव—अर्ककीर्ति की वह सेना पराजय कोप्राप्त हुई ॥ १०१ ॥

मन्दर—देव, देखो देखो

कुरु—इधर कुरुराज—जयकुमार के पाश से बद्ध होने के कारण जिसकी भुजाएं निश्चेष्ट हैं तथा जिसकी अपनी सेना तितर- बितर हो गई है ऐसा अर्ककीर्ति सुशोभित नहीं हो रहा है और उधर दिनान्त के समय होने वाली म्लानि से जिसका बिम्ब नीचे की ओर ढल गया है तथा जिसकी हजार

रत्नमाली—(विलोक्य) कथमधुना—

कौरव्यहेतिनिहतप्रतिपक्षभूभृद्-
वक्षःक्षरत्क्षतजपूरसमुक्षिता क्ष्मा ।
संध्यानुरागकपिशा वरुणस्य चाशा
धत्तः परस्परममू प्रतिबिंबशोभाम् ॥ १०३ ॥

कथं निर्व्यूढसंगरस्संगरांगणाद्विनिवृत्तः कौरवः ।

अद्य च—

मदद्विपानां करवारिसिक्ता मदांबुसिक्ता हयफेनसांद्राः ।
अमी रणादद्य परागतानां समीरणाः श्रांतिमपाहरंति ॥ १०४ ॥

मन्दारमाला—कहं समत्ता समरजत्ता । (कथं समाप्ता समरयात्रा ।)

मन्दरः—देव पश्य पश्य ।

निष्पिष्टद्विषदश्च सांद्ररुधिरव्यालेपताम्यत्कराः
प्रक्षुण्णप्रतिपक्षदंतिपिशितप्रक्लिन्नदंताग्रलाः ।

किरणें नष्ट हो गई हैं ऐसी सूर्य की कीर्ति भी सुशोभित नहीं हो रही है ॥ १०२ ॥

रत्नमाली—(देखकर) क्या इस समय,

कौरव्य—जयकुमार के शस्त्रों से खण्डित शत्रुराजाओं के वक्षःस्थल से झरते हुए रुधिर के पूरसे सिक्त भूमि और संध्या की लाली से रक्त वर्ण पश्चिम दिशा दोनों ही परस्पर प्रतिबिम्ब की शोभा को धारण कर रही हैं ॥ १०३ ॥

क्या प्रतिज्ञा पूरी कर जयकुमार युद्ध के मैदान से लौट गया है ? और इस समय,

मदद्विपानां—मदस्रावी हाथियों के सूंड के जल से सींची, मदरूप जल से सींची और घोड़ों के फेन से सान्द्र ये हवाएं रण से लौटे हुए लोगों की थकावट को दूर कर रही है ॥ १०४ ॥

मन्दारमाला—क्या युद्धयात्रा समाप्त हो गई ?

मन्दर—देव, देखो देखो,

निष्पिष्ट—जिन्होंने शत्रुओं को पीस डाला है, गाढ़े गाढ़े खून के लेप

एते श्रेणिकृता विशन्ति नगरद्वारावकाशेक्षिणः
प्रोन्मीलन्मणितोरणां रणमुखाद्वाराणसीं वारणाः॥१०५॥

रत्नमाली—यावदिदानीं वयमपि—
प्रगुणरणविमर्दप्रेक्षणप्रीतिबद्धं
प्रविघटयितुमंहस्सांप्रतं सप्रयामः।
समवसरणभूमिं पूतकैलासमौलिं
प्रणिहितगणनाथोपस्थितां भूतभर्तुः॥ १०६ ॥

मन्त्ररक्षः—यदाज्ञापयति देवः। इति

(निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति श्रीहस्तिमल्लेन विरचिते सुलोचनानाटके कौरवपौरवीयो
नाम चतुर्थोऽङ्कः समाप्तः ॥ ४ ॥

से जिनकी सूंड बेचैन हैं, जिनके दांतरूपी आगल चूर चूर किये हुए शत्रुओं के हाथियों के मांस से गीले हैं, तथा जो नगर के द्वार पर अवकाश की प्रतीक्षा कर रहे हैं ऐसे ये पंक्तिबद्ध हाथी रणप्रभाग से वापिस आकर जगमगाते हुए मणिमय तोरणों से युक्त वाराणसी में प्रवेश कर रहे हैं॥१०५॥

रत्नमाली—जब तक हम लोग भी इस समय,

प्रगुण— युद्ध की बहुत भारी मारकाट के देखने की प्रीति से बांधे हुए पाप को नष्ट करने के लिये कैलाश की शिखर को पवित्र करनेवाली एवं सावधान गणधरों से युक्त भगवान् वृषभदेव की समवसरण भूमि की ओर चलते हैं ॥ १०६ ॥

मन्दरक—जो आप आज्ञा दें।

(सब निकल गये)

इस प्रकार हस्तिमल्ल के द्वारा विरचित सुलोचना नाटक में
कौरवपौरवीय नामका चौथा अङ्क समाप्त हुआ ॥ ४ ॥



पञ्चमोऽङ्कः ॥ ५ ॥

(ततः प्रविशति कंचुकी)

कंचुकी—अहो निर्भरं प्रीणाति ममांतःकरणं विजयेन वर्धमानः परनृपति-मानघस्मरः कुमारमेघेश्वरः ।

तथाहि—

प्रमदरभसादुद्यद्गद्गद्यते नितरां वचो
गुणयति गुरुं गात्रस्यानंदथुर्मम वेपथुम् ।
तिरयतितरां वाष्पोत्पीडः प्रमोदहृतोच्चिणी
स्वयमपि जरा नूनं जीर्यत्यसौ वहुलीकृता ॥ १ ॥

सर्वथा भाजनं मंगलानां सुमंगला काशोराजसुता । (परिक्रम्यात्मानं निर्वर्ण्य) अहो वैरूप्यं वार्धकस्य ।

(तदनन्तर कञ्चुकी प्रवेश करता है)

कञ्चुकी—अहा, विजय से बढ़ते हुए तथा शत्रुराजाओं के मान को नष्ट करनेवाले कुमार मेघेश्वर मुझे अत्यधिक संतुष्ट कर रहे हैं ।

जैसे कि—

प्रमद—हर्ष-सम्बन्धी वेग से उत्पन्न होते हुए वचन अत्यन्त गद्गद हो रहे हैं । हर्ष, मेरे शरीर के भारी कम्पन को कई गुना कर रहा है । हर्ष से उत्पन्न हुआ आंसुओं का समूह नेत्रों को तिरछा कर रहा है और ऐसा जान पड़ता है कि यह अत्यधिक वृद्धावस्था स्वयं ही जीर्ण हुई जा रही है ॥ १ ॥

उत्तम मङ्गलों से युक्त काशीराज की पुत्री सुलोचना सब प्रकार से मङ्गलों का पात्र हुई । (घूम कर तथा अपनी ओर देख कर) अहा बुढापे की बड़ी विरूपता है ।

वयांसि वेपथूद्धूतवारवाणच्छलात्स्वयम् ।
उड्डीयेव पलायते सोद्वेग तनुवैकृतम् ॥ २ ॥

अथवा कुरुनन्दनविजयोत्सवदर्शिन प्रवयस्त्वमपि मे श्रेयसे। यावदहमिहैव स्थित्वा यथा न कोपि प्रवेक्ष्यति तथा द्वारदेशं रक्षामि। (इति उपविशति)

(ततः प्रविशति प्रतिहारी)

प्रतीहारी—दिट्ठिआ सुरक्खिदो देव्वेण कोरववंसो जदो जेदुण्ण अक्ककित्तिं रंगेण पडिणिउत्तो कोरवेसरो। सुद च मए पेसूण अक्ककित्तिं पविट्ठो वाराणसिं कोरवेसरो समावणापुरस्सर वा राअउलणिअडे णिवेसिदो कासीराएणत्ति। तदो अ उव्वेल्लवल्लफलपलिदा आअदम्हि विअएण वड्ढत कोरवेसर दट्ठूण दट्ठीण मुह लहिदु। इअ च अग्गदो वाराणसी। जाव पविसेमि। (प्रवेशनाटितकेन) अहो रमणिज्जदा रअणिमुरस्स। (दिष्ट्या सुरक्षितो दैवन कौरववंशो यतो जित्वार्ककीर्तिं प्रतिनिवृत्त. कौरवेश्वर । श्रुत च मया गृहीत्वार्ककीर्तिं प्रविष्टो वाराणसीं कौरवेश्वरस्समायनापुरस्सर वा राजकुलनिकटे निवेशितो काशीराजेनेति। ततश्च उद्वेलवाल्यफलप्रेरिता आगता-

---

वयांसि—कम्पन से काँपते हुए कवच के छल से ऐसा जान पड़ता है मानों शरीर का विकार देख कर अवस्थारूप पक्षी घबड़ाहट के साथ उड़कर भागे जा रहे हैं ॥ २ ॥

अथवा मैं कुरुपुत्र के विजयोत्सव को देख सका अत मेरा बुढ़ापा भी कल्याण के लिये ही हुआ। मैं यहीं स्थित रह कर जिस तरह कोई प्रवेश न कर सके उस तरह द्वार प्रदेश की रक्षा करता हूँ (इतना कह कर बैठ जाता है)

(तदनन्तर प्रतीहारी प्रवेश करती है)

प्रतीहारी—सौभाग्य से देव ने कुरुवंश की अच्छी रक्षा की जिससे कौरवेश्वर अर्ककीर्ति को जीत कर वापिस लौट आये हैं। मैंने सुना है कि अर्ककीर्ति को पकड़ कर वाराणसी में प्रविष्ट हुए कौरवेश्वर—जयकुमार को काशीराज ने बड़े सम्मान के साथ राजकुल के निकट ही ठहराया है। तदनन्तर अत्यधिक बालस्वभाव से प्रेरित हुई मैं विजय से बढ़ते हुए कौरवेश्वर

स्मि विजयेन वर्धमानं देवं कौरवेश्वरं दृष्ट्वा दृष्टयोस्सुखं लब्धुम्। इयं चाग्रतो वाराणसी। यावत्प्रविशामि। अहो रमणीयता रजनीमुखस्य।)

अज्ज हि (अद्य हि)—

पउमेसु अद्धणिम्मीलिदेसु कुमुदेसु ईसिविअसिदेसु।
पिअइ ईसमअरंदं पयोसपवणो अ भमलआ घडिआ॥ ३॥
(पद्मेष्वर्धनिमीलितेषु कुमुदेष्वीषद्विकसितेषु।
पिबतीषन्मकरंदं प्रदोषपवनश्च भ्रमराश्च घटिताः।)

तहहि—(तथाहि)

इमा वेला एत्थ विलासिणीणं। (इयं वेलात्र विलासिनीनाम्।)

सत्थो चंदणकद्दमो थणअले तंबूलवासो मुहे
कप्पूरब्भहिओ अणच्छसरसा कंठं हि कत्थूरिआ।
णेहोल्ले चिहुरम्मि मल्लिकुसुमा, कालाअरुद्धूविए
सोरब्भं तरुणीअणस्स लहदे अंगेसु सोहग्गअं॥ ४॥
(शस्तश्चंदनकर्दमः स्तनतटे तांबूलवासो मुखे
कर्पूराभ्यधिकोऽनच्छसरसा कंठे हि कस्तूरिका।

के दर्शन कर नेत्रों का सुख प्राप्त करने के लिये आई हूँ। यह आगे वाराणसी है अतः प्रवेश करती हूं (प्रवेश का अभिनय कर) अहा, रात्रि के प्रारम्भ-भाग की बड़ी रमणीयता है—बहुत सुहावना समय है।

इस समय—

पउमेसु—कमल अर्ध-निमीलित हो रहे हैं और कुमुद कुछ कुछ विकसित हो रहे हैं, उनपर इकट्ठे हुए भौंरें और सायंकालिक पवन थोड़ा-थोड़ा मकरन्द का पान कर रहे हैं॥ ३॥

क्योंकि—

यह समय तो यहां स्त्रियों का है—

सत्थो—तरुण स्त्रियों के स्तन-तट पर उत्तम चन्दन लग रहा है, मुख में कपूर से युक्त पान का निवास हो रहा है, गले में काली एवं ताजी कस्तूरी लगी हुई है, तैल से चिकने तथा कृष्णागरु से सुवासित केशों में मालती के

स्नेहार्द्रे चिकुरे मल्लिकाकुसुमानि कालागरूद्धूपिते,
सौरभ्य तरुणीजनस्य लभते ग्रंगेषु सौभाग्यक ॥)

किंच । वहूमाणणासप्पचाअग्रकुसुममहावाणा मग्रणस्स दोरिणच्चग्रणि-रत्ता जत्थ तत्थ पसरंति एकोवाअप्पत्तिहिग्रग्रधग्रारधग्रावरोहतीव तिमिरा-वरणणिल्लुक्कबाहल्लसंकुइग्र अग्रणंगण । ग्रालिंगतीव परोप्परं वासर-दूरविहडिदाग्रो ग्राग्रच्छमाणसतमसदडदट्ठहत्थाग्रो दिसावहूग्रो दीसंति पडिक्खणवड्ढंततमणिवहाग्रो तिमिरवाहिणीग्रोव्व रूविणीग्रो णग्ररवीहिग्रो उज्जलंति दढताविग्रमम्महतिरिहलग्गविलोहिग्राग्रो महांगणगणतारात्रो घरे घरे दीविग्राग्रो (पुरो विलोक्य) (वधूमाननाशप्रदायककुसुममहावाणा मदनस्य दोर्निचयनिरस्ता यत्र तत्र प्रसरन्ति एकोसातप्रासिद्धवाधकारप्लजा-वरोहतीव तिमिरावरणनिलसबाहुल्यसकुचित गगनांगण । ग्रालिंगतीव परस्परं वासरदूरविघटिता ग्रागमिष्यत्सतमसदडदष्टहस्ता· दिशावध्व । दृश्यंते प्रतिक्षणवर्धमानतमोनिवहा तिमिरवाहिन्य इव रूपिण्य नगरी-वीथ्य· । उज्ज्वलति दृढतापितमन्मथशरफलाग्रविलोहिता· । महांगगना-गणतारा गृहे गृहे दीपिका· ।)

फूल सुशोभित हो रहे हैं और वारे शरीर में सुगन्धि सौभाग्य को प्राप्त कर रही है ॥ ४ ॥

और—स्त्रियों के मान-नाश को सूचित करनेवाले पुष्परूपी महावाण काम-देव की भुजाओं के समूह से छूट कर यत्र तत्र फैल रहे हैं । एक उत्पात की प्राप्ति से हत अन्धकाररूपी ध्वजा अन्धकाररूप आवरण से विस्तार के लुप्त हो जाने के कारण सङ्कुचित आकाशरूपी आगन में मानों नीचे की ओर उतरती आ रही है । दिन के समय दूर तक बिछुड़ी हुई दिशारूपी स्त्रियां आगे आने वाले गाढ़ अन्धकाररूपी दण्ड को हाथ में धारण कर मानों परस्पर आलिङ्गन ही कर रही हैं । जिनमें प्रतिक्षण अन्धकार का समूह बढ़ रहा है ऐसी नगरी की गलियां मूर्तियुक्त अन्धकार की नदियों के समान दिखाई देती हैं । अच्छी तरह तपाये हुए कामदेव के बाण की अनी के समान लाल एवं पृथ्वीरूपी

एदं खु समरावसाणसमुसुअणिस्सरंतसुलहपरिअणं महाराअउलं, ता पविसेमि। (प्रविश्यावलोक्य च) एसो खु अअओ सो मत्तादो पडिहारट्ठाणे उवविट्ठो चिट्ठदि। जाव इमादो सअलं उत्तंतं उवलहेमि। (उपसृत्य) अअअ वंदामि। (एतत्खलु समरावसानसमुत्सुकनिस्सरत्सुलभपरिजनं महाराजकुलं। तत्प्रविशामि। एष खल्वार्यः सः मत्तातः प्रतीहारस्थाने उपविष्टः तिष्ठति यावदस्मात्सकल वृत्तातमुपलभामि। आर्य वंदे।)

कंचुकी—(विलोक्य) कथं भद्रसेना। स्वस्ति भवत्यै। अथ कुतस्त्वं इयत्या वेलया स्वं देशं परित्यज्यागता।

प्रतीहारी—हरिसेण अ विसादेण अ। (हर्षेण च विषादेन च।)

कंचुकी—विप्रतिषिद्धमेतत्। व्याख्यानत एवात्र विशेषप्रतिपत्तिः।

प्रतीहारी—हरिसो दाव कोरवेसरस्स विजआदो। (हर्षस्तावत्कौरवेश्वरस्य विजयात्।)

आकाशाङ्गण के तारों के समान दीपक घर घर में जल रहे हैं। (आगे देख कर)

यह युद्धसमाप्ति में उत्सुक, बाहर निकलते हुए, सुलभ परिजनों से युक्त महाराज अकम्पन का राजभवन है, इसलिये इसमें प्रवेश करता हूं। (प्रवेश कर तथा देख कर) यह मेरे पूज्य पिता प्रतीहार के स्थान पर बैठे हुए हैं अतः इनसे सब समाचार मालूम करती हूं। (पास जाकर) आर्य! वन्दना करती हूँ।

कञ्चुकी—(देखकर) क्या भद्रसेना है? भला हो आपका। हा, यह तो कह, इस समय अपना स्थान छोड़ किसलिये आई है?

प्रतीहारी—हर्ष से और विषाद से भी।

कञ्चुकी—यह तो विरुद्ध बात है, व्याख्यान से ही यहां विशेष का निश्चय हो सकता है।

प्रतीहारी—हर्ष तो कौरवेश्वर की विजय से हो रहा है

कञ्चुकी—नैनदुन्मत्रण विपादहेतु व्याचक्ष्व ।

प्रतीहारी—चक्कवट्टिसुदस्स अक्ककित्तिणो अदिकमेण अब्बाहिद सङ्केदि हिअअं । (चक्रवर्तिसुतस्यार्ककीर्तेरतिक्रमेणात्याहित शङ्कते हृदयम् ।)

कञ्चुकी—युक्तमेवैतत् । किंतु देवेन पुनरस्मासु प्रसीदता विषादस्थानेपि हर्ष आदिष्टः ।

प्रतीहारी—(सहर्षं) अज्ज किं सच्चं भणासि । (आर्य किं सत्यं भणसि ।)

कञ्चुकी—महती सा कथा । उपविश्य श्रूयताम् ।

प्रतीहारी—तेण हि विजएण वड्ढत कुमार पेक्खिअ एसा आअच्छेमि । (तेन हि विजयेन वर्धमान कुमार प्रेक्ष्य एषा आगच्छामि ।)

कञ्चुकी—भद्रसेने निद्रायते इदानीं युद्धपरिश्रान्तो देवः । कथितश्चाहं नन्द्यावर्तसौधानकीमात्रपरिजनेन देवेन, दीयतामियमेका रात्रिर्मे निद्रायितस्य । तत्साधु रक्ष्यता द्वारदेश इति ।

कञ्चुकी—यह नहीं पूछना है, विषाद का कारण कहो ।

प्रतीहारी—चक्रवर्ती के पुत्र अर्ककीर्ति के अपमान से हृदय अनिष्ट की आशङ्का करता है ।

कञ्चुकी—यह आशङ्का होना उचित ही है किन्तु हम लोगोंपर प्रसन्न रहनेवाले देव ने विषाद के स्थान में भी हर्षका ही आदेश दिया है ।

प्रतीहारी—(हर्ष के साथ) आर्य ! क्या सच कह रहे हैं ?

कञ्चुकी—यह कथा बहुत बड़ी है बैठकर, सुनी जाय ।

प्रतीहारी—तो मैं विजय से बढ़ते हुए कुमार को देख कर अभी हाल आती हूँ ।

कञ्चुकी—भली भद्रसेना ! इस समय युद्ध में थके हुए देव नींद ले रहे हैं और नन्द्यावर्त तथा सौधानकि मात्र परिजन से युक्त देव ने मुझसे कहा भी है कि नींद की इच्छा रखनेवाले मेरे लिये यह एक रात्रि दी जाय इसलिये दरवाजे की अच्छी तरह रक्षा की जाय ।

प्रतीहारी—तेण हि पतोहं जाव देवस्स पडिवालेमि। (तेन हि प्रबोधं यावद्देवस्य प्रतिपालयामि।)

कंचुकी—तेन हि स्वैरमुपविश्यताम्।

प्रतीहारी—जं भवं आणवेदि (उपविश्य) अज्ज वलीअं खु मे कोऊहलं समरावसाणादो परं कीरिसो एत्थ उत्तंतोत्ति जाणिदुं। ता भणाहि। (यद्भवानाज्ञापयति। आर्य बलीयः खलु कौतूहलं समरावसानात् परं कीदृशोत्र वृत्तांत इति ज्ञातुं। तस्मात् भणस्व।)

कंचुकी—तेन हि श्रूयताम्।

प्रतीहारी—अवहिदम्हि। (अवहितास्मि।)

कंचुकी—युद्धे यदा तावन्निगृहीतार्ककीर्तिः कौरवेश्वरः प्राविक्षद्वाराणसीं तदैव वाराणसीपतिस्सविषादं च ससंभ्रमं चोपसृत्य वैचित्यविधुरोऽवोचत्।

शोचम्यथवाढं चिरजीवितस्य चिरात्तदेतत्फलमद्य लब्धम्।
बद्धोऽर्ककीर्तिस्समरे द्विषेति श्रुतं च दृष्टं च मया यदद्य॥ ५॥

प्रतीहारी—तो जब तक देव जागते हैं तब तक प्रतीक्षा करती हूं।

कंचुकी—तो फिर अच्छी तरह बैठ जाओ।

प्रतीहारी—जो आप आज्ञा दें (बैठ कर) आर्य! युद्ध की समाप्ति के बाद यहां क्या कैसा समाचार रहा यह जानने के लिये मुझे बड़ा कौतूहल हो रहा है, इसलिये कहिये।

कञ्चुकी—तो सुनो।

प्रतीहारी—सावधान हूँ।

कंचुकी—युद्ध में अर्ककीर्ति को पकड़ कर जिस समय कौरवेश्वर ने वाराणसी में प्रवेश किया उसीसमय वाराणसी के राजा अकम्पन महाराज विषाद और संभ्रम के साथ पास आकर बेचैनी से दुखी होते हुए बोले।

शोचस्यवाढं—लम्बी आयु के विषय में व्यर्थ ही शोक करते हो क्योंकि लम्बी आयु का फल आज प्राप्त कर लिया। वह फल यह कि आज मैंने यह सुना और देखा कि अर्ककीर्ति युद्ध में शत्रु के द्वारा बांधा गया॥ ५॥

प्रतीहारी—महाणुभावो काशीराओ जेण अक्ककित्तिणो पराभवं असह-माणो ण गहिज्जदि। (महानुभाव काशीराज येनार्ककीर्तेः पराभवमसहमानो न गृह्यते।)

कञ्चुकी—एवमेतत्।

न जातु जामातुरसौ जयस्य पराक्रमः काशिपतिं धिनोति।
धुनाति सूच्चैर्यशसोऽर्ककीर्तेरकीर्तिरेषा भरतात्मजस्य ॥ ६ ॥

प्रतीहारी—एवमेतत्, तदो तदो (ततस्ततः।)

कञ्चुकी—एवमेतत्। अथ साविक्षेपमवोचत् कौरवेश्वरं काशीराजः। यथा—

यद्बुधं भयानात्मन एव बधुं नार्हस्यशङ्कः भरतस्य सूनुम्।
विमुच्यतामेष तदाशु बधात् स मुच्यतां मुग्ध तवापि मोहः ॥७॥

अथ च।

सुतोऽयमाद्यो ननु चक्रवर्तिनस्तदवमानेऽवमतस्स एव हि।
इति त्वया डिम्भ न हन्त चिन्तितं पितुः कुतोऽनांकुकरोऽपि चेष्टिते ॥ ८ ॥

प्रतीहारी—काशीराज महानुभाव उत्कृष्ट पुरुष हैं जिससे कि उनसे अर्ककीर्ति का पराभव सहन नहीं हो रहा है।

कञ्चुकी—यह बात ऐसी ही है।

न जातु—जामाता जयकुमार का वह पराक्रम काशीनरेश को कभी सन्तुष्ट नहीं करता किन्तु उत्कृष्ट यशस्वी भरतपुत्र अर्ककीर्ति की यह भारी अपकीर्ति उन्हें कम्पित कर रही है ॥ ६ ॥

प्रतीहारी—ऐसी ही बात है फिर क्या हुआ?

कञ्चुकी—फिर काशीराज ने डाँट दिखाते हुए कौरवेश्वर से कहा।

यद्बुधं—आप अपने ही भाई भरतपुत्र को निःशङ्क होकर बाँधने के लिये योग्य नहीं हैं इसलिये यह शीघ्र ही बन्धन से छूट जाय न केवल यही बन्धन से छूट जाय, हे मूर्ख! तुम्हारा वह मोह भी छूट जाय ॥ ७ ॥

और भी,

सुतोऽय—'निश्चय से यह चक्रवर्ती का प्रथम पुत्र है इसका अपमान होने पर चक्रवर्ती ही अपमानित होंगे' हे बालक! खेद है कि तूने इस बात

प्रतीहारी—सिक्खेदव्वं सिक्खिदो देव्वो कासीराएण। तदो तदो। (शिक्षितव्यं शिक्षितो देवः काशीराजेन। ततस्ततः।)

कंचुकी—ततश्च पुनरपि काशीराजः पौरवं चोद्दिश्य सोपालंभमवोचत्।

अस्थानाभिनिवेशबद्धसमरोत्साहेन तावत्त्वया
प्रेक्षापूर्वविधायिनापि न कृतं क्षात्रोचितं पौरव।
मोहादित्थमतिक्रमं विदधता संभावनीये जने
सत्यं कौरव तत्त्वयापि न कृतं यत्तद्विवेकोचितम्॥ ९॥

प्रतीहारी—साहु महाराज साहु सोहणं ते अणुसासणं। तदो तदो। (साधु महाराज साधु शोभनं ते अनुशासनं। ततस्ततः।)

कंचुकी—अत्रांतरे निरवद्यप्रेषितौ विद्याधरदूतौ चिंतागतिमनोगती चक्रवर्तिसकाशादागतौ लेखहस्तौ गगनतलादवतरिष्टाम्।

का विचार नहीं किया। तू अपनी चेष्टाओं से पिता कुरु का अनुकरण नहीं कर रहा है॥ ८॥

प्रतीहारी—काशीराज ने राजा जयकुमार के लिये शिक्षा देने योग्य बात की शिक्षा दी। फिर क्या हुआ?

कञ्चुकी—तदनन्तर फिर भी काशीनरेश ने अर्ककीर्ति और जयकुमार को लक्ष्य कर उलाहना के साथ कहा—

अस्थाना—हे पौरव! यद्यपि तुम विचारपूर्वक काम करनेवाले हो तथापि अयोग्य हट से युद्ध के लिये उत्साहित होकर तुमने जो किया है वह क्षत्रियों के योग्य नहीं किया और हे कौरव! आदरणीय जन के विषय में अज्ञानवश इस प्रकार के अपराध को करते हुए तुमने भी जो किया है वह विवेक के योग्य नहीं किया॥ ९॥

प्रतीहारी—ठीक महाराज ठीक। आपका अनुशासन बहुत अच्छा है। फिर क्या हुआ?

कंचुकी—इसी बीच में निरवद्य मन्त्री के द्वारा भेजे गये चिन्तागति और मनोगति नाम के दो विद्याधर-दूत चक्रवर्ती के पास से हाथ में पत्र लिये आकाश से नीचे उतरे।

प्रतीहारी—कपदि मे हिअअ कीरिसी एत्थ चक्कवट्टिणो पडिपत्तिचि। (कथते मे हृदय कीदृशी अत्र चक्रवर्तिन प्रतिपत्तिरिति।)

कचुकी—भद्रे मा भैषा। स खलु दिव्यमायुप सम्यक् पश्यति।

प्रतीहारी—(सहर्ष) अज्ज भणाहि कीरिसा लेहत्थो। (आर्य भणस्व कीदृशो लेखार्थः।)

कचुकी—आस्ता तावद्विस्तार.। श्रूयतां पुन. कौरवेश्वराय प्रहितस्य लेखार्थस्य सार।

प्रतीहारी—कह विअ। (कथमिव।)

कचुकी—

यथार्ककीर्तिर्विनयात्प्रमाद्यन्निरस्तन्द्र मम शासनीय।

तथोत्पथप्रस्थित एप मोहात् त्वयापि पथ्ये पथि यतनीय.॥१०॥

प्रतीहारी—दाणि क्खु मे उस्ससिद हिअएण, एरिसा क्खु महापुरिसा णाम। अज्ज तदो तदो। (इदानीं खलु मे उच्छ्वसित हृदयेन ईदृशा खलु महापुरुषा नाम। आर्य ततस्तत।)

प्रतीहारी—मेरा हृदय तो काप रहा है कि इसविषय म चक्रवर्ती का क्या अभिप्राय है।

कञ्चुकी—भली बेटी ! डर मत। वे दिव्यपुरुष अच्छी तरह देखते हैं।

प्रतीहारी—(हर्ष के साथ) आर्य ! कहो कि लेख का अर्थ कैसा था ?

कञ्चुकी—विस्तार रहने दो, कौरवेश्वर के लिये भेजे हुए लेखार्थ का सार सुनो

प्रतीहारी—कैसा ?

कञ्चुकी—

यथार्थ—जिसप्रकार विषय से प्रमाद करता हुआ अर्ककीर्ति आलस्य-रहित होकर मेरे लिये शासन करने योग्य है उसीतरह मोहवश उन्मार्ग में प्रस्थान करने वाला यह अर्ककीर्ति तुम्हारे द्वारा भी हितकारी मार्ग में लगाने के योग्य है ॥ १० ॥

प्रतीहारी—अब मेरे हृदय ने सास ली। सचमुच ही महापुरुष ऐसे होते है। आर्य फिर क्या हुआ ?

कंचुकी—श्रूयतां च काशीराजाय प्रहितस्य लेखस्यार्थः ।

प्रतीहारी—कहं विअ । (कथमिव ।)

कंचुकी—

यद्युष्माकमसौ वचांसि शिरसाभ्यर्थ्यानि शेषास्थया
व्यामोहादतिलंघतेस्म तदयं पुत्रोऽर्ककीर्तिर्ननु ।
अप्यस्मिन् भवतां न कर्तुमुचितोपेक्षा समीक्षावतां
मंदाज्ञो भवति प्रमाद्यति जने को वा विनेये सुधीः ॥ ११ ॥

ततश्च ।

न द्वेष्टि मेघेश्वरमर्ककीर्तिर्मेघेश्वरो द्वेष्टि न चार्ककीर्तिम् ।
यथा सुहृद्भूय विवांतवैरौ तथा भवद्भिः प्रतिबोधनीयौ ॥ १२ ॥

प्रतीहारी—कहं असाहारणो कासीराए चक्कवट्टिणो बहुमाणो । (कथमसाधारणः काशीराजे चक्रवर्तिनः बहुमानः ।)

कंचुकी—किमुच्यते काशीराजः खल्वसौ ।

कञ्चुकी—अब काशीराज के लिये भेजे हुए लेख का अर्थ सुनिये ।

प्रतीहारी—कैसा ?

कञ्चुकी—शेषाक्षतों के समान आदरपूर्वक शिर से धारण करने योग्य आपके वचनों का अर्ककीर्ति ने मोहवश जो उल्लङ्घन किया है सो यह अर्ककीर्ति निश्चय से आपका पुत्र है इसके विषय में आप जैसे विचारशील पुरुषों को उपेक्षा करना उचित नहीं है । प्रमाद करने वाले शिष्यजन में ऊपर कौन बुद्धिमान् मन्दाज्ञ होता है—आज्ञा देने में आलसी होता है ॥ ११ ॥

इसलिये,

न द्वेष्टि—जिस तरह अर्ककीर्ति न मेघेश्वर से द्वेष करे और न मेघेश्वर अर्ककीर्ति से द्वेष रखे किन्तु मित्र होकर दोनों वैररहित हो जावें उस तरह आपके द्वारा समझाने के योग्य हैं ॥ १२ ॥

प्रतीहारी—काशीनरेश में चक्रवर्ति का कैसा असाधारण आदरभाव है ?

कञ्चुकी—क्या कहना है ? सचमुच ही वह काशीनरेश हैं ।

यो हि—

भक्तिं समस्तदुरितापहृतिप्रगल्भां
धत्ते सदैव परमेष्ठिनि योगनिष्ठ ।
व्यामोहसंशयविपर्ययवीतबुद्धि-
स्तत्त्वं विवेचयति सच्चरितैकतान ॥ १३ ॥

प्रतिहारी—अज्ज बुद्धिगदलेहत्थेण किं पडिवण्णं कासीराएण । (आर्य बुद्धिगतलेखार्थेन किं प्रतिपन्नं काशीराजेन ।)

कंचुकी—किमन्यत् । सबहुमानमभिष्टुतवान् महाराजभरत । यथा—

शमं दधानो हृदि योगिदुर्लभं गुणैः कियद्वा पितुरेष हीयते ।
तदस्य संचिन्त्य चरतु साधवस्सुदुष्टव वृत्तमदुष्टवृत्तयः ॥ १४ ॥

पुनरपि तमुद्दिश्यावोचत् ।

त्वय्येष नस्सार्वजनीनसूनौ यशस्वतीहात्र न भाति हर्षं ।
किमन्यदेते पितर यथा ते त्वामात्मशौचाय यथा स्मराम ॥१५॥

भक्ति—ध्यान में लीन रहनेवाले जो काशीनरेश सदा ही समस्त पापों के नष्ट करने में समर्थ भक्ति परमेष्ठी में धारण करते हैं और अनध्यवसाय, संशय तथा विपर्यय रहित ज्ञान से युक्त ही सम्यक्चरित्र का पालन करते हुए तत्त्व का विवेचन करते हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यज्ञान और सम्यक् चरित्र से युक्त हैं ॥ १३ ॥

प्रतीहारी—आर्य ! लेखार्थ को समझकर काशीराज ने क्या विचार स्थिर किया ?

कञ्चुकी—और क्या ? बड़े सम्मान के साथ उन्होंने महाराज भरत की स्तुति की । जैसे—

शमं—हृदय में मुनिदुर्लभ समाधिको धारण करता हुआ यह भरत गुणों द्वारा पिता से कितना कम है ? अर्थात् कुछ भी नहीं, इसलिये समीचीन वृत्ति को धारण करने वाले साधुपुरुष इसको योग्य सद्वृत्त का विचार कर वैसा ही आचरण करें ॥ १४ ॥

फिर भी उन्हीं को लक्ष्य कर कहा,

त्वय्ये—सर्व हितकारी भगवान् जिनेन्द्र के पुत्र तुझ यशस्वी के विपक्ष

प्रतिहारी--जुत्तं आचक्खिदं कासीराएण। तदो तदो। (युक्तमाचक्षितं काशीराजेन। ततस्ततः ।)

कंचुकी—ततश्च तूष्णीमासीनमर्ककीर्ति पुनरप्यवोचत् काशीराजः ।

तथा—

न नागैर्नाप्यश्वैरपरिमितनागाश्वपृतना-
स्समाराध्या यूयं ननु भरतसूनो कतिपयः ।
धनं चेद्दास्यामस्तदपि न वरं यत्र निधयो
नवाप्यस्तालस्याः सपदि सुवतेऽभीष्टमिह वः ॥१६॥

किंच—

महीखंडं दद्यां यदि तदपि हास्यं यदखिला
मही युष्माकीणा हिमगिरिसरिद्वल्लभमिता ।
न सौहार्दं प्रार्थ्यं नृपककुद युष्माभिरिह नः
परं हि प्रेमाणं प्रथयति पिताम्मासु भवतः ॥ १७ ॥

में मुझे जो हर्ष हो रहा है वह यहाँ नहीं समा रहा है। और क्या कहूं ये लोग जिस प्रकार तुम्हारे पिता—भगवान् वृषभदेव का स्मरण करते हैं उसी प्रकार हम आत्मशुद्धि के लिये तुम्हारा स्मरण करते हैं ॥ १५ ॥

प्रतीहारी—काशीराज ने ठीक कहा। फिर क्या हुआ ?

कञ्चुकी—तदनन्तर चुप बैठे हुए अर्ककीर्ति से काशीराज ने फिर कहा।

तथा—

न नागै—हे भरतपुत्र ! आपके पास तो अपरिमित हाथियों और घोड़ों की सेनाएं विद्यमान हैं इसलिये कुछ हाथियों और घोड़ों के द्वारा आप आराधना करने योग्य नहीं हैं। यदि आपको धन देते हैं तो वह भी ठीक नहीं है क्योंकि जहां नौही निधियां आलस्य-रहित हो शीघ्र ही आप सब के अभीष्ट पदार्थों को उत्पन्न करती रहती हैं वहां थोड़ा सा धन क्या मूल्य रखता है ॥ १६ ॥

और भी—

महीखण्डं—यदि कुछ पृथिवी का खण्ड देता हूं तो यह भी हँसी की बात होगी क्योंकि हिमगिरि से लेकर समुद्रपर्यन्त की समस्त भूमि आपकी ही

ततश्च युवराज श्रूयतामस्मदभीप्सितम्।

स्वयंवरे प्राप्य सपुष्पमाला तया समं यातु जयः स्वदेशम्।
त्वां रत्नमाला गुणरत्नराशिं संवाहयत्वर्घ्यमसावनर्घा ॥ १८ ॥

प्रतीहारी—सोव्वण जप्पिद काशीराएण। तदो तदो। (शोभनं जल्पितं काशीराजेन। ततस्ततः)

कञ्चुकी—ततश्च प्रत्याख्यानेनैव कृताभ्युपगममर्ककीर्तिं काशीराजः सादरमात्मन एव रथमारोप्य स्वभवनमनैषीत्।

प्रतीहारी—तदो तदो। (ततस्ततः)

कञ्चुकी—काशीराजनियोगेन हेमाङ्गदः कौरवेश्वरं राजभवननिकटवर्तिन्यत्र भवने समुचितसमुदाचारपुरस्सरं न्यवीविशत्। अन्यत्तु बलं गृहीत्वा स्कन्धावारं गताविरमदविशारदौ।

प्रतीहारी—तदो तदो। (ततस्ततः)

है। हे राजश्रेष्ठ ! आपके साथ मित्रता भी हमलोगों को प्रार्थनीय नहीं है क्योंकि आपके पिता हम लोगों पर परम प्रेम विस्तृत करतेहैं ॥ १७ ॥

इसलिये युवराज ! जो हम चाहते हैं वह सुनिये।

स्वयंवरे—यह जयकुमार स्वयंवर में पुष्पमाला को पाकर उस—सुलोचना के साथ अपने देशको जावे और अमूल्य रत्नमाला (पक्षमें रत्नमाला नामकी पुत्री) गुणरूपी रत्नों की राशिस्वरूप तुम श्रेष्ठ वर को प्राप्त करें ॥ १८ ॥

प्रतीहारी—काशीराज ने बहुत अच्छा कहा। फिर क्या हुआ ?

कञ्चुकी—तदनन्तर निषेध करते ही स्वीकृत करनेवाले अर्ककीर्ति को बड़े आदर के साथ अपने ही रथ पर बैठाकर काशीराज अपने भवन ले गये।

प्रतीहारी—फिर क्या हुआ ?

कञ्चुकी—काशीराज की आज्ञा से हेमाङ्गद ने कौरवेश्वर को राजभवन के निकटवर्ती भवन में योग्य शिष्टाचार के साथ ठहराया। बाकी सेना को लेकर इरमद और विशारद शिविर की ओर चले गये।

प्रतीहारी—फिर क्या हुआ ?

कंचुकी—अमुष्याश्च रात्रेस्तुर्ययामे कल्पितोर्ककीर्तेः कौतुकबंधः। कौरवेश्वरस्य तु श्वो भविता।

प्रतीहारी—सव्वं कल्लाणं एव्व। (सर्वं कल्याणमेव)

कंचुकी—तदेना रात्रिं भवत्या रक्ष्यतामाद्यकक्षा यावदहमभ्यंतरकक्षायां परितः सञ्चरन्नभिरक्षामि।

प्रतीहारी—जं अज्ज आणवेदि। (यदार्य आज्ञापयति)

(इति निष्क्रांतौ)

मिश्रविष्कम्भः

(ततः प्रविशत्युपविष्टो राजा नंद्यावर्तश्च)

राजा—(आत्मगतं) भोः चिरादद्य समरव्यतिकरतिरस्कारमनोरथ-यूथानाघ्राता सन्निधत्ते हृदये हृदयवल्लभा सानुरोधम्।

कञ्चुकी—इस रात्रि के चौथे पहर में अर्ककीर्ति का पाणिग्रहण संस्कार निश्चित किया गया है और कौरवेश्वर का कल होगा।

प्रतीहारी—सब अच्छा ही हुआ।

कञ्चुकी—इसलिये इस रात्रि भर पहली कक्षा की आप रक्षा कीजिये और भीतरी कक्षा की सब ओर घूमता हुआ मैं रक्षा करता हूं।

प्रतीहारी—जो आप आज्ञा दें।

(इस तरह दोनों बाहर निकल गये)

मिश्र विष्कम्भ

(इसके बाद बैठे हुए राजा और नन्द्यावर्त प्रवेश करते हैं)

राजा—(अपने मन में) अरे आज चिरकाल बाद युद्ध-सम्बन्धी व्यापार से तिरस्कृत मनोरथ-समूह से दूरवर्ती हृदयवल्लभा बड़े अनुरोध के साथ हृदय में संनिहित हो रही है अर्थात् युद्ध की व्यग्रता के कारण अबतक प्रिया

तत्प्रार्थयामि घटनाय रणे प्रवृत्ते
नैवागसे विघटनापि मनोरथा व ।
लब्धक्षणा प्रियतमा प्रति हे भवत
सभय यत्किमपि सप्रति सूत्रयतु ॥ १६ ॥

(चिंतामभिनीय) ग्रहो स्वैरचारिता दत्तावसराणां मनोरथानाम् ।

अमी हि—

आलिंगत्यबला बलादनुनयव्यापारदूरस्थिता
निर्बंधा नुवर्तयत्यवचनामालापयत्युत्सुकाः ।
आजिघ्रति निरु धतीमनिभृत चुवति कपोत्तरा
सपातेन मनोरथा न दधति व्रीडावकाशानपि ॥ २० ॥

(सोत्कठ) किंच बहुना ।

का ध्यान छूट गया था पर अब युद्ध समाप्त होते ही पुन: हृदय में प्रिया का ध्यान आ रहा है ।

तत्प्रार्थयामि— हे मनोरथो ! मैं पुनः एकत्रित होने के लिये आप से प्रार्थना करता हू । युद्ध के जारी होने पर आपका अलग हो जाना भी अपराध के लिये नहीं है । अब अवसर प्राप्त हुआ है इसलिये आप एकत्रित हो प्रियतमा के प्रति जो कुछ भी विचार करना चाहो करो ॥ १९ ॥

(चिन्ता का अभिनय कर) अहा, जिन्हें अवसर दिया गया है ऐसे मनोरथों की बड़ी स्वच्छन्दता है ।

क्योंकि यह मनोरथ,

आलिङ्गन्त्यबला—अबला का जबर्दस्ती आलिङ्गन करते हैं, अनुनय के व्यापार से दूर स्थित—रूठी हुई अबला को हठपूर्वक अनुकूल करते हैं, चुपचाप बैठी हुई अबला को सूघते हैं और कापती हुई अबला का सहमते सहमते चुम्बन करते हैं । ये सब मनोरथ समुदाय के साथ आ रहे हैं और लज्जा का अवकाश भी धारण नहीं करते ॥ २० ॥

(उत्कण्ठा के साथ) बहुत कहने से क्या लाभ है ?

स्वैरमद्य युगपद्विनिस्सृतैस्तामकंपनसुवासिनीं प्रति ।
यद्विकल्पितमभून्मनोरथैस्तन्ममापि वचसां न गोचरः ॥ २१ ॥

(स्मृतिमभिनीय) कथमद्यापि सैव हृदये परिवर्तते स्वयंवरयंती काशीराजसुता । यदा खलु—

मनोरथैस्तत्क्षणपूर्यमाणैर्निर्यद्भिरंतर्निबिडैरिवैतत् ।
अंसद्वयं मे पुलकैः स्फुटद्भिः प्रत्युत्थितं तत्करलालनाय ॥२२॥

अथवा । कथमंसयोरेवौत्सुक्यं कथयामि । येन—

दूरादहंपूर्विकयोपसृत्य प्रियाकरस्पर्शरसं जिहीर्षुः ।
ममान्यदप्युत्सुकमगमं संसद्वये संक्रमितुं तदैपीत् ॥ २३ ॥

अंगीकरोति च न पुनरन्यानि ममाङ्गानि बहुमानः । यतः

तत्पूर्वकं मे स्रजमर्पयंत्या स्रङ्निर्विशेषेण करद्वयेन ।
नतांसया स्पृष्टमिदं तु नीतमुत्तंसतामंसयुगं शरीरे ॥ २४ ॥

स्वैर—इस समय स्वच्छन्दतापूर्वक एक साथ निकले हुए मनोरथों ने उस अकम्पन सुता के प्रति जो जो सकल्प किये हैं वे सब मेरे भी वचनों के विषय नहीं हैं ॥ २१ ॥

(स्मृति का अभिनय कर) क्या आज भी वही स्वयंवर करती हुई काशीराज—सुता हृदय में घूम रही है ? जिस समय कि,

मनोरथै— मेरे ये दोनों कन्धे उठते हुए रोमाञ्चों से ऐसे जान पड़ते थे मानों उसके हाथों का लालन करने के लिये ही उठ खड़े हों। वे रोमाञ्च भी ऐसे लगते थे मानों जो मनोरथ भीतर अतिसघन मात्रा में स्थित थे वे ही तत्काल पूरित होने से बाहर निकल आये हों ॥ २२ ॥

अथवा कन्धों की ही उत्सुकता क्या कहूँ ?

दूरादहं—मैं पहले पहुँचूँ मैं पहले पहुँचूँ इस भावना से पहले पहुँच कर प्रिया के हस्तस्पर्श के सुख को हरण करने के इच्छुक मेरे दूसरे अङ्ग भी उस समय दोनों कन्धों में ही प्रविष्ट होना चाहते थे ॥ २३ ॥

और बहुसन्मान मेरे अन्य अङ्गों को स्वीकृत नहीं करता । क्योंकि

तत्पूर्वकं—माला के समान दोनों हाथों से मेरे लिये माला अर्पित करती

प्रियतमास्पर्श इति हि किमप्यन्यत्तपद्य रसायनमुत्कण्ठमानस्यान्तः-करणस्य ।

तथाहि—

न हारयष्टौ न तुषारवृष्टौ न चन्द्रकान्ते न च चन्द्ररश्मौ ।
ध्रुवं मया जातुचिदन्वभावि प्रियाङ्गसंस्पर्शसुखस्य लेशः ॥ २५ ॥

किंच । तस्या अपि बिसगुणक्लृप्तगुम्फना कुवलयगर्भदलाग्रमालिका कठि-नयति समस्तमार्दवद्रव्यरचितेव तनुमृगीदृशः । किंचान्यत् ।

स्रजमुपरि कराभ्यामंसयोरर्पयन्त्या
छलचलितवयस्याहस्तसंचारिताभ्याम् ।
मम किमपि रहस्यं कर्णयोरभ्युपेत्य
स्खलितवलयनादव्याजतेवाभ्यधायि ॥ २६ ॥

अथवा किमन्यदिह कथ्यते ।

हुई उस नम्रकन्धों वाली प्रिया ने सबसे पहले स्पर्शकर दोनों कन्धों का मेरे शरीर में आभूषणपन प्राप्त कराया था ।

प्रियतमा का स्पर्श हो जाना यह उत्कण्ठित होते हुए अन्तःकरण के लिये कुछ अद्भुत शक्तिशाली रसायन है ।

क्योंकि—

न हार—मैंने कभी भी प्रिया के शरीर-स्पर्श से होनेवाले सुख का लेश न तो हारयष्टि में, न बर्फ की वर्षा में, न चन्द्रकान्त मणि में और न चन्द्रमा की किरणों में ही अनुभूत किया है ॥ २५ ॥

और उस, मृगनयनी का शरीर मानों समस्त कोमल द्रव्यों से रचा गया है इसीलिये तो मृणालतन्तु में गुँथी नीलकमल के भीतरी दल के अग्रभाग की माला को कठोर बना रही है । इसके सिवाय—

स्रज—छलपूर्वक चलित वयस्या के हाथों से सचारित हाथों के द्वारा कन्धों पर माला अर्पित करती हुई उस प्रिया ने गिरी हुई चूड़ी के शब्द के बहाने मानों मेरे कान के पास आकर मेरे लिये कोई रहस्यपूर्ण बात कही थी ॥ २६ ॥

अथवा यहा और क्या कहा जाय ?

आदाय दाम मयि कौसुममर्पयंत्या
किंचिद्विकुञ्चनचलच्छिथिलोत्तरीयम् ।
आक्रम्य पक्ष्मलदृशा कुसुमायुधस्य
बाणैरिव स्फुटमहं परिवेष्टितोस्मि ॥ २७ ॥

(सविशेषौत्सुक्यं) किं च तस्याः—

स्विद्यदंगुलिगुरुत्रपाजडं हस्तयुग्ममवशं मदंसयोः ।
स्रस्तमुक्तमधुना स्मृतिं गतं सस्मितप्रियसखीकरोद्धृतम् ॥ २८ ॥

यदा खलु मे ।

उच्छ्रयसोन्नतिशिखरे प्रस्विद्यत्पुलककृतपुरःसरणे ।
अनुसरणमिवाधत्तां तस्याः कुचयोरिमे अंसे ॥ २९ ॥

नन्द्यावर्तः—(विभाव्य । आत्मगतं) कथमविच्छिन्नश्चितासंतानो देवस्य । अहो अदीर्घसूत्रता मदनस्य । यतः सन्निकृष्यमाणोपि प्रणयिनीसमा-

---

आदाय—जब वह फूलों की माला लेकर मुझपर छोड़ रही थी तब उसका उत्तरीय वस्त्र कुछ मुड़ने के कारण चञ्चल होता हुआ नीचे की ओर खिसक गया था तथा उसी समय सघन बिरूनीवाली दृष्टि से उसने मुझपर आक्रमण किया था उससे जान पड़ता था मानों मैं स्पष्ट ही काम के बाणों से वेष्टित हो गया हूँ ॥ २७ ॥

(अत्यधिक उत्सुकता के साथ) और उसकी,

स्विद्यदं—जिसकी अंगुलियां पसीना से तर तथा जो बहुत भारी लज्जा से जड होकर एकदम विवश हो रहा था ऐसा उसका हस्त-युगल मेरे कन्धों पर छूटकर पड़ गया था तब मुसकराती हुई प्रियसखी ने अपने हाथों द्वारा उसे ऊपर उठाया था । यह सब मुझे इस समय याद आ रहा है ॥ २८ ॥

जिस समय कि—

उच्छ्रय—ऊँचाई के कारण जिनके अग्रभाग ऊँचे उठे हुए हैं, तथा पसीना से युक्त रोमाञ्च जिनके आगे आगे उठ रहे हैं ऐसे ये मेरे कन्धे उसके स्तनों का ही मानों अनुकरण कर रहे थे ॥ २९ ॥

नन्द्यावर्त—(विचार कर अपने मन में) क्या देव की चिन्ता की सन्तति बीच में टूटने वाली नहीं है । अहा काम का कितना उतावलापन

गमसमयो नालममुष्यात्मनोऽवस्थापनाय । भवतु पृच्छामि । (प्रकाश) देव क्वेदानीं मन परिभ्राम्यति । यत्तूष्णीमेवास्यते ।

राजा—सखे नन्द्यावर्त कथं कथयामि ।

करावभ्यामुत्सृज्य स्रजमुपरि ममोहननी
बलादन्तर्धीरं मम निभृतमाच्छिद्य च मन ।
पुरो धैर्यालेप स च सपदि धौतो दयितया
न विद्मस्तन्नीत पुनरथ कियद्दूरमनया ॥ ३० ॥

नन्द्यावर्त—देव किमत्र खिद्यते ? ननु गतैव स्वयंवरकलहात् प्रभृति दूयमानया परिसमापितसमरव्यापार देवमवेक्षितु कुतूहलिन्या तत्र भवत्या काशीराजपुत्र्या देवपादमूल प्रति प्रेषिता सकेतस्थानप्रदर्शनाय सौधातकिं गृहीत्वा नवमालिका ।

राजा—अस्त्येतत् । गरीयान् खलु कातरतया समरकर्मपराङ्मुखीकृतम- स्मासु धकवानाया काशीराजदुहितु परिताप. ।

है क्योंकि प्रिया के मिलने का समय निकटवर्ती होने पर भी इसके अपने आपको स्थिरता के लिये नहीं हो रहा है । खैर पूछता हूँ (प्रकट) देव ! इस समय मन कहा घूम रहा है जिससे कि चुपचाप बैठे हो ।

राजा—मित्र ! नन्द्यावर्त ! कैसे कहूँ ?

कराभ्या—इस चन्द्रभा ने दोनों हाथों द्वारा मेरे ऊपर मोहनी माला डालकर धन्तरङ्ग में धीर गोर मेरे सुदृढ मन को जबर्दस्ती छीन लिया । इतना ही नहीं उसपर जो धैर्य का लेप था उसे भी उसने शीघ्र ही धो डाला है अब वह इस मन को कितना दूर ले गई यह मैं नहीं जानती ॥ ३० ॥

नन्द्यावर्त—देव ! यहा खेद क्यों किया जा रहा है ? स्वयंवर-सम्बन्धी कलह के बाद दुखी होती हुई माननीय काशीराजपुत्री—सुलोचना युद्ध का कार्य समाप्त करनेवाले आपको देखने के लिये कौतूहल से युक्त थी अतः उसने नवमालिका नाम की सखी आपके चरणमूल में भेजी था । वह नवमालिका संकेत-स्थान दिखाने के लिये सौधातकि को लेकर गई है ।

राजा—हा यह बात तो है । सचमुच कायरपने के कारण युद्ध-कार्य में

सा हि—

स्वपतिस्वयंवरसमुत्थसंभ्रम-
ग्लपितत्रपाविवृतभूरिसाध्वसा।
कथमप्यभूत् प्रियतमा न मूर्च्छिता
नवमालिकाकुसुमदामकोमला ॥ ३१ ॥

नन्द्यावर्तः—देवे, नैतच्छङ्कास्थानं किं तु देव इति केवलमभूत्कल्याणः परिणामः।

राजा—सखे अद्यापि तस्याः।

अंतर्निपीतनयनांबुपरिप्लुतानि
व्रीडाविशेषविधुरव्यपवर्तनानि।
चेतस्तुदंत्यविदितोपनतप्रमोद-
प्रारंभविघ्नचकितानि विलोकनानि ॥ ३२ ॥

अपि च तस्याः।

हम लोगों के विषय में अनिष्ट की आशङ्का करनेवाली काशीराजपुत्री को बहुत भारी संताप हो रहा था।

क्योंकि वह—

स्वपति—अपने पति के स्वयंवर में उत्पन्न क्षोभ से नष्ट हुई लज्जा के कारण जिसका बहुत भारी भय प्रकट हो रहा था तथा जो नवमालिका की पुष्पमाला के समान कोमल थी ऐसी प्रियतमा किसी तरह मूर्च्छित नहीं हुई थी ॥ ३१ ॥

नन्द्यावर्त—आपके विषय मे यह शङ्का का स्थान नहीं था किन्तु आपके विषय में तो उसका कल्याणकारी फल हुआ है।

राजा—मित्र! आज भी उसकी—

अन्तर्नि—वे चितवनें चित्त को व्यथित कर रही हैं जो भीतर निपीत आंसुओं से चञ्चल थीं, लज्जा की अधिकता के कारण जिनका संचार रुका हुआ था, तथा अकस्मात् उपस्थित हर्ष के प्रारम्भ में ही आये हुए विघ्न से चकित थीं ॥ ३२ ॥

और उसकी—

पदमाग्रग्रथिताग्रबिंदुनिकरा पर्यन्तपातोन्मुखी
प्राप्ता मां मनसाकुलेन न पुनर्भावानुगैश्चेष्टितैः।
प्रेमव्रीडितितापसाध्वसतमःसंपातकम्पोत्तर
दृष्टिर्दृष्टिविनष्टसाचिचलना यान्त्या कथं कथ्यते ॥ ३३ ॥

आस्तामेतत्। इदं तु कथं वृत्तम्।

निर्वर्त्य वक्त्रान्यभ मथरे दृशौ विवर्तयन्ती वलितत्रिकं मुखम्।
स्वयं वृणाना यददर्शदन्य तदप्यहो लग्नमिहैव मे हृदि ॥ ३४ ॥

कथं चिरायते वयस्यसौधातकिः।

(प्रविश्य)

विदूषक.—एसो म्हि आअदो। (एषोऽस्मि आगतः।)

राजा—वयस्य अपि सुसूत्रं सविधानकम्।

विदूषक.—वअस्स जस्स एसो सोदाअइ सइवो तस्सवि ते दुक्करं णाम। (वयस्य यस्यैष सौधातकिः सचिवः तस्यापि ते दुष्करं नाम।)

पदमाग्र—प्रेम, लज्जा, संताप, भय और मोह के संपात से होनेवाली कँपकँपी के साथ जाती हुई प्रियतमा की वह दृष्टि कैसे कही जा सकती है जो बरौनियों के अग्रभाग में गुम्फित अश्रु-बिन्दुओं के समूह से सामने देखने में समर्थ नहीं थी तथा जो घबड़ाये हुए मन से मुझे प्राप्त थी परन्तु भाव के अनुसार होनेवाली चेष्टाओं से मुझे प्राप्त नहीं थी ॥ ३३ ॥

अच्छा रहने दो यह, परन्तु यह कैसे हुआ ?

निर्वर्त्य—स्वयंवर के समय पीठ की हड्डी को मोड़ कर मुख को घुमाती हुई उसने अपने अलसाये नेत्र मेरे मुख से हटा कर जो अन्य राजा को देखा था अहा, वह भी मेरे इसी हृदय में लगा हुआ है ॥ ३४ ॥

मित्र सौधातकि क्यों देर कर रहा है ?

(प्रवेश कर)

विदूषक—यह मैं आ गया ?

राजा—मित्र ! क्या सब ठीक हो गया ?

विदूषक—मित्र ! जिसका यह सौधातकि सचिव है उस आपके लिये भी कठिन नाम की कोई वस्तु है ?

राजा—वयस्य कथय कथं गतं संकेतं संगतम् ।

विदूषकः—अत्थि दाव णोमालिआए सह अहं इदो गदो । (अस्ति तावन्नवमालिकया सह अहं इतो गतः ।)

राजा—अस्ति तत् ।

विदूषकः—तदो इमस्स भवणस्स पच्छिममग्गेण पविट्ठं पमदवणं । तहिं च पुव्वसंकेदिदा पमदवणपालिआ गंधमालिणी णामा दारं पालअंती ठिदा । (ततश्चास्य भवनस्य पश्चान्मार्गेण प्रविष्टं प्रमदवनम् तस्मिंश्च पूर्वं संकेतिता प्रमदवनपालिका गंधमालिनी नाम द्वारं पालयंती स्थिता ।)

राजा—ततस्ततः ।

विदूषकः—तदो अ ताए सह पमदवणमग्गेण णिहुदणिहुदं सुदूरं गदं । जहिं अहं वि बहुलमहीरुहसाहासहस्ससंवड्ढिदादो अंधआरादो भीदभीदो अंधो विअ णोमालिआकरं ओलंबिअ खलंतचरणजुअलो कहं कहं वि गदो । (ततश्च तया सह प्रमदवनमार्गेण निभृतं निभृतं सुदूरं गतं । यस्मिन्नहमपि बहुलमहीरुहशाखासहस्रसंवर्धितादंधकाराद्भीतभीत अंध इव नवमालिकाकरमवलंब्य स्खलच्चरणयुगलः कथं कथमपि गतः ।)

राजा—मित्र ! कहो किस प्रकार गये और किस प्रकार संकेत-स्थान प्राप्त हुआ ?

विदूपक—बात यह है कि मैं यहां से नवमालिका के साथ गया ।

राजा—यह है ।

विदूपक—फिर इस भवन के पिछले मार्ग से मैं प्रमदवन में प्रविष्ट हुआ । वहां पहले से ही जिसे संकेत दिया गया था ऐसी गन्धमालिनी नाम की प्रमदवन की रक्षिका द्वार की रक्षा करती हुई बैठी थी ।

राजा—फिर क्या हुआ ?

विदूपक—उसके बाद प्रमदवन के मार्ग से चुपचाप मैं बहुत दूर तक चला गया । वहां गया जहां कि मैं भी अत्यधिक वृक्षों की हजारों डालियों से बढ़े हुए अन्धकार से डरता-डरता अन्धे की तरह नवमालिका का हाथ पकड़ कर लड़खड़ाते पैरों से किसी तरह जा सका ।

राजा—ततस्ततः ।

विदूषकः—पविट्ठ च तदो पच्छाअवउलसहआरपाडलचंपअवेढिअस्स बालुज्जाणस्स मज्झे उब्भिसंतचन्दमणिबद्धपाअफलअं णाम । तं च दंसाविअ आअदेण गन्धमालिणीए सह आअच्छदेत्ति भणिअ पमदवणपालिआए सह इदो पट्ठाविऊण सअं वि तदो गदा तहिं एव्व तत्तहोदि कासीराअउत्ति आणेदु णोमालिआ । (प्रविष्ट च ततः प्रच्छायबकुलसहकारपाटलचम्पकवेष्टितस्य बालोद्यानस्य मध्ये उन्मिषच्चन्द्रमणिबद्धपादफलकं कौमुदीगृहं नाम । तच्च दर्शयित्वा आयतनं गन्धमालिन्या सह आगच्छतेति भणित्वा प्रमदवनपालिकया सह इतः प्रस्थाप्य स्वयमपि ततो गता तस्मिन्नेव तत्र भवतीं काशीराजपुत्रीमानेतुं नवमालिका ।)

राजा—साधु वयस्य साधु । क्वासौ प्रमदवनपालिका ।

विदूषकः—पमदवणपच्छदुवारे एव्व ठिदा पडिपालेदि । (प्रमदवनपश्चाद्द्वारे एव स्थिता प्रतिपालयति ।)

नन्द्यावर्तः—सर्वं समञ्जसम् । उत्थीयताम् ।

राजा—यथाह वयस्यः ।

(उत्तिष्ठति)

राजा—फिर क्या हुआ ?

विदूषक—तदनन्तर मैंने सघन छायावाले बकुल, आम, गुलाब और चम्पा से घिरे हुए बालोद्यान के मध्य में चमकते हुए चन्द्रकान्त मणि से खचित सीढ़ियोंवाले कौमुदीगृह नामक भवन में प्रवेश किया। उस भवन को दिखाकर तथा 'गन्धमालिनी के साथ आप आइये' यह कहकर नवमालिका ने मुझे प्रमदवनपालिका के साथ यहा भेज दिया और स्वयं वह उसी भवन में काशीराज की पुत्री को लेने के लिये चली गई।

राजा—ठीक मित्र ! ठीक । कहा है वह प्रमदवनपालिका ?

विदूषक—प्रमदवन के पिछवाले द्वार पर खड़ी प्रतीक्षा कर रही है ।

नन्द्यावर्त—सब ठीक है अतः उठा जाय ।

राजा—जैसा प्रिय मित्र कहें !

(सब उठते हैं)

नन्द्यावर्तः—आर्य सौधातके आदेशय प्रमदवनमार्गम् ।

विदूषकः—इदो इदो । (इत इतः)

(सर्वे परिक्रामंति)

राजा—(सोत्कंटम् आत्मगतम्)

अंगकैरमृतसेकसोदरैर्मन्थथाग्निमथितस्य ताम्यतः ।
खेलगामिनि विना विलंबनं देहि देहि परिरंभणं प्रिये ॥ ३५ ॥

(सोच्छ्वासं) अये द्रष्टव्या स्वैरमद्य मे काशीराजसुता । अथवैते असकृदनुभूतसुलोचनादर्शनसुखे इदमन्यदक्षिणी प्रार्थये (ससांत्वनं)

हे लोचने पीतमभूद्युवाभ्यां चिरं प्रियाया वदनारविन्दम् ।
पिपास्यमानस्य मयाधरस्य क्षणं तिरोधानमपि क्षमेताम् ॥ ३६ ॥

यद्वा । प्रियतमासंभावनायामपराद्ध इमे चक्षुषी नूनं पात्रं बहुमानस्य ।

नन्द्यावर्त—आर्य सौधातकि ! प्रमदवन का मार्ग बताओ ।

विदूषक—यहां यहां से !

(सब घूमते हैं)

राजा—(उत्कण्ठा के साथ मन में)

अङ्गकै—हे लीलापूर्वक गमन करनेवाली प्रिये ! मैं कामाग्नि से मथित होता हुआ बेचैन हो रहा हूं अतः बिना किसी विलम्ब के अमृत-सिञ्चन के समान अपने अङ्गों से मुझे आलिङ्गन प्रदान करो ॥ ३५ ॥

(सांस लेकर) अये ! आज मैं काशीराज की पुत्री को स्वेच्छा से देखूंगा । अथवा जिन्होंने सुलोचना के देखने का सुख अनेक बार अनुभूत कर लिया है ऐसे नेत्रों से मैं यह एक दूसरी ही प्रार्थना करता हूँ । (सान्त्वना के साथ)

हे लोचने—हे नेत्रो ! तुम दोनों ने प्रिया के मुखकमल का चिरकाल तक पान किया है । अब मैं उसके अधरोष्ठ का पान करना चाहता हूं इसलिये क्षण भर के लिये उसका व्यवधान भी क्षमा कीजिये ॥ ३६ ॥

अथवा प्रियतमा के सत्कार के विषय में अपराध को प्राप्त हुए ये नेत्र सचमुच ही सम्मान के पात्र हैं ।

तथाहि—

अपा क्रोधो धैर्यं विनयमिति वा सैव शरणं
न याती मा कान्ता पदमपि युवाभ्यामनुसृता ।
दृशौ तां चेल्लप्स्ये दृढमथ परिष्वज्य नचिरं
युवाभ्यां दास्यामि स्तनतटपरीणाहविहृतिम् ॥ ३७ ॥

अथवा सुदुर्जये इमे मया लोचने । कुतः ।

कुर्यां यद्युपगूहनं मृगदृशोऽनुच्छ्वासमग्नस्तनं
नन्वास्ते स्फुरिताधरे मम दृशोः स्वेच्छाविहारो मुखे ।
तस्याश्चेदधरं पिबेयमदयं तत्र स्म पर्यायते
नेत्रे नेत्रावलोभनाय विलुठत्पाठीनपारिप्लवे ॥ ३८ ॥

(स्पर्शं रूपयित्वा) कथं प्रवृत्ताः एव प्रोषितजनधैर्यभञ्जननिर्दाक्षिण्या दाक्षिणात्याः प्रभञ्जनाः । (सोद्वेगं) ।

क्योंकि—

अपा—लज्जा से कहो, क्रोध से कहो, धैर्य से कहो अथवा विनय से कहो, घर जाती हुई उस कान्ता का आप दोनों ने डग भर भी अनुसरण नहीं किया। हे नेत्रो ! अब यदि उसे पाऊँगा तो गाढ़ आलिङ्गन कर शीघ्र ही तुम दोनों के लिये उसके स्तनतट के विस्तार पर विहार करने का अवसर दूँगा ॥ ३७ ॥

अथवा ये नेत्र मेरे द्वारा अत्यन्त दुर्जेय हैं। क्योंकि—

कुर्यां—यदि मैं सांस रोकने से जिसमें स्तन निमग्न हो रहे हैं ऐसा प्रियतमा का आलिङ्गन करता हूँ तो मेरे नेत्रों का स्वच्छन्द विहार उसके फड़कते हुए अधरोष्ठ से युक्त मुख पर होता है और यदि निर्दयतापूर्वक उसके अधरोष्ठ का पान करता हूं तो लोटती हुई मछली के समान चञ्चल ये मेरे लम्बे नेत्र उसके नेत्रों को लुभाने के लिये उन्हीं नेत्रों पर अटक कर रह जाते हैं ॥ ३८ ॥

(स्पर्श का अभिनय कर) क्या प्रवासी मनुष्यों का धैर्य नष्ट करने में कुटिल दक्षिण की वायु बहने लगी ? (घबड़ाहट के साथ)

इतश्चोलीचूडाविचकिलघनामोदसुहृदः
समन्तात् कर्णाटीकुचकलशकाश्मीरजुषाम्।
मुहुर्माहाराष्ट्रीवदनमदिराघ्राणसुभगा
मरुद्भिः शान्तिं न हि विरहदाहं विदधति ॥ ३६ ॥

विदूषकः—(पुरो निर्दिश्य) एदं पमदवणदुवारं एसा अ गंधमालिणी। (एतत्प्रमदवनद्वारम् एषा च गन्धमालिनी।)

(प्रविश्य)

प्रमदवनपालिका—जेदु कोसलेसरो। (जयतु कोसलेश्वरः।)

राजा—भद्रे गन्धमालिनि आदेशय मार्गं बालोद्यानस्य।

गंधमालिणी—इदो इदो। (इत इतः)

(सर्वे परिक्रामन्ति)

नन्द्यावर्तः—(ऊर्ध्वं विलोक्य निर्वर्ण्य च) कथमधुना गगनाङ्गणं प्रविविक्षोः शशाङ्कमण्डलस्य स्वच्छमुपलम्भयन्निव धवलिमानमग्रिमकुहरति स्वैरमानः प्राचीमुखे चन्द्रिकास्तबकः।

इतश्चोली—इधर चोल देश की स्त्रियों की चोटी में गुम्फित विचकिल-पुष्पों की सघन सुगन्धि से युक्त, कर्णाट देश की स्त्रियों के कुचकलश पर लगी हुई केशर की पराग से सुगन्धित, और बारम्बार महाराष्ट्र देश की स्त्रियों के मुख की मदिरा के सूंघने से सुभग वायु विरह-सम्बन्धी दाह को शान्त नहीं कर रही है ॥ ३६ ॥

विदूषक—(सामने दिखाकर) यह प्रमदवन का द्वार है और यह गन्धमालिनी है।

(प्रवेश कर)

प्रमदवनपालिका—जय हो कोसलेश्वर की!

राजा—भद्रे गन्धमालिनि! बालोद्यान का मार्ग बताओ?

गन्धमालिनी—यहाँ यहाँ से?

(सब घूमते हैं)

नन्द्यावर्त—(ऊपर की ओर देखकर तथा वर्णन कर) क्या इस समय पूर्व दिशा के अग्रभाग में सफेदी को प्राप्त करता हुआ

तथाहि ।

हरिकरिकरनिर्यच्छीकरासारगौरा
पवनविधुतदुग्धाम्भोधिफेनायमाना ।
अशरणपरिधावद्ध्वान्तदत्तावकाशा
शशधरकररुदा सांप्रयन्तीन्द्रकाष्ठाम् ॥ ४० ॥

राजा—(विलोक्य) कथमिदानीमाखण्डलदिग्वधूमुखमण्डनस्य खण्डितजनमानखण्डनस्य वर्तते वर्धितमकरध्वजाभ्युदयः शीतदीधितेरुदयः ।

तथाहि ।

यच्चन्द्रिकासहचरी प्रथमं प्रविष्टा
बद्धान्धकारगहनं गगनैकभागम् ।
रङ्गं शनैः प्रविशति स्वयमद्य शङ्के
संकेतकेलिसदनं तदसौ शशाङ्कः ॥ ४१ ॥

चांदनी का समूह आकाशाङ्गणरूपी रङ्गभूमि में प्रवेश करने के इच्छुक चन्द्रमारूपी नट की स्वच्छ और चिकनी कोशा से निर्मित परदा की शोभा को धारण कर रहा है ।

क्योंकि—

हरिकरि—जो ऐरावत हाथी की सूंड से निकलते हुए जलकणों की वर्षा के समान गौरवर्ण हैं, जो वायु से हिलते हुए क्षीर समुद्र के फेन के समान हैं तथा शरण-रहित होने से सब ओर भागते हुए अन्धकार के द्वारा जिन्हें अवकाश दिया जा रहा है ऐसी चन्द्रमा की किरणें पूर्व दिशा को सघन कर रही हैं ॥ ४० ॥

राजा—(देखकर) क्या इस समय पूर्व दिशारूपी स्त्री के मुख के आभूषण तथा खण्डित-विरही मनुष्यों के मान को खण्डित करनेवाले चन्द्रमा का काम के अभ्युदय को बढ़ानेवाला उदय हो रहा है ?

क्योंकि

यच्चन्द्रिका—ऐसा ज्ञान पड़ता है कि चांदनीरूपी स्त्री एकत्रित अन्धकार से गहन आकाश के एक भागरूपी जिस संकेत भवन में पहले से प्रविष्ट

गंधमालिनी—कहं समुग्गदो एस णिस्सरंतचंदाअवसंदोहसंवलिददस-दिसाभित्तिओ अणक्खलिदपक्खालिदतिविरमसीचिक्कणणिम्मोक्खवलक्खिद-णक्खत्तकक्खिपेरंतो तुवरंतचेंचुआमणरहविद्धसणणिस्सासो संसइदविरहिजण-जीविदासंसो सम्मोसिदमाणिणीमाणणाससम्माणिददुव्विणीदपणइजणो ज-णिदजणणअणाणदो चदो। (कथं समुद्गत एषः निस्सरच्चंद्रातपसंदोहसंव-लिततदशदिशाभित्तिकः अनास्खलितप्रक्षालिततिमिरमषीपंकनिर्मोक्षवलक्षित-नक्षत्रकक्षिकापर्यंतः त्वरमाणाभिसारिकामनोरथविध्वंसननिश्वासः संशयितविर-हिजनजीविताशंसः, संमोषितमानिनीमाननाशसंमानितदुर्विनीतप्रणयिजनः जनितजननयनानंदश्चंद्रः)

अज्ज हि (अद्य हि)—

णिसहणिअडरत्तं रत्तिणाहस्स विंवं
अणुकुणइ थणाणं तुङ्गवेडालआणं।
अइवहलहलद्दालेवरज्जंतआणं
मअणरसणिहीणं चोलिअज्झाजणस्स ॥ ४२ ॥

हो चुकी है उसी संकेतभवन में अब राग (लाली और अनुराग) से भरा यह चन्द्रमा धीरे-धीरे स्वयं प्रवेश कर रहा है ॥ ४१ ॥

गन्धमालिनी—निकलती हुई चांदनी के समूह से जिसने दशों दिशाओं की दीवालों को व्याप्त कर दिया है, समग्र रूप से अन्धकाररूपी काले पङ्क को धो डालने के कारण जिसने नक्षत्रों के प्रदेश को सफेद कर दिया है, जो शीघ्रता करनेवाली व्यभिचारिणी स्त्रियों के मनोरथों को नष्ट करने के लिये श्वासनिरोध के समान है, जिसने विरही मनुष्यों के जीवन की आशा को संशय में डाल दिया है, मानवती स्त्रियों के मान को नष्ट करने से जिसने दुर्विनीत प्रेमी जनों को सन्मानित किया है तथा जिसने मनुष्यों के नेत्रों के लिये आनन्द उत्पन्न किया है ऐसा यह चन्द्रमा उदित हुआ है !

सचमुच ही इस समय—

णिसह—निषधाचल की निकटता से लाल-लाल दिखाई देनेवाला यह चन्द्रमा का विम्ब, अत्यधिक लज्जा के स्थान, हल्दी के सघन लेप से रंगे

(निपधनिकटरक्तं रात्रिनाथस्य बिम्ब
अनुकरोति स्तनानां तुगश्रीहालयानाम् ।
अतिबहलहरिद्रालेपरञ्जिता
मदनरसनिधीना चोलिकातरुणीजनस्य ।)

अह अ । (अथ च)—

णहमण्डविआविलसन्तारआ मोत्तिआ दिह दहइ ।
वित्थारियचन्दादवचन्दोवअबद्धपब्भारा ॥ ४३ ॥
(नभोमण्डपिकाविलसत्तारका मौक्तिका धृति दधति ।
विस्तारितचन्द्रातपचन्द्रोपकबद्धप्राग्भारः ॥)

विदूषक.—कह एण्हि अदिवाहिदअन्धआरपाउरसमओ सरिसागदगह-गणकुडुम्बपरिवारो उद्धद्धपेच्छन्तलोअलोअणसुहअइत्तओ । विअसन्ततारआता-मरअकुसुमणिअर ओगाहेदि गअणसर सिसिरमुराअहंसो । (कथमिदानीमति-वाहितांधकारप्रावृट्समयः सदृशागतग्रहगणकुटुम्बपरिवारः ऊर्ध्वोर्ध्वप्रेक्षमाणलोक-लोचनसुखायितृक विकसत्तारकातामरसकुसुमनिकरमवगाहते गगनसरः शिशिरांशुराजहंस ।)

राजा—अहो निरङ्कुशता शशाङ्करोचिषाम् ।

हुए तथा कामरस की निधि स्वरूप चोल देश की युवतियों के स्तनों का अनुकरण कर रहा है ॥ ४२ ॥

और भी—

णहमण्डविआ—आकाशरूपी मण्डप में सुशोभित तारा चाँदनीरूपी सुविस्तृत चँदोवा में लगे हुए मोतियों की शोभा धारण कर रहे हैं ॥ ४३ ॥

विदूषक –क्या इस समय जिसने अन्धकाररूप बरसात के समय को व्यतीत कर दिया है, ग्रहसमूहरूपी कुटुम्ब-परिवार जिसके साथ साथ आ रहा है और जो ऊपर की ओर देखनेवाले मनुष्यों के नेत्रों को सुख पहुँचाने-वाला है, ऐसा यह चन्द्रमारूपी राजहंस, देदीप्यमान तारारूपी कमल--पुष्पों के समूह से युक्त आकाशरूपी सरोवर में प्रवेश कर रहा है ।

राजा—अहा चन्द्र-किरणों की बड़ी स्वच्छन्दता है ।

तथाहि—

रभसकृतविकासः काममुक्ताट्टहासः
सुरपथपटवासोऽनल्पकर्पूरधूलिः ।
विशदयति दिगंतानिंदुपादप्रसारः
कलुषयति तु चित्तं केवलं प्रोषितानाम् ॥ ४४ ॥

अथवा प्रष्टव्यमेतत् ।

तमस्समस्तं ग्लपयन्नंशुभिर्विभावरीवल्लभ विश्वतोमुखैः ।
तमः किमेतत्स भवानुपेक्षते प्रवासिनामांतरमात्मनोपि च ॥ ४५ ॥

यदि वा तिष्टंतु वराकाः प्रवासिनः स्वशरीरे तु दत्तप्रवेशं तमः किमस्य शोभायै कल्पते । अथवा भवतु विज्ञातम् ?

सजलजलदनीलस्विपि पिपन्मयूखै-
रुडुपतिरमृतांभःपूरगौरैस्तमांसि ।

क्योंकि—

रभस—जिसका बड़े वेग से विकास हुआ है, जो कामदेव के द्वारा छोड़े हुए अट्टहास के समान है, और जो आकाशरूपी पट को सुवासित करने के लिये बहुत भारी कपूर की धूलि के समान है ऐसा यह चन्द्रमा को किरणों का प्रसार दिशाओं के अन्त को सफेद कर रहा है यदि मलिन करता है तो मात्र प्रवासी मनुष्यों के चित्त को ॥ ४४ ॥

अथवा यह बात पूछने के योग्य है ।

तमः समस्तं—हे चन्द्र ! जब कि आप सब ओर फैलनेवाली किरणों से समस्त अन्धकार को नष्ट करते हो तब प्रवासी मनुष्यों के तथा स्वयं अपने आपके भीतर विद्यमान इस अन्धकार की उपेक्षा क्यों करते हो—इसे क्यों छोड़ देते हो ॥ ४५ ॥

अथवा बेचारे प्रवासी एक ओर रहें—उनकी बात जाने दो किन्तु अपने शरीर में जिसे प्रवेश दिया गया है ऐसा यह अन्धकार क्या इसकी शोभा के लिये समर्थ है ? अथवा खैर जान लिया ।

सजल—अमृतरूपी जल के पूर के समान गौर वर्ण किरणों के द्वारा सजल मेघ के समान काले अन्धकार को नष्ट करता हुआ चन्द्रमा अपने

स्ववपुषि तम एतल्लग्नमुन्माष्टि नासौ
शरणमुपगतानां हिंसिताको नु शम ॥ ४६ ॥

नन्द्यावर्त.—(विलोक्य)

असमरालमरालशिशुच्छदच्छविरपाकुरुते परितो नभः ।
शशिकरप्रकरः प्रसरञ्जगत् गवलकज्जलकान्तिनिद् तमः ॥ ४७ ॥

(निर्वर्ण्य) अहो सान्द्रता चन्द्रातपस्य । सम्प्रति—

रजनिसुरभिभूरिक्षीरनिष्यन्दशुभ्रः
किरणपरिकरोमी रोहिणीवल्लभस्य ।
प्रसृत इव विभाति स्पर्शमात्रेण निघ्नन्
विधुरविरहितेहान् पारदासारपूरः ॥ ४८ ॥

राजा—

प्रतिफलनमहार्घाः कामिनीनां कुचेषु
प्रतिनवघनसारक्षोदसन्दोहसान्द्राः ।

शरीर में लगे हुए इस अन्धकार को इसलिये नष्ट नहीं करता है कि शरण में आये हुए की हिंसा करनेवाला दुष्ट कहलाता है ॥ ४६ ॥

नन्द्यावर्त—(देखकर)

असमराल—हंस के बच्चे के कुटिल पङ्ख के समान कान्तिवाला तथा आकाश के चारों ओर संसार में सर्वत्र फैलता हुआ यह चन्द्रमा की किरणों का समूह भैंसे के कण्ड के समान इस काले अन्धकार को नष्ट कर रहा है ॥ ४७ ॥

(देखकर) अहा चांदनी की बड़ी सघनता है । इस समय—

रजनि—रात्रिरूपी गाय के बहुत भारी दूध के प्रवाह के समान सफेद यह चन्द्रमा की किरणों का समूह दुःखी विरही मनुष्यों के शरीर को स्पर्शमात्र से नष्ट करता हुआ ऐसा जान पड़ता है मानों फैला हुआ पारे की वर्षा का पूर हो ॥ ४८ ॥

राजा—

प्रतिफलन—जो स्त्रियों के स्तनों में प्रतिबिम्बित होने से महामूल्य हैं, कपूर की नई नई पराग के समूह के समान सान्द्र हैं तथा जिनसे वर्फ की

किमपि हृदि विकारं कुर्वते सर्वतोऽमी
तरलतुहिनबिंदुस्यंदिनश्चंद्रपादाः ॥ ४९ ॥

कथं प्रत्यासन्ने प्रियादर्शने मुहूर्तमात्रमपि विरहमसहमानस्तपत्येव नः शिशिरांशुः। अयि भोः।

दुस्सहोपचितमन्मथव्यथानर्थशून्यशिशिरांशुशब्दनः।
चन्द्रपादपतितान् प्रवासिनः ह्रेपयस्यकरुणः खरैः करैः ॥ ५० ॥

किंच रे—

तपन्समांगानि शशांक शंके नावाप्स्यसि त्वं न पुराप्यवापः।
सुलोचनाया वदनस्य साम्यं विलोचनैकांतविलोभनस्य ॥ ५१ ॥

अहो कठोरता चन्द्रातपस्य।

तपसि मम किमंगा यंगचन्द्रातप त्वं
प्रकृतितपन यद्वा का कथा मद्विधेषु।

चंचल बूंदों का समूह चू रहा है ऐसी सब ओर फैली हुई ये चन्द्रमा की किरणें हृदय में कुछ अद्भुत विकार उत्पन्न कर रही हैं ॥ ४९ ॥

जबकि प्रिया का दर्शन निकट है तब मुहूर्त भर के लिये भी विरह को नहीं सहता हुआ यह चन्द्रमा हमलोगों को क्यों संतप्त ही किये जा रहा है। अरे—

दुस्सहोप—अये चन्द्र! तुम्हारी शिशिरांशु संज्ञा अर्थ से शून्य है इसीलिये तो तुम काम की भारी व्यथा से पीड़ित पादपतित—किरणों में (पक्ष में चरणों में) पड़े हुए प्रवासी मनुष्यों को निर्दय हो अपनी तीक्ष्ण किरणों से लज्जित करते रहते हो ॥ ५० ॥

और भी अरे!

तपन्—हे चन्द्र! ऐसा जान पड़ता है कि मेरे अङ्गों को तपाते हुए तुम नेत्रों को एकान्तरूप से लुभानेवाले सुलोचना के मुख की सदृशता को न आगे प्राप्त कर सकोगे और न पहले ही कभी तुमने प्राप्त किया है ॥५१॥

अहा चांदनी की बड़ी कठोरता है!

तपसि—हे चांदनी! तू मेरे अङ्गों को क्यों तपा रही है? अथवा तू तो स्वभाव से सूर्य है मेरे जैसे लोगों की क्या चर्चा है ऐसा जान पड़ता है कि

नतु वहति कलङ्काशङ्कमत शशाङ्कः
स्वयमपि भवतैव प्रत्यह तक्षितेव ॥ ५२ ॥

नन्दावर्तः—देव पश्य पश्य ।

तुलयति सुदृशामसौ शशी कुचकलश घनचन्दनार्चितम् ।
प्रियविरहविनिर्यदञ्जनद्रवकलुषाश्रुनिपातकर्बुरम् ॥ ५३ ॥

अपर्यनुयोज्याश्च स्वभावा भावानां । कुतः ।

किमपकृतममुष्य चक्रवाकैः किमुपकृत तुहिनार्चिषश्चकोरैः ।
व्यथयति विघटय्य चक्रवाकांस्तृषमपहृत्य धिनोति यच्चकोरान् ॥५४॥

राजा—हत भो रोहिणीजीवितेश्वर !

प्रियाविश्लेषार्ते स्मरविशिखसपातविधुरे
न नाम त्व काम मयि कुरु घृणां मन्मथसख ।
विना हेतो रक्तान्यथ किमिति चक्राह्वमिथुना-
न्युदस्यन् विस्रसाद् झटिति विघटय्य व्यथयसि ॥५५॥

तेरे द्वारा ही जिसका बिम्ब प्रतिदिन सतत हो रहा है ऐसा चन्द्रमा स्वय भी कलङ्क की आशङ्का से मुक्त मध्यभाग को धारण कर रहा है ॥ ५२ ॥

नन्दावर्त—देव ! देखो देखो,

तुलयति—यह चन्द्रमा, स्त्रियों के गाढे गाढे चन्दन से सुशोभित तथा पति के विरह में निकलने हुए अञ्जन द्रव से मलिन आँसुओं के पड़ने से चितकबरे स्तन कलश की तुलना कर रहा है ॥ ५३ ॥

पदार्थों के स्वभाव तर्क के अविषय हैं । क्योंकि—

किमप—चकवों ने इस चन्द्रमा का क्या अपकार किया और चकोरों ने क्या उपकार किया ? जिससे यह चकवों को बिछुड़ा कर दुखी करता है और चकोरों को उनकी प्यास दूर कर सतुष्ट करता है ॥ ५४ ॥

राजा—हे चन्द्र !

प्रिया—चूंकि तुम काम के मित्र हो अतः प्रिया के विरह से दुखी एव काम की बाणवर्षा से पीडित मुझ पर दया न करो यह ठीक है परन्तु परस्पर में अनुरक्त चकवा-चकवियों के युगल को इस तरह शीघ्र छुड़ा कर अकारण क्यों पीडित कर रहे हो ? ॥ ५५ ॥

(अन्यतो विलोक्य)

निष्टापप्रतराजतद्रवखरांश्चंद्रातपान्नीरसान्
किं यूयं पिवथ प्रसारितगलाः स्वैरं चकोरार्भकाः ।
यद्वा तापितरूप्यपिंडपरुषं विंबं गिलन्नैन्दवं
युष्माकं स परं निसर्गकठिनः स्वर्भानुरेवोपमा ॥ ५६ ॥

यद्वा रूप्यद्रव इत्यपि न पर्याप्तिस्तापस्य । कुतः ।

रूप्यद्रवो भवति नायमितः प्रसर्प-
न्नूष्मायते स पतितः कियतो मुहूर्तान् ।
इन्दुर्विलीनतनुरात्मन एव तापा-
ज्ज्योत्स्नीभवत्यपरथा कुत ईदृशोऽयम् ॥ ५७ ॥

नन्द्यावर्तः—देव पश्य पश्य । परिभ्रश्यदवश्यायलेशग्रथितः पल्लवाग्रस्य संफुल्लमल्लिकावल्लीवेल्लितकंकेलिस्कंधस्य केलिदोहलविलासिनीविभ्रमपरिरंभरससमुज्जृम्भमाणकुरवकस्तवककदंबकस्य लंबमानसरससहकारकिसलयविडंबितवनितालल्लितकरतलसौकुमार्यस्य विकीर्यमाणबहलसौरभसंभावितसमीरणस्य रणरणकविवृद्धिकदर्थ्यमानमानिनीसंतानस्य वसंतवासभवनस्य निरालस्यवर्धितमन्मथप्रमदस्य प्रमदवनस्य परा लक्ष्मीः ।

(दूसरी ओर देख कर)

निष्टाप—हे चकोर के बच्चो ! तुम लोग गला फाड़ फाड़ कर तीव्र गर्मी से पिघली चांदी के द्रव के समान कठोर नीरस चांदनी को क्यों पिये जा रहे हो ? अथवा तपाये हुए चांदी के पिण्ड के समान कठोर चन्द्रमा के बिम्ब को निगलने वाला क्रूर राहु ही तुम लोगों की उपमा हो सकता है ॥ ५६ ॥

अथवा चांदी का द्रव यह भी संताप की पूर्णता नहीं है । क्योंकि—

रूप्य—यह इधर फैलता हुआ पदार्थ चांदी का द्रव नहीं है क्योंकि वह यहां पड़कर कितने मुहूर्त तक गर्म रहता ? यह तो अपने ही संताप से गला हुआ चन्द्रमा चांदनी हो रहा है यदि अन्यथा बात होती तो यह चन्द्रमा ऐसा क्यों होता ? ॥ ५७ ॥

नन्द्यावर्त—देव ! देखो, देखो । चूती हुई तुषार की बूंदों से जिसमें

अत्र हि—

ज्योत्स्नावगाहशिशिरः सहकारगन्धि-
निष्यन्दमानबकुलासववासितोऽसौ ।
वायुर्ददाति विहरन् कमपि प्रमोद-
मामोदमानकुमुदाकरसौरभार्द्रः ॥ ५८ ॥

राजा—

च्योतन्मधुलवनिकरा निकारसहकारिणोऽत्र सहकाराः ।
प्रमदाविरहार्तानां प्रमदवनमिदं प्रमादाय ॥ ५९ ॥

(स्पर्शं रूपयित्वा) कथमसावपि परितापहेतुरपर एव चन्द्रातपो मातरिश्वा । अथवा ।

पञ्चमी के अग्रभाग गुम्फित हैं, जिसमें अशोक वृक्ष के स्कन्ध से फूली, मालती की लता लिपटी हुई है, जहां क्रीड़ा की इच्छा से युक्त स्त्रियों के हावभाव-पूर्वक आलिङ्गन के रस से कुरबक वृक्षों में गुच्छों के समूह निकल रहे हैं, जहां आमों के लम्बे लम्बे नये पल्लवों से स्त्रियों की सुन्दर हथेलियों की सुकुमारता तिरस्कृत हो रही है जहां फैलती हुई अत्यधिक सुगन्धि से वायु सम्मानित हो रही है, जो वसन्त का निवासभवन है तथा जहां बिना आलस्य के काम का हर्ष बढ़ रहा है ऐसे प्रमद वन की बहुत बड़ी शोभा है।

सचमुच ही यहा

ज्योत्स्ना—जो चांदनी में प्रवेश करने से ठण्डा है, जिसमें सुगन्धित आम की गन्ध मिल रही है, जो झरते हुए मौलश्री के आसव से सुवासित है तथा जो खिलते हुए कुमुदवन की सुगन्धि से आर्द्र है ऐसी चलती हुई वायु किसी अद्भुत आनन्द को दे रही है ॥ ५८ ॥

राजा—च्योतन्—जिनसे मकरन्द की कणों का समूह चू रहा है ऐसे आम्र के वृक्ष यहाँ दुःख के सहायक हैं। यथार्थ में यह प्रमदवन स्त्रियों के विरह से दुखी मनुष्यों के लिये प्रमाद का कारण है ॥ ५९ ॥

(स्पर्श का अभिनय कर) क्या यह वायु भी संताप का कारण स्वरूप दूसरी चादनी ही है ? अथवा—

अंगानि काशिदुहितुर्नवचंद्रकांत-
निस्यंदघृष्टहरिचंदनशीतलानि ।
स्पृष्टानि नैव भवता पवमान नूनं
नो चेदसौ तव कथं परितापभारः ॥ ६० ॥

इत्थं च मे विकल्पयति चेतः ।

इयं तु तत्तां विनिवेश्य चंद्रिका वहत्यमुष्मिन् पवने घनोष्मणि ।
अयं तु ततः सहसावगाहनादिहैव चंद्रातपमुर्मुरानले ॥ ६१ ॥

अयं च मे तर्कः ।

केवलं लोकविख्यातां वायोरग्निरिति श्रुतिम् ।
वायुरुष्णो वमन्नग्निं सत्यं सत्यापयत्यसौ ॥ ६२ ॥

अथवा साधु वेदितम् ।

असौ वहन्नेव मुहुस्सहं दहन् देहिनां श्रांतिहरः समीरणः ।
स नूनमूर्ध्वज्वलनं विभावसुर्विहाय तिर्यग्ज्वलनेन वर्तते ॥ ६३ ॥

अङ्गानि—हे पवन ! नवीन चन्द्रकान्तमणि से निर्गत जल-प्रवाह से घिसे हुए हरिचन्दन के समान शीतल सुलोचना के अङ्गों का जान पड़ता है आपने कभी स्पर्श नहीं किया है अन्यथा तुम्हें यह तीव्र संताप का भार कैसे प्राप्त होता ? ॥ ६० ॥

मेरा मन तो ऐसी कल्पना करता है

इयं—यह चांदनी तीव्र गर्मी से युक्त बहती हुई वायु में पड़ कर संतप्त हो गई है और यह वायु इसी चांदनी रूपी तुषाग्नि में सहसा प्रवेश करने से संतप्त हुई है ॥ ६१ ॥

मेरा तर्क यह है

केवलं—अग्नि को उगलती हुई यह वायु सचमुच ही लोक-प्रसिद्ध वायोरग्निः—वायु से अग्नि उत्पन्न होती है, इस श्रुति को सत्य सिद्ध कर रही है ॥ ६२ ॥

अथवा ठीक समझ गया

असौ—यह बहती हुई तथा असहनीय दाह को उत्पन्न करती हुई वायु प्राणियों की थकावट को दूर करनेवाली वायु नहीं है किन्तु जान पड़ता है।

अथ किमद्यापि दूरस्थैव प्रिया ।

विदूषक —ण इदं णिअड एव्व वालुज्जाणं । एसु खु तस्स णिअडट्ठिदो विहरणणिम्माणविअदणिअवो तुहिणअरकिरणसमेदपक्खरतचंदमणिसलिलच्छिणिज्झरधुव्वतसिसिरसीअरधूलीधूसरिअपेरतवणो पल्लविदकोमलदुव्वंकुर विव मरगअप्पलेसु पलित विद पोमराअमणिकुट्टिमेसु, उम्मिसिद विव वेलुरिअपत्थरेसु किसलइद विव पवालतडेसु दिएण विव फलिहप्फलहेसु गुच्छ विव मतिअतलेसु णिअलच्छणपहाकरविद विव महाणीलभूमिसु चदाअव दसअतो केलिरोहणो णाम कीलापव्वदओ । (ननिदं निकट एव बालोद्यानं । एष खलु तस्य निकटस्थितो विहरणनिर्माणविकटनितम्बो तुहिनकरकिरणसमेदप्रक्षरच्चन्द्रमणिसलिलनिर्झरद्धूयमानशिशिरशीकरधूलिधूसरितपर्यन्तवनः पल्लवितकोमलदूर्वाङ्कुरमिव मरकतस्थलेषु प्रदीप्तमिव पद्मरागमणिकुट्टिमेषु उन्मिषितमिव वैडूर्यप्रस्तरेषु किसलयितमिव प्रवालतटेषु दीर्णमिव स्फटिकफलकेषु गुच्छमिव मौक्तिकतलेषु निजलक्षणप्रभाकरवितमिव महानीलभूमिषु चन्द्रातपं दर्शयन् केलिरोहणो नाम क्रीडापर्वतकः ।)

कि वह अग्नि ही अपने ऊर्ध्व ज्वलन स्वभाव को छोड़ कर तिरछी चाल से चल रही है ॥ ६३ ॥

क्या अब भी प्रिया दूर ही है

विदूषक—यह बालोद्यान पास में ही है । घूमने के लिये जिस पर बड़ी बड़ी कटनियों का निर्माण किया गया है, चन्द्रमा की किरणों के सम्मिश्रण से झरते हुए चन्द्रकान्त मणि के जल सम्बन्धी सुन्दर झिरनों के उड़ते हुए ठण्डे ठण्डे जलकणों की धूलि से जिसके निकटवर्ती वन धूसरित हो रहे हैं जो मरकत मणि के प्रदेशों पर पड़ती हुई चांदनी को निकलते हुए दूर्वा के कोमल अङ्कुरों से युक्त के समान दिखलाता है, पद्मरागमणियों के फर्श पर दमकती हुई के समान दिखलाता है, नीलमणि के पत्थरों पर चमकती हुई के समान प्रकट करता है, मूगा के तटों पर नवीन कोपलों से युक्त के समान बतलाता है, स्फटिक के पटियों पर विदीर्ण हुए के समान दिखलाता है, मोतियों के फर्श पर गुच्छों से युक्त के समान बतलाता है, और इन्द्रनीलमणि की भूमियों में चन्द्रमा के कलङ्क की प्रभा से व्याप्त के

नन्द्यावर्तः—(निर्वर्ण्य) देव पश्य ।

केलिरोहणमणिस्थलोज्वमा रोहिणीपतिमरीचिपंक्तयः ।
वर्तयंति परिवर्तचित्रिताः पाकशासनशरासनं भुवि ॥ ६४ ॥

राजा—(निर्वर्ण्यसाशंकं)

अत्रसत्त्रपमकंपनात्मजा केलिकौतुकहृता किमद्य हि ।
केलिरोहणतटाधिरोहणं मत्करार्पितकरा करिष्यति ॥ ६५ ॥

गंधमालिनी—इदोवि एसा बालुज्जाणपरिसरवाहिणी अमअतरंगिणी णाम लीलादिग्घिआ । दक्ख देव दिण्णदाणपुण्णपवाहमअक्कपहुज्जला चंदअंतफलअपवहंतणिज्झरपरिमिलिअउम्मिआ उम्मिसंतकुमुदच्छपाडिच्छाअंतरिअलोआणइ उपगहणइ अमअतरंगिणी । (इतोपि एषा बालोद्यानपरिसरवाहिनी अमृततरंगिणी नाम लीलादीर्घिका पश्य देव दत्तदानपुण्यप्रवाहमयैकप्रभोज्ज्वला चंद्रकांतफलकप्रवहन्निर्झरपरिमिलितोर्मिका उन्मिषत्कुमुदेव प्रतिच्छायांतरितलोचनानि उपगृह्णाति अमृततरंगिणी ।)

समान दिखलाता है ऐसा यह केलिरोहण नामक क्रीडापर्वत उस बालोद्यान के निकट स्थित है ।

नन्द्यावर्त—(देख कर) देव ! देखो

केलिरोहण—केलिरोहण पर्वत के मणिमय प्रदेशों पर परिवर्तन से चित्र-विचित्र दिखती हुई ये चन्द्र-किरणों की पंक्तियां पृथिवी पर इन्द्रधनुष को प्रकट कर रहा हैं ॥ ६४ ॥

राजा—(देखकर आशङ्का के साथ)

अत्र—क्रीडा सम्बन्धी कौतुक से हरी हुई सुलोचना क्या आज यहां मेरे हाथ में हाथ देकर लज्जा-सहित केलिरोहण पर्वत के तट पर आरोहण करेगी ? ॥ ६५ ॥

गन्धमालिनी—इधर यह बालोद्यान के निकट बहने वाली अमृततरङ्गिणी नाम की क्रीडा की दीर्घिका* है । देखो देव ! जो दिये हुए दान के पुण्य प्रवाह की अद्वितीय प्रभा से उज्ज्वल है और जिसमें चन्द्रकान्त मणियों

---

* जल-क्रीड़ा के लिये बनाया हुआ लम्बा हौज ।

नद्यावर्त.—इतोपि दीयतां दीर्घिकापरिसरे दृष्टि. । अत्र हि—

चञ्चुदष्टवरटाः कलहंसाः सैकतावतलिमे च शयानाः ।
ज्योत्स्नयैव शनकैर्निजशाखाशायिताः पुलकयति मनांसि ॥ ६६ ॥

राजा—(निर्वर्ण्य) ।

अमृततरंगिणीनिजतरंगशितासिशतैः
शिशिरमरीचिदीधितिनिमीलितपद्मवना
सरसीरुहां द्विषमिति विदारयति प्रकटं
निपतितबिम्बमम्भसि निशाधिपतिं शतशः ॥ ६७ ॥

विदूषकः—एसो इमादो । (एष ।)

(सर्वे परिक्रामन्ति)

गंधमालिनी—एद खु महमहिअबहलबउलपरिमलवलइदसअलपमद-

के प्रदेश से बहते हुए झिरनों के कारण लहरें उत्पन्न हो रही हैं ऐसी यह अमृततरङ्गिणी प्रतिबिम्ब के कारण भीतर प्रविष्ट नेत्रों को इस प्रकार ग्रहण कर रही है मानों उसमें कुमुद ही खिल रहे हों।

नद्यावर्त—इधर भी दीर्घिका के तटपर दृष्टि दी जाय। सचमुच ही यहा—

चञ्चु—चोंच से हथियों का स्पर्श करनेवाले तथा रेतीले तट पर शयन करते हुए ये कलहंस पक्षी मनको उस तरह रोमाञ्चित कर रहे हैं मानों चांदनी ने उन्हें धीरे से अपनी शाखाओं पर ही सुला लिया हो ॥ ६६ ॥

राजा—(देखकर)

अमृत—चन्द्रमा की किरणों से जिसमें कमलवन निमीलित हो रहा है ऐसी यह अमृततरङ्गिणी नाम की दीर्घिका पानी में पड़े हुए चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को 'यह कमलों का शत्रु है' यह सोचकर ही मानों अपनी तरंग रूप-पैनी सैकड़ों तलवारों से स्पष्टतया सैकड़ों बार विदीर्ण कर रही है ॥ ६७ ॥

विदूषकः—यह इस ओर ?

(सब घूमते हैं)

गंधमालिनी—अतिशय सुगन्धित बकुल-पुष्पों को विमर्द से उत्पन्न

वणं। विश्रानुंमुहकडोरपाडलामअरंदणिम्महिअसरसगंधवंधुरं। णिब्भरविअ-लंतणोमालिआवासिददसदिसं जम्भाअंतपुण्णाअमहुरसतराणाअमारुअं अवि-रलदलंतकुमुअवणपच्छदसंछण्णसरोवरं वालुज्जाणं। (एतत्खलु सुगंधिबहल-वकुलपरिमलवलयितसकलप्रमदवनं, विकासोन्मुखकठोरपाटलामकरंदनिर्मथि-तसरसगंधवंधुरं, निर्भरविकसन्नवमालिकावासितदशदिशं जृम्भमाणपुन्नागम-धुरसार्दितमारुतं, अविरलदलत्कुमुदवनप्रच्छदसंछन्नसरोवरं बालोद्यानं।)

नन्द्यावर्तः—अहो रमणीयता बालोद्यानस्य। अत्र हि—

आसवैरनिलमार्द्रयत्यमुं चारु भासुरयतीह केसरैः।
सौरभेण सुरभीकरोत्यसौ कौमुदीषु सरसीषु कौमुदी॥ ६८॥

राजा—

वकुलतरवः सांद्रप्रोत्सर्पकौसुमसौरभाः
किमपि सुरभीकुर्वन्त्येते भ्रमद्भ्रमरं नभः।
अथ च कथयाम्येतेनक्तं दिवं प्रविकस्वरैः
चिरसुरभिभिर्गाढं कालोप्यसौ सुरभीकृतः॥ ६९॥

सुगन्धि के द्वारा जिसमें सम्पूर्ण प्रमदवन व्याप्त हो रहा है, जो विकास के सन्मुख कठोर गुलाब के मकरन्द की विमर्दोत्थित ताजी सुगन्ध से व्याप्त है जहां अत्यन्त खिले हुए नवमालिका के फूलों से दशों दिशाएं सुगन्धित हो रही हैं, जहां खिलते हुए पुन्नाग-पुष्प के मधुरस से वायु गीली हो रही है और जहां निरन्तर खिलते हुए कुमुदवनरूपी चद्दर से सरोवर आच्छादित है ऐसा यह बालोद्यान है।

नन्द्यावर्त—अहा बालोद्यान की बड़ी सुन्दरता है। सचमुच ही यहां—

आसवैं—कुमुदों के सरोवरों में यह कुमुदों का समूह अपने आसव से इस वायु को तर कर रहा है, इधर केशर से अच्छी तरह सुशोभित कर रहा है और सुगन्धि से उसे सुगन्धित कर रहा है॥ ६८॥

राजा—

वकुल—जिनके फूलों की सुगन्धि अत्यधिक मात्रा में फैल रही है ऐसे ये मौलश्री के वृक्ष मँडराते हुए भौंरों से युक्त आकाश को अनिर्वचनीय रूप से सुगन्धित कर रहे हैं और मैं तो कहता हूँ कि रात-दिन खिले हुए दीर्घ-

(अन्यतो विलोक्य) इतोपि च ।

पाटलीजरठकुड्मलरन्ध्रस्खलद्बहलसौरभलुब्धा ।
निर्भरं मधुलिहो लिहतेऽमी यूनिताननममूनि मधूनि ॥ ७० ॥

विदूषकः—भो वअस्स कुदो एदाइ णिब्भरकुसुमिदाइ पाडलाइ वण्णअसे । णिअमूलप्पलम्बपरिपक्कखलिदेहिं दोहरबाहुजुअलपरिरम्भणिअपरिणाहेहिं पसरन्तसुरभिमधुरघुराइदजीहेहिं फलसहस्सेहिं दसणिओ उववणालंकारो तुमे पणसो ण वण्णिज्जदि । (भो वयस्य कुत एतानि निर्भरकुसुमितानि पाटलानि वर्ण्यन्ते । निजमूलप्रलम्बपरिपक्वस्खलितैः दीर्घबाहुयुगलपरिरम्भणीयपरिणाहैः प्रसरत्सुरभिमधुरघुरायितजिह्वैः फलसहस्रैः दर्शनीय उपवनालंकारः त्वया पनसो न वर्ण्यते ।)

राजा—(सस्मित) इद वर्ण्यते ।

कथं पनस केवल सुमधुराणि पुष्पैर्विना
फलानि फलता त्वया फलविपाकमुक्तस्य न ।

कालव्यापी सुगन्धि से युक्त इन मौलश्री के वृक्षों के द्वारा यह काल भी सुरभि—वसन्त अथवा सुगन्धित कर दिया गया है ॥ ६९ ॥

(दूसरी ओर देखकर) इधर भी

पाटली—गुलाब की बड़ी बोंडी के छिद्र से निकलती हुई अत्यधिक सुगन्धि के लोभी ये भौंरे मुख को हिला-हिलाकर इस मधु का अच्छी तरह पान कर रहे हैं ॥ ७० ॥

विदूषक—हे मित्र ! आप अत्यन्त फूले हुए इन गुलाबों का ही वर्णन क्यों करते हैं ! उपवन के अलंकारभूत इस कटहल का वर्णन क्यों नहीं करते जो कि अपने लम्बे तने में लटके हुए, दीर्घ भुजाओं के युगल से आलिङ्गन करने योग्य विस्तार से युक्त तथा फैलती हुई मनोज्ञ-गन्ध से जीभ को सतृष्ण करनेवाले हजारों फलों से सुन्दर दिखाई दे रहा है ।

राजा—(मुस्कुरा कर) यह वर्णन किया जाता है ।

कथ—हे कटहल ! फूलों के बिना मात्र अत्यन्त मीठे फलों को फलनेवाले तुम्हारे समान वह गुलाब कैसे हो सकता है जो चलते हुए चञ्चल भौंरों के

चरघट्टुलचंचरीकचरणाहतोच्चावच-
प्रकीर्णसुमनोरजःपटलपाटलः पाटलः ॥ ७१ ॥

नन्द्यावर्तः—शोभनं सुभाषितम् ।

गंधमालिनी—इदं खु अग्गदो कोमुदीघरअं । (एतत्खलु अग्रतः कौमुदीगृहम् ।)

नन्द्यावर्तः—आर्य सौधातके अग्रतो भव देवस्य । यावदहमत्रैव प्रतिपालयन् तिष्ठामि ।

विदूषकः—तह करीअदु । (तथा करोतु ।)

गंधमालिनी—अहंपि अ इदो सहीणिओए वट्टेमि । (अहमपि च इतः सखीनियोगे वर्ते ।)

विदूषकः—तेण हि तुमं अज्जणंदावत्तस्य सहाआ होहि । (तेन हि त्वं आर्यनंद्यावर्तस्य सहाया भव ।)

(गंधमालिनी सस्मितं नद्यावर्तेन सह निष्कांता)

विदूषकः—इदो इदो पिअवअस्सो । (इत इतः प्रियवयस्यः ।)

(परिक्रामतः)

चरणों से ताड़ित होकर ऊँचे-नीचे बिखरे हुए फूलों की पराग के समूह से लाल-लाल तो है परन्तु फल उत्पन्न करने में चुप है ॥ ७१ ॥

नन्द्यावर्त—अच्छी उक्ति है ।

गन्धमालिनी—यह आगे कौमुदीगृह है ।

नन्द्यावर्त—आर्य सौधातकि ! तुम महाराज के आगे होओ जब तक मैं यहीं प्रतीक्षा करता बैठता हूँ ।

विदूषक—वैसा कीजिये ?

गंधमालिनी—मैं भी सखी की आज्ञा में नियुक्त हूँ ।

विदूषक—तो तुम आर्य नन्द्यावर्त की सहायक हो जाओ ।

(गन्धमालिनी मुस्क्याती हुई नन्द्यावर्त के साथ बाहर निकल गई)

विदूषक—इधर-इधर प्रिय मित्र !

(दोनों घूमते हैं)

(ततः प्रविशति सुलोचना नवमालिका च)

सुलोचना—सहि णोमालिए सच्चं एव्व तुए दिट्ठो अक्खदसरीरो अज्जउत्तो। (सखि नवमालिके सत्यमेव त्वया दृष्ट अक्षतशरीरः आर्यपुत्र ।)

नवमालिका—सहि कीस सकेसि ण खु सो तारिसो तदो एव्व सअंवर-कलहभीदाए मइ हत्थे तुह दिण्णो भट्टिणा संदेसो। जह (संस्कृतमवलम्ब्य)। (सखि कस्मात् शङ्कसे न खलु स तादृशः तत एव स्वयंवरकलहभीतायाः मम हस्ते तव दत्तो भर्त्रा सन्देशः । यथा ।)

द्वित्रा घटीर्गमय मां प्रतिपालयन्ती
कः कौरवं युधि पुमानभियोक्तुमीष्टे ।
तच्चारुहासिनि मनागपि नाम शङ्का
मा भूदकम्पनसुवासिनि मत्कृते ते ॥ ७२ ॥

सुलोचना—कहिदं एव्व तुए किंतु समस्सासमेत्तकंति मए ण विस्स-सिदं। (कथितं एव त्वया । किं तु समाश्वासमात्रकमिति मया न विश्वसितम्)

नवमालिका—जइ ण विस्ससिसि एसिंह एव्व सअं दट्ठूण तं विस्स-सेहि। (यदि न विश्वसिषि इदानीं स्वयमेव दृष्ट्वा तं विश्वस ।)

(तदनन्तर सुलोचना और नवमालिका प्रवेश करती हैं)

सुलोचना—सखि ! नवमालिके ! क्या सचमुच ही तूने चोट रहित शरीर से युक्त आर्यपुत्र को देखा है ?

नवमालिका—सखि ! क्यों शंका करती हो ? सचमुच ही वह वैसे नहीं हैं इसीलिये तो स्वयंवर की कलह से डरी हुई मेरे हाथ भर्ता ने तुम्हारे लिये संदेश दिया था।

द्वित्रा—मेरी प्रतीक्षा करती हुई दो तीन घड़ी व्यतीत करो, ऐसा कौन पुरुष है जो युद्ध में कौरव का सामना करने के लिये समर्थ हो सके। इस-लिये हे सुन्दर हास्य से युक्त अकम्पन की पुत्रि ! मेरे लिये तुम्हें कुछ भी शंका नहीं होनी चाहिये ॥ ७२ ॥

सुलोचना—तुमने कहा तो था किन्तु यह सान्त्वनामात्र है यह समझ कर मैंने विश्वास नहीं किया था।

नवमालिका—यदि तब नहीं विश्वास किया तो अब स्वयं ही देखकर विश्वास कर लो।

सुलोचना—सहि णोमालिए जइ सच्चं एव अज्जउत्तो इद आअमिस्सदि कहं किर अग्गदो तस्स चिट्ठेमि। (सखि नवमालिके यदि सत्यमेवार्यपुत्र इत आगमिष्यति कथं किल अग्रतः तस्य तिष्ठामि।)

नवमालिका—अदिउज्जुए किं इमाए ण कदाइ अवसाणं लज्जाए। (अतिऋजिव किमस्याः न कदाचिदवसानं लज्जायाः।)

सुलोचना—तेण हि एसा परितेजेमि लज्जं तुमं पुण तस्सिं आअदे अग्गदो भविअ मं अंतरेहि। (तेन हि एषा परित्यजामि लज्जां त्वं पुनः तस्मिन् आगते अग्रतो भूत्वा मां अंतरय।)

नवमालिका—(सस्मितं) अंतरेमि जइ तुमं णिगलं देसि। (अंतरयामि यदि त्वं निगलं ददासि।)

सुलाचना—सहि कीस उवहसेसि। एसा अहं तुहिणका ण देमि तुह उत्तरं। (सखि कस्मादुपहससि एषा अहं तूष्णीका न ददामि तवोत्तरम्।)

नवमालिका—जइ ण मए जप्पसि तेण एव्व वाहिता भणाहि। (यदि न मया जल्पसि तेनैव व्याहृता भणस्व।)

सुलोचना—हला किं मए तस्स अग्गदो जप्पिदव्वंपि। (सखि किं मया तस्याग्रतो जल्पितव्यमपि।)

सुलोचना—सखि नवमालिके! यदि सचमुच ही आर्यपुत्र यहां आ जावेंगे तो उनके आगे कैसे खड़ी रह सकूंगी?

नवमालिका—बड़ी भोली है, क्या इस लज्जा का कभी अवसान नहीं होगा?

सुलोचना—तो यह मैं लज्जा को छोड़ती हूँ किन्तु उनके आने पर तुम आगे होकर मुझे छिपा लेना।

नवमालिका—(मुस्क्याकर) छिपा लूंगी यदि तुम मुझे उपहार दोगी।

सुलोचना—सखि! क्यों मेरी हँसी करती हो? लो मैं चुप हूँ तुम्हारे लिये उत्तर नहीं देती।

नवमालिका—यदि मेरे साथ नहीं बोलती हो तो उन्हीं के बोलने पर बोलना।

सुलोचना—सखि! मुझे उनके आगे क्या कहना होगा?

नवमालिका—णहि णहि जहागद वाहुडिअ गतव्व। (नहि नहि यथागत व्याहृत्य गन्तव्यम्।)

सुलोचना—तेण हि एहि गच्छामि। (तेन हि एहि गच्छामि।)

नवमालिका—हिअएण भणाहि। (हृदयेन भणस्व।)

सुलोचना—(सेर्ष्यं) सहि भएमि तुए सह खणपि अरिदुं। (सखि बिभेमि त्वया सह क्षणमपि आसितुं।)

नवमालिका—मा भआहि सो एव्व दे सहाओ भविस्सदि। (मा बिभीहि स एव ते सहायो भविष्यति।)

विदूषक—एद कोमुदीघरअ। एसा अ तहिं पविट्ठा णोमालिआए सह कासीराअउत्ति। (एतत्कौमुदीगृह एषा च तस्मिन् प्रविष्टा नवमालिकया सह काशीराजपुत्री।)

राजा—(दृष्ट्वा सोत्कठ)।

उत्कठानां बीज मनोरथाना परिभ्रमस्थालम्।
हृदयस्य समुच्छ्वसिन तदिद मम सपदि सन्निहितम्॥ ७३॥

नवमालिका—नहीं नहीं, जैसा तुमने कहा था वैसा ही चला जाना चाहिये।

सुलोचना—तो आओ चलूं।

नवमालिका—हृदय से कहो।

सुलोचना—(ईर्ष्या के साथ) सखि! तुम्हारे साथ क्षण भर भी ठहरने के लिये डरती हूँ।

नवमालिका—नहीं डरो, वही तुम्हारे सहायक हो जावेंगे।

विदूषक—यह कौमुदीगृह है और यह काशीराज की पुत्री, नवमालिका के साथ उसमें प्रवेश कर चुकी है।

राजा—(उत्कण्ठा के साथ देखकर)

उत्कण्ठाना—उत्कण्ठाओं का बीज, मनोरथों के घूमने का स्थान और मेरे हृदय की समीचीन सास स्वरूप यह सुलोचना शीघ्र ही समीप आनेवाली है॥ ७३॥

वयस्य यावदस्यानेव वकुलपादपच्छायायां वर्तमानाः स्वैरालापमस्याः शृणुमः ।

विदूषकः--जं वग्रस्सस्स रोग्रदि। (यद्वयस्याय रोचते।)

(तथा कुरुतः)

सुलोचना—असमंजसभासिणी एसा ग्रहं तुह पासादो गच्छामि। (असमंजसभाषिणि एषा अहं तव पार्श्वतो गच्छामि।)

(कतिचित्पदानि गच्छति)

नवमालिका—एसा उण अहं ण णिवारेमि सो एव्व आग्रदुग्र तुमं णिवोरदु। (एषा पुनरहं न निवारयामि स एवागत्य त्वा निवारयतु।)

राजा—सखे अयमवसरः यावदुपसर्पावः।)

(उपसर्पतः)

नवमालिका—(दृष्ट्वा) भट्ट एसा खु पिग्रसही चिराइदं तुम्हेहिंति कुविदा णिग्गच्छेदि। ता णिवारीग्रदु। (भर्तः एषा खलु प्रियसखी चिरायितं युष्माभिरिति कुपिता निर्गच्छति। तां निवारयतु)

सुलोचना—(सलज्जं सहर्षं च) अम्हो अज्जउत्तो। (अहो आर्यपुत्रः।)

मित्र ! जबतक इसी बकुल वृक्ष की छाया में खड़े रहकर इसके स्वतन्त्र वार्तालाप को सुनें।

विदूषक—जो मित्र के लिये अच्छा लगे।

(वैसा ही करते हैं)

सुलोचना—तुम असंगत बोलती हो इसलिये मैं तुम्हारे पाससे जाती हूँ।

(कुछ कदम जाती है)

नवमालिका—यह नहीं रोकती वे ही आकर तुम्हें रोकें।

राजा—मित्र ! यह अवसर है, जबतक पास चलें।

(दोनों पास जाते हैं)

नवमालिका—(देखकर) भर्ता ! तुमने देर की इसलिये यह प्रिय सखी कुपित होकर जा रही है अतः रोक लीजिये।

सुलोचना—(लज्जा और हर्ष के साथ) अहा, आर्यपुत्र हैं !

राज—सरले कृत कुपितेन। (हस्ते गृह्णाति)

(सुलोचना सलज्ज मोचयितुमिच्छति)

विदूषक.—कह वअस्सेण गहिद वि हत्थ मोएदु इच्छसि। इमस्स उण त्वाहुसार तुम्हाण विअ तुए जामातुणो अक्ककित्तिणो हत्था पुच्छिअदु। (कथ वयस्येन गृहीतमपि हस्त मोचयितुमिच्छसि। अस्य पुनर्बाहुसार युष्माकमिव त्वया जामातु अर्ककीर्तेः हस्तौ पृच्छ्येताम्।)

राजा—अयि मुग्धे कुतो हस्तमाक्षिपसि। कृत व्रीडितेन।

इय परिम्लानमृणालकोमला तवाङ्गयष्टिर्भृशमद्य ताम्यति।

तदेव लज्जाव्यसन विमुञ्चती ममावलम्बस्व कर नितम्बिनि ॥७४॥

विदूषक —लद्ध मणोरहाण फल वअस्सेण अ अत्तहोदीए अ मए उण एक्केण एत्तिअमि मुट्ठट्ठमिट्ठफले वणे एक वि फल ण लद्ध। (लब्ध मनोरथाना फल वयस्येन च अत्रभवत्या च मया पुनरेकेन एतावन्मात्रे मृष्टमृष्टफले उपवने एकमपि फल न लब्ध।

नवमालिका—(सस्मित) अरे बह्मबन्धुअ किंपि तुव फललालसचवलो मक्कडजादि। (अरे ब्रह्मबन्धुक किमसि त्व फललालसचपलो मर्कटजाति ।)

राजा—भोली ! क्रोध करना व्यर्थ है (हाथ से पकड़ लेता है)

(सुलोचना लज्जा-सहित छुड़ाना चाहती है)

विदूषक—क्या मित्र के द्वारा पकड़े हुए हाथ को छुड़ाना चाहती हैं। इनकी भुजाओं के बल को अपने जामाता अर्ककीर्ति के हाथों से पूछो।

राजा—अयि भोली ! क्यों हाथ झटकती हो ? लज्जा करना व्यर्थ है।

इयं—मुरझाई हुई मृणाल के समान कोमल यह तुम्हारी शरीरयष्टि इस समय अत्यन्त खिन्न हो रही है इसलिये हे प्रिये ! लज्जा की आदत को छोड़ती हुई मेरे हाथ का सहारा ग्रहण करो ॥ ७४ ॥

विदूषक—मित्र ने तथा आपने मनोरथों का फल पा लिया किन्तु एक मैंने इतने अधिक मिष्ठ फलों से युक्त वन में एक भी फल प्राप्त नहीं किया।

नवमालिका—(मुस्कया कर) अरे अधम ब्राह्मण ! क्या तुम फल की इच्छा से चपल वानर की जाति के हो ?

विदूषकः—(सरोषम्) दाभीए दूए किं मं अदिक्खिवसि खलकुट्टिणी एस गच्छेमि तुज्झ पासादो [इति सत्वरं गच्छति] (दास्याः दूति किं मामधिक्षिपसि खलकुट्टिनी एप गच्छामि तव पार्श्वतः ।)

नवमालिका—(सत्वरमनुगच्छंती) अज्ज मा कुप्पा एसा तुमं पणवेमि । (आर्य मा कुपः एषा त्वां प्रणमामि ।)

(निष्क्रांता)

सुलोचना—पिअसहि भएमि अहं इह एक्काइणी अत्थिदुं । (प्रियसखि बिभेमि अहं इह एकाकिनी आसितुम् ।)

राजा—अयि कातरे किमियमेव ते सखी ।

अविरतमहं सेवे रंभोरु विद्यत एव मे
तव चरणयोः श्रांतौ संवाहनेषु विदग्धता ।
सपदि शिरसा श्लाघ्यामाज्ञां वहामि नियोज्यतां
प्रियसखि ममाप्यार्द्रं सख्यं प्रतीच्छ कृतोऽञ्जलिः ॥ ७५ ॥

विदूषक—(क्रोध के साथ) दासीपुत्री ! क्या मुझे गाली देती है ! नीचकुटिटनी कहीं की, ले मैं तेरे पास से चला (यह कहकर जल्दी से जाता है)

नवमालिका—(शीघ्र ही पीछे जाती हुई) आर्य ! कुपित न होओ, यह मैं तुम्हें प्रणाम करती हूं ।

(बाहर निकल गई)

सुलोचना—प्रिय सखि ! मैं यहां अकेली ठहरने के लिये डरती हूं ।

राजा—अयि भीरु ! क्या यही तेरी सखी है !

अविरत—हे केले के स्तम्भ के समान स्थूल जांघों वाली प्रिये ! मैं निरन्तर तुम्हारी सेवा करता हूं तुम्हारे चरणों में थकावट आनेपर दाबने की चतुराई मुझमें भी है, तुम्हारी प्रशस्त आज्ञा को शीघ्र ही शिर से धारण करता हूँ, आज्ञा दो । हे प्रियसखि ! मेरी भी सरस मित्रता स्वीकृत करो, मैं हाथ जोड़ता हूं ॥ ७५ ॥

(सुलोचना लज्जां नाटयति)

राजा—प्रिये किमिदानीमपि लज्जितव्य ।

(चिबुकमस्या उन्नमयन्)

समुच्छ्वसत्कैरवकोमलत्विषोर्ददातु मोद तव चन्द्रिकामृतम् ।
इद दृशोरद्य चकोरलोचने चकोरयूथप्रियकापिशायनम् ॥ ७६ ॥

(सुलोचना सलज्ज मुख नमयति)

राजा—

लब्ध किल प्रियसखी तव दुर्विमोच-
मिष्ट मया त्वमपि मुच मुहूर्तमेनाम् ।
रम्भोरु देहि परिरम्भसुख सकृन्मे
तिष्ठतु तावदपरे तु मनोरथा न ॥ ७७ ॥

(नेपथ्ये)

सहि णोमालिए णोमालिए समाखएथो खु भट्टिदारिआए रदणमालाए

(सुलोचना लज्जा प्रकट करती है)

राजा—प्रिये ! क्या इस समय भी लज्जा करना चाहिये ?

(इसकी ठोडी को ऊपर उठाता हुआ)

समुच्छ्वसत्—हे चकोरलोचने ! चकोरों के झुण्ड के लिये प्रिय पेय यह चांदनीरूपी अमृत, खिले हुए कुमुदों के समान कोमल कान्तिवाले तुम्हारे नेत्रों को इस समय हर्ष प्रदान करे ॥ ७६ ॥

(सुलोचना लज्जा-सहित मुख नीचा कर लेती है)

राजा—

लब्ध—मैंने प्रियसखी-रूप इष्ट को प्राप्त कर लिया, वह इष्ट जो कि तुम्हारे लिये दुर्विमोच्य है। अब तुम भी मुहूर्तभर के लिये इस लज्जा को छोड़ो। हे रम्भोरु ! मेरे अन्य मनोरथ दूर रहें कम से कम एक बार आलिङ्गन-सम्बन्धी सुख मुझे देओ ॥ ७७ ॥

(परदा के भीतर)

सखी नवमालिके ! नवमालिके ! राजपुत्री रत्नमाला का कौतुकबन्ध-

कोदुअवंधमुहुत्तो ता सिग्घं भट्टदारिअं आणेहि। (सखि नवमालिके नवमालिके समासन्नः खलु भर्तृदारिकायाः रत्नमालायाः कौतुकवंधमुहूर्तः तस्माच्छीघ्रं भर्तृदारिकामानय।)

(प्रविश्य विदूषकेण सह नवमालिका)

नवमालिका—सहि एसा हु सरलिआ रदणमालाकोदुअवंधदंसणत्थं अम्हे सद्दावेदि। (सखि एषा खलु सरलिका रत्नमालाकौतुकवंधदर्शनार्थं अस्मान् शब्दापयति।)

सुलोचना—वच्छाए रदणमालाए कोदुअवधो वट्टदित्ति आपीदं कण्णरसाअणं। (वत्साया रत्नमालायाः कौतुकवंधो वर्तते इति आपीतं कर्णरसायनं।)

नवमालिका—अण्णेसदि अ तुवं महादेवो पहावदी ता इदो सिग्गं एहि। (अन्वेषयति च त्वां महादेवी प्रभावती तस्मादितः शीघ्रमेहि।)

सुलोचना—(आत्मगतं) कहं गंतव्वं। (कथं गंतव्यं।)

नवमालिका—भट्ट दाणि गंतव्वं पिअसहीए अज्ज मुंचेहि कल्लं एव्व णं तुम्हाणं कोदुअवंधो। (भर्तः इदानीं गंतव्यं प्रियसख्या अद्य मुंच काल्य एव ननु युवयोः कौतुकवंधः।)

पाणिग्रहण संस्कार का मुहूर्त निकट है इसलिये राजपुत्री सुलोचना को शीघ्र लाओ।

(विदूषक के साथ नवमालिका प्रवेश कर)

नवमालिका—सखि! यह सरलिका रत्नमाला का कौतुकवन्ध देखने के लिये हमलोगों को बुला रही है।

सुलोचना—वत्सा रत्नमाला का कौतुकवन्ध हो रहा है यह कानों के लिये रसायन के समान आनन्द देनेवाला समाचार सुना।

नवमालिका—और महादेवो प्रभावती तुम्हें खोज रही हैं इसलिये इधर शीघ्र आओ।

सुलोचना—(अपने मन में) कैसे जाया जावे!

नवमालिका—भर्ता! इस समय प्रियसखी को जाना है इसलिये आज छोड़िये तुम दोनों का कौतुक-वन्ध कल होगा।

विदूषकः—(सहर्षं मुहं परिमृज्य) कह कल्ल एव्व महवि सत्थिवाअणअ भविस्सदि । (कथ काल्य एव ममापि स्वस्तिवाचनक भविष्यति ।)

राजा—भद्रे कान्या गति । तथास्तु ।

(निष्क्रांता सुलोचना नवमालिका च)

राजा—(सविषाद) अहो अमहनता दैवस्य ।

न वाग्भि. श्राव्याभि. श्रवणयुगमाराधितमिद
न वक्षश्चाश्लेषैर्निबिडितकुचै. प्रीणितमभूत् ।
न सौहित्य वाञ्छाप्यधरमधुपानेन गमिता
गता चासौ तूष्णीमहह सहसा हसगमना ॥ ७८ ॥

विदूषकः—भो वअस्स कल्ल एव्व तुह्माणपि कोदुअबधो । ता किंति दाणिं अत्ताण दूमेसि । (भो वयस्य काल्यमेव युवयोरपि कौतुकबधः तस्मात् किमिदानीं आत्मान धूमयसि ।)

राजा—अहो कातरता हृदयस्य । तथाहि—

विदूषक—(हर्ष के साथ मुँह पोंछकर) क्या मेरा भी स्वस्तिवाचन कल ही होगा ?

राजा—भद्रे ! और क्या उपाय है ? ऐसा हो

(सुलोचना और नवमालिका निकल गई)

राजा—(खेद के साथ) अहा दैव की बड़ी असहनशीलता है ।

न वाग्भि.—मनोहारी वचनों से न तो इस कर्णयुगल की आराधना की जा सकी, न स्तनों को सान्द्र करनेवाले आलिङ्गनों से वक्षःस्थल को सतुष्ट किया जा सका और न अधर के मधुपान द्वारा इच्छा भी तृप्ति को प्राप्त कराई जा सकी किन्तु खेद है कि वह हसगमना चुपचाप शीघ्र चली गई ॥ ७८ ॥

विदूषक—हे मित्र ! तुम्हारा भी भी कौतुक-बन्ध कल ही है फिर इस समय अपने आप को दु.खी क्यों कर रहे हो ?

राजा—अहा हृदय की बड़ी कायरता है । क्योंकि,

श्व एव नः कौतुकबंध इत्यमुं निशम्य वृत्तांतमिदं तु मे मनः।
प्रियावियोगव्यथमानमंतरे दृढं पुनः कौतुकबंधमृच्छति ॥७९॥

(संतापमभिनीय) कथं प्रियाविघटनलब्धप्रसरः प्रतनोत्येव यथापुरं रजनीचरतिग्मांशुं निशीथिनीनाथः। अथवा किमत्र दाक्षिण्येन।

त्वमसि शिशिररश्मिः सन्निधौ शीतलांग्या
यदि तदपगमे त्वं दर्शयेरद्य शैत्यम्।
अपि शशधर सत्यं दर्शयिष्यामि तीक्ष्णौ
शिरसि तव शशस्य द्वौ विषाणौ विशंकम् ॥ ८० ॥

विदूषकः—(आत्मगतं) अहो दुष्पारपसराइ कामुअजणस्स आआसपरिदेविआइ। (अहो दुष्पारप्रसराणि कामुकजनस्य आकाशपरिदेवितानि।)

राजा—अये प्रचुरप्रतिपक्षसंक्षुण्णा प्रवासिनां प्रवृत्तिः।

कुतः।

क्षपानाथः सत्वं क्षपयति करैरुल्मुकखरै-
र्वसंतः संतापं प्रगुणयति संतर्ज्य शिशिरम्।

श्व एव—हमारा कौतुक-बन्ध कल ही है इस वृत्तान्त को सुनकर मेरा यह मन प्रिया के वियोग से दुखी होता हुआ बीच में ही मजबूत कौतुक-बन्ध को प्राप्त हो रहा है ॥ ७९ ॥

(संताप का अभिनय कर) क्या प्रिया के विछोह से जिसे पुनः अवसर प्राप्त हो गया है ऐसा चन्द्रमा पहले के समान रात्रि में चलनेवाले सूर्य को विस्तृत करने लगा है? अथवा यहां सरलता से क्या लाभ है?

त्वमसि—हे शशधर! तुम उस शीतलाङ्गी-सुलोचना के समीप ही शीतांशु हो यदि उसके चले जाने पर भी तुम आज शीतलता दिखा सको तो मैं निःसन्देह तुम्हारे शश के शिर पर दो पैने सींग दिखला दूंगा ॥८०॥

विदूषक—(अपने मन में) अहा, कामीजनों के आकाश-परिदेवन—निरुद्देश्य प्रलापों की कोई सीमा नहीं।

राजा—अये, प्रवासी मनुष्यों की प्रवृत्ति अनेक बाधकों से खण्डित है। क्योंकि—

क्षपानाथः—चन्द्रमा लूगर के समान गर्म किरणों के द्वारा धैर्य को नष्ट

घमामोदाल्लिङ्गश्वसितमथ नैव श्वसनतः
स्मरः प्रत्याख्यातो विरहिमनसां घस्मर इति ॥ ८१ ॥

विदूषकः—(विलोक्य) वअस्स समासण्णो पच्चूसो । ता इदो गच्छेम्ह । (वयस्य समासन्नः प्रत्यूषः । तस्मादितः गच्छाव ।)

राजा—(विभाव्य) कथं विभातप्राया विभावरी ।

तथाहि—

चकोरैर्ज्योत्स्नाम्भः कियदपि निपीतं परिपतत्
पुटेष्वम्भोजानां कियदपि निरुद्धं निमिषताम् ।
वियोगार्ते कोके कियदपि गतं पक्षविधुतं
विशुष्कं सन्तप्तास्वथ तनुषु शिष्टं विरहिणाम् ॥ ८२ ॥

सखे क्वेदानीं नन्द्यावर्तः ।

(नेपथ्ये)

इत इतो देव ।

कर रहा है, वसन्त शिशिर को चौंध दिखाकर सताप को बढ़ा रहा है तथा विरही मनुष्यों के मन को नष्ट करनेवाला काम अतिशय सुगन्धित वायु से श्वास को प्राप्त करता हुआ निराकृत नहीं हो रहा है ॥ ८१ ॥

विदूषक—(देखकर) मित्र ! प्रभात हो गया इसलिये शीघ्र चलें ।

राजा—(विचार कर) क्या रात्रि प्राय प्रभात रूप हो गई !

क्योंकि—

चकोरैः—चारो ओर पड़ता हुआ कितना ही चादनीरूपी जल चकोरों के द्वारा पी लिया गया, कितना ही बन्द होनेवाले कमलों के पुटों में भीतर रुक गया, कितना ही वियोग से पीड़ित चकवों के द्वारा उनके पखों की फड़फड़ाहट से कम्पित होकर नष्ट हो गया और जो कुछ बाकी बचा वह विरही मनुष्यों के शरीर पर पड़कर सूख गया ॥ ८२ ॥

मित्र ! इस समय नन्द्यावर्त कहाँ है ?

(परदा के भीतर)

यहा यहा से पधारिये देव !

राजा—(परिक्रामन् विलोक्य)

अयं च किंचित्प्रविसार्य पक्षं
क्षपांतवातक्षणलब्धबोधः ।
सरोजिनीसैकततल्पशायी
हंसीं समाश्लिष्यति राजहंसः ॥ ८३ ॥

(अन्यतोऽवलोक्य)

इयं च रात्रौ विरहव्यथार्ता
कथंचिदासाद्य पतिं निशांते ।
तं सव्यलीकं किल मन्यमाना
मुग्धा मुधा रुष्यति चक्रवाकी ॥ ८४ ॥

इतश्च ।

तिमिरनिकरशत्रोस्त्रस्नवः पद्मबंधो-
श्शरणमिव समेतास्सद्मपद्मोदराणि ।

(घूमते हुए देखकर)

राजा—

अयं च—प्रातःकाल की वायु से जिसे क्षण भर में जागरण प्राप्त हुआ है। ऐसा कमलिनियों से उपलक्षित तटरूपी तल्प पर शयन करनेवाला यह राजहंस कुछ-कुछ पंख फैलाकर हंसी का आलिङ्गन कर रहा है ॥ ८३ ॥

(दूसरी ओर देखकर)

इयं च—रात्रि में विरह की पीड़ा से पीड़ित यह भोली चकवी प्रातः-काल के समय किसी तरह पति को पाकर उसे अपराधी मानती हुई व्यर्थ ही क्रोध कर रही है ॥ ८४ ॥

और इस ओर,

तिमिर—अन्धकार-समूह के शत्रु सूर्य से डरकर जो भ्रमररूपी अन्धकार

भ्रमरतिमिरकंदा प्रोन्मिषद्भ्योऽम्बुजेभ्यः ।
सकरुणमिव मुक्ता सांप्रतं निपतति ॥ ८५ ॥

(निष्क्रान्ता सर्वे)

इति श्रीहस्तिमल्लेन विरचिते सुलोचनानाटके सकेतगृह नाम पंचमोऽङ्कः समाप्तः ॥ ५ ॥

के बीज शरण की तरह कमलरूपी घरों के भीतर जा इकट्ठे हुए थे अब वे खिलते हुए कमलों से दयापूर्वक छोड़े के समान बाहर निकल रहे हैं ॥८५॥

(सब बाहर निकल गये)

इस प्रकार श्रीहस्तिमल्ल कवि के द्वारा विरचित सुलोचना-नाटक में सकेतगृह नाम का पांचवां अङ्क समाप्त हुआ ॥ ५ ॥



षष्ठोऽङ्कः

(ततः प्रविशति प्रतीहारः ।)

प्रतीहारः—सुविहितं भोः प्रतिभावता काशीपतिना । येन—

तैस्तैश्च समुदाचारैः सुसत्कारपुरस्सरैः ।
न परं मोचितो बंधात् पौरवो दुर्ग्रहादपि ॥ १ ॥

किंच ।

अनुपमगुणगुर्वीं रत्नमालां प्रदाय
प्रथमतरममुष्मै सत्कृतिप्रीणिताय ।
भरतपतिरनेन स्वैरमाराधितोऽभूत्
स्वकुलमपि गरिम्णाऽयोजि संबंधसारात् ॥ २ ॥

अपिच ।

जयश्रियो वीक्षणविभ्रमांजनं द्विषां च कृष्णीकरणं यशःश्रियः ।
मदांबु भूयः क्षरतां महीपतिः सहस्रमस्मै करिणामदान्मुदा ॥ ३ ॥

(तदनन्तर प्रतीहार प्रवेश करता है)

प्रतीहार—प्रतिभाशाली काशीराज ने बहुत अच्छा किया । जिसने कि

तैस्तैश्च—उत्तम सत्कार से युक्त उन शिष्टाचारों के द्वारा अर्ककीर्ति को न केवल बन्धन से छुड़ा दिया किन्तु दुराग्रह से भी छुड़ा दिया ॥ १ ॥

और,

अनुपम—सत्कार से संतुष्ट हुए इसके लिये सबसे पहले अनुपम गुणों से युक्त रत्नमाला नाम की पुत्री को देकर इसने भरतेश्वर की अच्छी तरह आराधना की और श्रेष्ठ सम्बन्ध के कारण अपने कुल को भी गौरव से युक्त किया ॥ २ ॥

और भी,

जयश्रियो—राजा अकम्पन ने इसके लिये हर्ष-पूर्वक वे हजार हाथी

किंच ।

> अत्याजितत्वरितयानजितश्रमाणां
> दत्तानि पंचशतकानि करेणुकानाम् ।
> अष्टौ शतानि कलभा शुभलक्षणाढ्या-
> श्चत्वारि सत्वरसलीलगताश्च चिक्काः ॥ ४ ॥

अपिच ।

> श्लाघ्यावर्ता पंचधाराभियुक्ता
> सत्त्वोद्रिक्ता' काशिराजेन दत्ताः ।
> प्रांशुच्छायाः षोडशास्मै सहस्रा-
> ण्याजानेया वाजिनश्चाभिजाताः ॥ ५ ॥

ततश्च ।

> हृदयंगमामनर्घां स रत्नमालामवाप्य चारुगुणाम् ।
> अमनुत भरताच्चतुर्दशरत्नेशादधिकमात्मानम् ॥ ६ ॥

भी प्रदान किये हैं जो विजयलक्ष्मी के नेत्रों की शोभा बढ़ानेवाले अञ्जन हैं, शत्रुओं की यशरूपी लक्ष्मी को मलिन करनेवाले हैं तथा बहुत भारी मदजल को झराते रहते हैं ॥ ३ ॥

और,

अत्याजित—अङ्गीकृत शीघ्र गमन से परिश्रम को जीतनेवाली पांच सौ हथिनियां, शुभ लक्षणों से युक्त आठ सौ हाथियों के बच्चे तथा शीघ्रता से युक्त लीला पूर्वक गमन करनेवाले चार सौ विशिष्ट हाथी प्रदान किये हैं ॥४॥

और,

श्लाघ्या—जो प्रशंसनीय आवर्तों से युक्त हैं, पांच प्रकार की धाराओं गतिविशेषों से युक्त हैं, शक्ति से परिपूर्ण हैं, अत्यन्त ऊंचे हैं, कुलीन एवं मनोहर हैं ऐसे सोलह हजार घोड़े भी काशीराज ने इसके लिये दिये हैं ॥५॥

इसलिये,

हृदयंगमा—हृदय को प्रिय, अमूल्य एवं सुन्दर गुणों से युक्त रत्नमाला को पाकर वह अर्ककीर्ति अपने आपको चौदह रत्नों के स्वामी भरत से भी कहीं अधिक मानता है ॥ ६ ॥

प्रवृत्तं चेदं जगते हिताय रत्नमालाप्रदानं काशीराजस्य।

अत्र हि—

दत्त्वा किमिच्छकमनेन चिरप्रदानं
दौर्गत्यजातमखिलं जगतो निरस्तम्।
दौर्गत्यमीदृशमभूत् सुहिते तु लोके
यन्नार्थिनः क्वचिदपि द्रविणेन लब्धाः ॥ ७ ॥

इत्थं च निष्कांतारिभूतायां कार्यपदव्यामद्य पुनः काशीराजः सुलोचनां प्रदित्सति कौरवेश्वराय। आज्ञप्तं च युवराजहेमांगदेन, आर्य महेंद्रदत्त अद्य खलु वत्सायाः परिणयनम्। तदिदानीं प्रवर्त्यतां सिद्धायतनेषु महामहः। प्रगुणीक्रियतां च सकलमन्यत् संविधानकमिति। मया च यथाशक्ति सर्वमनुष्ठितं यावदिदानीं युवराजाय निवेदयामि।

(ततः प्रविशति हेमांगदः)

हेमांगदः—अहो कीर्त्यनुरूपं चेष्टितमपि मेघेश्वरस्य। बाढमिहास्ति न

और काशीराज का यह रत्नमाला का दान जगत् के हित के लिये हुआ।

सचमुच ही यहां

दत्त्वा—काशीराज ने चिरकाल तक किमिच्छक दान देकर जगत् से समस्त दारिद्रय को दूर हटा दिया है। समस्त जगत् के संतुष्ट होनेपर दरिद्रता का हाल यह है कि कहीं भी धन के द्वारा याचक नहीं मिलते हैं ॥ ७ ॥

इस प्रकार कार्य का मार्ग निष्कण्टक होनेपर आज काशीराज कौरवेश्वर के लिये सुलोचना प्रदान करना चाहते हैं। युवराज हेमाङ्गद ने आज्ञा दी है कि आर्य महेन्द्रदत्त! आज वत्सा सुलोचना का पाणिग्रहण है इसलिये मन्दिरों में महामह-विशिष्ट पूजा प्रारम्भ की जावे और बाकी सब तैयारियां ठीक की जावें। मैंने भी आज्ञानुसार सब कर लिया है इसलिये इससमय युवराज के लिये खबर देता हूं।

(तदनन्तर हेमाङ्गद प्रवेश करता है)

हेमाङ्गद—अहा, कौरवेश्वर की चेष्टा भी कीर्ति के अनुरूप है। यह ठीक है कि लोक में उनके समान पराक्रमी दूसरा नहीं है। जिसने बहुत

सदृशो हास्तिनपतिना पराक्रमी लोके। येनापवाहितोऽसौ भरतसुतो दर्पगुरुभरित। मेघेश्वराय सुलोचनाप्रदानादपि श्लाघ्यं चक्रवर्तिसुताय रत्नमालाप्रदानम्।

तथा हि—

चक्रीकृतं येन जये सुराणां चापं न पृथ्व्याः श्वशुरस्स चक्री।
भद्रागुणै श्लाघ्यतमै सुभद्रा श्वश्रूश्च विद्याधरलोकभारा॥ ८॥

प्रतीहारः—(उपसृत्य) जयतु युवराज।

हेमांगद—अपि वर्तितमनुष्ठितम्।

प्रतीहारः—सर्वं यथानियोगमनुष्ठितम्।

हेमाङ्गदः—किंच किंच।

प्रतीहारः—

पञ्चोपचारचतुराः परमेश्वरस्य
कुर्वन्ति सर्वजगदभ्युदयाय पूजाम्।
स्तोत्राणि कल्मषहराणि पठन्ति भव्याः
समय च स्तुतिविशेषविदोऽद्य भव्याः॥ ९॥

भारी गर्व से भरे हुए अर्ककीर्ति को यों ही पराजित कर दिया। कौरवेश्वर के लिये सुलोचना के देने की अपेक्षा चक्रवर्ती के पुत्र भरत के लिये रत्नमाला का देना और भी अधिक प्रशंसनीय है।

क्योंकि,

चक्रीकृत—जिसे देवों की विजय में धनुष को गोल नहीं करना पड़ा वह पृथिवी का चक्रवर्ती उसका श्वशुर है और अतिशय प्रशंसनीय गुणों से श्रेष्ठ एवं विद्याधर लोक की सारभूत सुभद्रा उसकी सास है॥ ८॥

प्रतीहार—(पास जाकर) जय हो युवराज की!

हेमाङ्गद—क्या करने योग्य कार्य पूर्ण किया जा चुका?

प्रतीहार—आज्ञानुसार सब पूर्ण हो गया।

हेमाङ्गद—क्या क्या?

प्रतीहार—अभिषेक, स्थापन, पूजन, शान्ति और विसर्जन इन पांच

हेमांगदः—सर्वं शुभोदर्कं भगवदभ्यर्हणपुरःसरतया।

प्रतीहारः—इदं चेदानीम्—

प्रलंबलंबूषविभूषितांतैर्मुदा वितानैरवदातशोभम्।
हिरण्मयस्तंभविटंकनद्धप्रकीर्णकं राजति राजवेश्म ॥ १० ॥

इतश्च समततः संचरत्पर्युत्सुकपुरजनसंकुलमंकुरयति कौतुकं राजकुलम्।

अत्र हि—

सरसवकुलमालाकेसराक्लिष्टदष्टैः
कुचकलशविलेपैर्घ्राणमुन्मादयंति।
मदनमदवदान्या मारुताः कामिनीनां
विगलदलकचूर्णोदीर्णरोमांचरम्याः ॥ ११ ॥

इतश्च पुनरासामावर्तमानानि स्वदंते।

प्रकार के उपचारों में निपुण भव्यजीव सर्वजगत् के कल्याण के लिये श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा कर रहे हैं तथा स्तुतियों के विशेषज्ञ भव्य जीव एकत्रित होकर अत्यधिक मात्रा में पापहारी स्तोत्रों का पाठ कर रहे हैं ।। ९ ॥

हेमाङ्गद—भगवान् जिनेन्द्र की पूजा के साथ होने से सब अच्छे परिणाम से युक्त होगा।

प्रतीहार—यह इस समय,

प्रलम्ब—लम्बे-लम्बे फन्नूसों से सुशोभित हर्षवर्धक चँदोवों से जिसकी शोभा उज्ज्वल हो रही है तथा जिसमें सुवर्णमय खम्भों के अग्रभाग में चमर बँध रहे हैं। ऐसा यह राजभवन अतिशय सुशोभित हो रहा है ॥ १० ॥

और इधर सब ओर चलते हुए उत्सुक नागरिकों से व्याप्त राजमन्दिर कौतुक उत्पन्न कर रहा है।

सचमुच ही यहां—

सरस—काम के मद को बढ़ानेवाली तथा स्त्रियों के गिरते हुए केशों के अग्रभाग-सम्बन्धी चूर्ण से प्रकट रोमाञ्चों से सुन्दर वायु मौलश्री की ताजी मालाओं की केशर से व्याप्त स्तन कलश के लेप से नासिका को उन्मत्त कर रही हैं ॥ ११ ॥

और इधर इन स्त्रियों की बार-बार होनेवाली चेष्टाएं रुचिकर हो रही हैं।

विकसितहसिताशुशीतलानि
प्रतिहसितोच्छ्वसितस्तनाचितानि ।
कलमधुरवचांसि चेष्टितानि
प्रमदसलीलकृतोपगूहनानि ॥ १२ ॥

इतश्च दीयतां चक्षु ।

स्रस्तोत्तरीयसिचयोन्मिषतस्तनश्री
पश्य स्तनाशाऽऽनिया परिभुग्नवक्षा ।
मूर्च्छत्सुखाशुचयसंवलिता करेण
हारप्रभामसकृदाचिपतीह मुग्धा ॥ १३ ॥

हेमांगद—(विलोक्य) तदिदमलङ्क्रियते व्रीडित विभ्रमेण ।

प्रतीहार—इतोपि—

पश्य प्रयाती मणिकुट्टिमेऽस्मिन्नत्यसौ केसरदाममृद्वी ।
पुष्पोपहारस्खलनासहानि सीत्कारसिक्तानि शनैः पदानि ॥ १४ ॥

विकसित—जो प्रकट हुए हास की किरणों से शीतल हैं, बदले के हास्य से ऊपर की ओर उठते हुए स्तनों से सुशोभित हैं जिनमें अव्यक्त मधुर शब्द हो रहा है तथा हर्ष और लीलापूर्वक जिनमें आलिङ्गन किया गया है देखो ये स्त्रियों की चेष्टाएँ बहुत ही अधिक अच्छी जान पड़ती हैं ॥ १२ ॥

जरा इधर दृष्टि डालिये ।

स्रस्तोत्तरीय—उत्तरीय वस्त्र के खिसक जाने से जिसके स्तनों की शोभा उभड़ पड़ी है तथा जिसका वक्षःस्थल कुछ-कुछ नीचे की ओर झुका हुआ है ऐसी यह भोली स्त्री फैलती हुई नख की किरणों के समूह से व्याप्त हार की प्रभा को स्तन-वस्त्र समझ कर बार-बार खींच रही है ॥ १३ ॥

हेमाङ्गद—(देखकर) यह ललना हावभाव से सुशोभित हो रही है ।

प्रतीहार—इस ओर भी देखिये,

पश्य—देखो, मणिमय फर्श पर चलती तथा केशर की माला से भी कहीं अधिक सुकुमार यह स्त्री फूलों के उपहार में होनेवाले स्खलन को सहन नहीं करते हुए सी सी शब्द से युक्त कदम धीरे-धीरे रख रही है ॥ १४ ॥

हेमांगदः—(विलोक्य) अहो श्लाघ्यता सौकुमार्यस्य।

प्रतीहारः—इतोपि पश्य।

विलोक्य नीलाश्मतले विलोचने विनम्रगात्रा प्रतिबिंबिते पुरः।
विवर्तपाठीनयुगाभिशंकया निवर्तयत्यन्यत आकुलं पदम् ॥ १५ ॥

हेमांगदः—(विलोक्य) कमनीयेयं कातरा।

प्रतीहारः—इतोपि दृश्यताम्।

आमोदलोलुपमसो भ्रमरं पतंतं
व्याधुन्वती प्रियसखीकबरीनिवेशात्।
भग्नेष्वथैनमलकेष्वसमीक्ष्य लीन-
माकाश एव दृशमाकुलयत्यलक्ष्याम् ॥ १६ ॥

हेमांगदः—(विलोक्य) अहो चारुता विभ्रमस्य।

प्रतीहारः—इतोपि पश्य।

हेमाङ्गद—(देखकर) अहा, सुकुमारता की प्रशंसनीयता है।

प्रतीहार—इधर भी देखिये,

विलोक्य—जिसका शरीर कुछ-कुछ झुका हुआ है ऐसी यह स्त्री नीलमणि के फर्स पर आगे प्रतिबिम्बित अपने दोनों नेत्रों को देखकर 'यह चञ्चल मछलियों का जोड़ा है' इस आशंका से घबड़ा कर अपने पर को दूसरी ओर मोड़ रही है ॥ १५ ॥

हेमाङ्गद—यह भीरु स्त्री बड़ी सुन्दर है!

प्रतीहार—इधर भी देखिये,

आमोद—यह स्त्री बार-बार पड़ते हुए सुगन्ध के लोभी भ्रमर को प्रियसखी के केशपाश से दूर भगा रही है उसकी इस क्रिया से प्रियसखी का केशपाश खुलकर बिखर जाता है और भ्रमर उसी में छिप जाता है उस छिपे हुए भ्रमर को न देख यह अपनी लक्ष्यहीन दृष्टि आकाश में ही घुमा रही है ॥ १६ ॥

हेमाङ्गद—(देखकर) अहा विभ्रम की बड़ी सुन्दरता है।

प्रतीहार—इधर भी देखिये,

सुनिर्मलस्फाटिकभित्तिलग्नां छायां निजां वीक्ष्य सखीति बुद्ध्वा ।
मुग्धा परिष्वज्य मुदा विलक्षस्मितेन सिंचत्यधरोष्ठमेका ॥ १७ ॥

हेमाङ्गदः—(विलोक्य) सेयं सीमा मौग्ध्यस्य ।

प्रतीहारः—इदं च विलोक्यताम् ।

सख्याः कपोलफलके मुकुरावदाते
संवीक्ष्य कापि निजमाननमायताक्षी ।
चूर्णालकान्प्रगुणयत्यपकीर्णचूर्णान्
कर्णावतंसकुसुमं च विशेषकं च ॥ १८ ॥

(नेपथ्ये, कलकलानन्तरम्)

वैतालिकौ—विजयतां हास्तिनाधिपतिः ।

प्रथमः—

क्षरद्धारापूरक्षपितसुरवीथीपरिसरा
रयापातभ्रश्यद्भरतपृतनानादरभसा ।

सुनिर्मल—यह एक भोली-भाली स्त्री अत्यन्त निर्मल स्फटिक की दीवाल पर पड़ती हुई अपनी छाया को देखकर 'यह सखी है' ऐसा समझ हर्ष से आलिङ्गन करती है परन्तु पीछे लज्जाजन्य मुस्क्यान से अपने अधरोष्ठ को सींच रही है ॥ १७ ॥

हेमाङ्गद—(देखकर) यह तो भोलेपन की सीमा है

प्रतीहार—यह भी देखिये

सख्या —यह बड़ी-बड़ी आंखों वाली कोई स्त्री दर्पण के समान निर्मल सखी के कपोलतट पर अपना मुख देख जिनसे चूर्ण गिर गया था ऐसे अलकों को, कर्णफूल को तथा तिलक को ठीक कर रही है ॥ १८ ॥

(परदा के भीतर कलकल शब्द के बाद वैतालिक प्रवेश करते हैं)

वैतालिक—हस्तिनापुर के अधिपति जयवन्त हों ।

प्रथम वैतालिक—

क्षरद्धारा—पड़ती हुई धाराओं के पूर से जिन्होंने आकाश के विस्तार को नष्ट कर दिया था तथा वेगपूर्ण आक्रमण से जिन्होंने भरत की सेना के कलकल-सम्बन्धी वेग को नष्ट कर दिया था ऐसे मेघों को जिसने बाणों के

हुता येनांभोदाः शिखिनि विशिखांतोत्थितशिखे
शिखारत्नं पुंसां स जयति जयः कौरवपतिः ॥ १६ ॥

द्वितीयः—

हताः कौलूताद्याः खरसमरसंमर्दमृदिताः
स्थिरारूढग्रंथिर्भरतसुतमानोऽप्यपहृतः ।
यशो येन स्वच्छं मुहुरुपहृतं सीमसु दिशां
सुदुर्वारो धीरः कुरुकुलकुमारो विजयते ॥ २० ॥

हेमांगदः—किमेतत् ।

प्रतीहारः—युवराज सोऽयमाक्लृप्तकौतुकस्य प्रवेशः कौरवेश्वरस्य । (अग्रतो निर्दिश्य) युवराज इतः समाराधय चक्षुषी ।

लक्ष्मीविलासमणिदर्पणसंनिभेन
राकामृगांकशुचिनातपवारणेन ।
आभाति सातिशयमात्मयशःप्रतान-
शुभ्रेण चामरयुगेन च कौरवेन्द्रः ॥ २१ ॥

अन्तभाग से उत्पन्न ज्वाला से युक्त अग्नि में होम दिया था वह मनुष्यों का शिरोमणि कौरवेश्वर जयकुमार जयवन्त है ॥ १९ ॥

द्वितीय वैतालिक—

हताः—जिसने तीक्ष्ण युद्ध के संमर्द से मीड़े हुए कौलूत आदि को नष्ट कर दिया है, जिसने बहुत मजबूती से जमे हुए अर्ककीर्ति के अहंकार को दूर कर दिया है तथा जिसने अपना स्वच्छ यश दिशाओं की सीमाओं पर बार-बार भेजा है वह अजेय धीर वीर कौरवेश्वर जयवन्त है ॥ २० ॥

(दोनों सुनते हैं)

हेमांगद—यह क्या है ?

प्रतीहार—युवराज ! यह विवाह-सम्बन्धी नेपथ्य से युक्त कौरवेश्वर का प्रवेश हो रहा है । (आगे देखकर) युवराज ! इधर नेत्रों को संतुष्ट करो ।

लक्ष्मी—यह कौरवेश्वर लक्ष्मी के विलास-सम्बन्धी मणिमयदर्पण के समान तथा पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान उज्ज्वल छत्र से तथा अपने यशः-समूह के समान शुक्ल दो चामरों से अत्यधिक सुशोभित हो रहा है ॥ २१ ॥

यश्च—

आनाभिलम्बितरलप्रतिबंधशोभी
प्रत्युप्तमौक्तिकहिरण्मयकर्णपत्रः।
अच्छिन्नचन्दनसमालभनावभासी
देहप्रभाकवलिताभरणप्रभो यः॥ २२॥

हेमांगदः—(विलोक्य) अहो औदार्यमाहार्यस्य। आर्य गच्छामस्तात-पादान्तिकम्।

प्रतीहारः—इत इतो युवराजः।

(परिक्रम्य निष्क्रान्तौ)

शुद्धविष्कम्भः।

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो राजा सह नन्द्यावर्तविशारदाभ्याम्)

राजा—(सौत्सुक्य आत्मगतं) अहो रमणीयविषमता नववधूविभ्रमस्य।

और

आनाभि—जो नाभिपर्यन्त लटकते हुए मध्यमणि से युक्त हार से सुशोभित है, जिसका स्वर्णमय कर्णाभरण मोतियों से जटित है, जो निरन्तर लगे हुए चन्दन के लेप से सुशोभित है तथा शरीर की कान्ति से जिसने आभूषणों की प्रभा को दबा दिया है ऐसा कौरवेश्वर सुशोभित हो रहा है॥ २२॥

हेमांगद—अहा आभूषणों की उत्कृष्टता है। आर्य! अब हम पिता जी के चरणों के समीप चलते हैं।

प्रतीहार—इधर-इधर युवराज।

(घूमकर दोनों निकल गये)

शुद्धविष्कम्भ

(तदनन्तर ऊपर बताये हुए वेष से युक्त राजा नन्द्यावर्त और विशारद के साथ प्रवेश करता है)

राजा—(उत्कण्ठा के साथ अपने मन से) अहा नई बहू की विषमता बहुत रमणीय है।

यत्र हि—

करस्पर्शोद्भिन्नैः पुलकमुकुलैः स्वेदसरसैः
पारव्यक्तिः प्रेम्णः प्रणयपरिणामाद्विकसिता।
न दृष्टैस्तिर्यग्भिर्न खलु परिरंभैरमृदुभिः
न संजल्पैः स्निग्धैर्न च वदनचंद्रैरुपहृतैः ॥ २३ ॥

इदं च तत्र मोहनमुत्सुकायमानस्य मनसः। यदुत।

वचः किंचिद्वक्त्रादभिलपति निर्गन्तुमसकृत्
स्फुरन्नंतर्लग्नस्थितितदधरोष्ठः स्फुटयति।
यतेते रज्यन्त्यौ न खलु न दृशौ द्रष्टुमपि न-
त्रपा ते रुन्धाना चलयति कुतोपि स्वसहना ॥ २४ ॥

किं च तत्र वर्ण्यते।

प्रत्यालिंगनतोपि यत्र सुखदौ स्रस्तावमुक्तौ करौ
वक्त्रेन्दोरपहार एव सरसो यत्रोपहारादपि।

सचमुच ही जिसमें,

करस्पर्शो—प्रणय के परिपाक से विकसित प्रेम की प्रकटता हाथ के स्पर्श से उद्भूत एवं पसीना से सरस रोमाञ्च के अङ्कुरों से प्रकट होती है तिरछी चितवनों, गाढ़ आलिङ्गनों, स्नेहसिक्त वार्तालापों और समर्पित मुखचन्द्रों से नहीं होती ॥ २३ ॥

और नई वधू के विभ्रमों में उत्कण्ठित मन के लिये यह बात सबसे अधिक मोहित करनेवाली है। बल्कि,

वचः—यद्यपि कुछ वचन मुख से बाहर निकलने की बार-बार इच्छा करता है परन्तु वह मुख के भीतर ही लग कर रह जाता है, फड़कता हुआ ओठ इस बात को प्रकट करता है। अनुराग से भरे नेत्र हमें देखने के लिये यद्यपि यत्न करते हैं परन्तु असहनशील लज्जा उन्हें रोककर किसी दूसरी ओर चला देती है ॥ २४ ॥

उसका कुछ और वर्णन किया जाता है।

प्रत्यालिङ्गनतोऽपि—जिसमें ढीले छोड़े हुए हाथ प्रत्यालिङ्गन की अपेक्षा अधिक सुखदायी जान पड़ते हैं, जिसमें समर्पण की अपेक्षा मुख-

यत्र स्वादुरुदचतोपि वचसो निश्वास एवाकुलः
सोऽय प्राणसमासमागमरस प्राथम्यरम्यक्रम ॥ २५ ॥

नन्द्यावर्तः—इत इतो देव ।

(परिक्रामति)

विशारद.—सखे नन्द्यावर्त पश्य देवदर्शनलालसस्य पर्युत्सुकता विलासिनीलोकस्य ।

अत्र हि—

अन्योन्यस्य स्थातुकामा पुरस्ताद् दृष्ट्वा दृष्ट्वा देवमात्मन्यतृप्ता ।
सख्यै सख्यै सादर दर्शयन्त्य स्वैरं रुध्य द्वाररन्ध्र पुरन्ध्र ॥ २६ ॥

अपि चासाम् ।

विकस्वरस्मेरकपोलपालीन्यमूनि यूना नयनामृतानि ।
विभाति विस्फारितवीक्षितानि मुखानि मुग्धायतलोचनानि ॥२७॥

चन्द्र का दूर हटा लेना ही सरस मालूम होता है, और जिसमें 'बोलू वा न बोलू' इस प्रकार की आकुलता से युक्त विश्वास ही प्रकट होनेवाले वचन की अपेक्षा मनोहर हैं ऐसा यह प्रिया का प्रथम मिलन है ॥ २५ ॥

नन्द्यावर्त—इधर-इधर महाराज ।

(घूमते हैं)

विशारद—मित्र नन्द्यावर्त ! महाराज के दर्शन के लिये उत्सुक स्त्री-जनों की उत्कण्ठा देखो ।

सचमुच ही यहां,

अन्योऽन्यस्य—स्त्रियां एक दूसरे के आगे खड़ी होना चाहती हैं, महाराज को देख देखकर अपने आप में असन्तुष्ट हो प्रत्येक सखी के लिये बड़े आदर के साथ दिखला रही हैं, और अच्छी तरह द्वार के छिद्र को रोककर खड़ी हुई हैं ॥ २६ ॥

और इन स्त्रियों के,

विकस्वर—जिनमें कपोल प्रकट मुस्कान से खिल रहे हैं, जो युवाओं के नेत्रों के लिये अमृत-स्वरूप हैं, जिनकी चितवनें अत्यन्त विस्तृत हैं तथा जिनमें सुन्दर और लम्बे नेत्र हैं ऐसे मुख सुशोभित हो रहे हैं ॥ २७ ॥

नन्द्यावर्तः—(विलोक्य) अहो अतिशयिता दर्शनौत्सुक्यस्य ।

न भ्रष्टं कर्णपूरं न चलनपतितं हेमताटंकपत्रं
न स्रस्तं केशहस्तं न गलितकलनं रत्नकाञ्चीकलापम् ।
न त्रुटयन्तं च हारं गणयति सुरतव्यत्ययोन्मादितेव
स्त्रीसंसत्संपतंती झपदि कुरुपतिं द्रष्टुमुत्कंठमाना ॥ २८ ॥

विशारदः—सखे इतोऽपि पश्य ।

मंजीरशिंजितरसानुगतैरियं च
संसव्यमानचरणा गृहकेलिहंसैः ।
देवावलोकनसमुत्सुकचित्तवृत्तिः
स्थातुं न पारयति न त्वरयाभियातुम् ॥ २९ ॥

नन्द्यावर्तः—(विलोक्य) कथमायासिता तुलाकोटिभ्यां हंसगामिनी ।

विशारदः—सखे इतः पश्यापरं प्रेक्षणीयम् ।

नन्द्यावर्त—(देखकर) अहा दर्शन की बड़ी उत्सुकता है ।

न भ्रष्टं—कुरुपति को देखने के लिये उत्कण्ठित होकर सब ओर से शीघ्रता के साथ आती हुई स्त्रियों की सन्तति संभोग के व्यत्यय (पुरुषायित क्रिया) से उन्मादित की तरह न तो गिरे हुए कर्णाभरण को गिन रही है, न पैरों में पड़े हुए स्वर्णमय कर्णाभरण को कुछ समझ रही है, न खुले हुए केशपाश को देख रही है, न चुप होकर पड़ी हुई करधनी को गिन रही है, और न टूटते हुए हार की ओर देख रही है ॥ २८ ॥

विशारद—मित्र ! इधर भी तो देखो ।

मञ्जीर—नूपुरों की झनकार के स्नेह से पीछे पड़े हुए घर के क्रीडा-हंस जिसके चरणों में आकर लग गये हैं तथा महाराज के दर्शन के लिये जिसकी चित्त-वृत्ति अत्यन्त उत्कण्ठित हो रही है ऐसी यह एक स्त्री न तो खड़ी रहने के लिये समर्थ है और न शीघ्रता से आगे जाने के लिये समर्थ है ॥ २९ ॥

नन्द्यावर्त—(देखकर) क्या यह हंसगामिनी नूपुरों के द्वारा दुःखी की जा रही है ।

विशारद—मित्र ! इधर यह दूसरी दर्शनीय बात देखिये ।

अनया हि—

त्यज्यते सपदि साभ्यसूयया पीवरस्तनभरावनुम्नया।
कौतुकत्वरितयानुपातिता मेखला पदयुगस्य शृङ्खला ॥ ३० ॥

नन्द्यावर्त —(विलोक्य) कथं विमनस्का वराका।

विशारदः—सखे इतोपि दृश्यताम्।

असावसस्ते चिकुरनिचये व्यापृतकरा
विमूढेवाक्षेपु विगतमय सव्यानवसनम्।
विनिश्वासायस्तस्तनतटलुठन्मौक्तिकसरा
जवा भ्यायाता जनयति दृशा कामपि धृतिम् ॥३१॥

नन्द्यावर्त —(विलोक्य) अहो चारुता चेष्टितस्य।

विशारदः—इतोप्येता,—

व्यामिश्रान् कलमाक्षतैरविकलैर्व्याविद्धसिद्धार्थका-
नाशीर्व्याहृतिपेशला कलगिर. प्रोयसखांशुज्वलान्।

सचमुच ही,

त्यज्यते—जो ईर्ष्या से युक्त है, स्थूल स्तनों के भार से जो झुकी हुई तथा कौतुक के कारण जो शीघ्रता से सहित है ऐसी यह स्त्री गिरकर साकल की तरह पैरों में लगी मेखला को शीघ्रता से छोड़ रही है ॥ ३० ॥

नन्द्यावर्त—(देखकर) बेचारी उदास हो गई।

विशारद—मित्र ! इधर भी देखिये !

असा—कन्धों पर लटके हुए केशपाश की समाल में हाथ उलझ रहे हैं, खिसकी हुई चुनरी को समेटने की जिसे सुध नहीं है तथा श्वास की अधिकता से खिन्न स्तनों के तट पर जिसका मोतियों का हार बार-बार ऊंचा नीचा हो रहा है, ऐसी वेग से आई हुई स्त्री नेत्रों के लिये अद्भुत आनन्द उत्पन्न कर रही है ॥ ३१ ॥

नन्द्यावर्त—(देखकर) अहा चेष्टा की बड़ी सुन्दरता है।

विशारद—इधर भी,

व्यामिश्रान्—आशिष भरे वचनों के कहने में निपुण ये मधुरभाषिणी

लोलद्भिर्नयनांचलैः शबलितान् पत्युः कुरूणां तनौ
लाजानां विकिरंति कोमलहरिद्दूर्वांचितानंजलीन् ॥ ३२ ॥

(अग्रतो निर्दिश्य) देव पश्य पश्य ।

अवनिपतिपरीतामास्थितो भद्रपीठीं
मनुनिगदितपष्ठोपासकस्थाननिष्ठः ।
समुदितपरिवारस्त्वां प्रतीक्ष्यायमास्ते
प्रणयिजनसनाथः सादरं काशिनाथः ॥ ३३ ॥

राजा—(विलोक्य)

गांभीर्यस्यांभसां राशिं प्रश्रयस्य प्रतिश्रयम् ।
महानुभावमेनं मे तातवत्पश्यतो दृशौ ॥ ३४ ॥

विशारदः—अहो महानुभावता महाराजस्य ।

क्षत्रांकुरेण कुरुणा हरिणा मघोना-
प्येनं पुरा सह निवेशितमभ्यर्पिंचत् ।

स्त्रियां धान के अखण्ड चावलों से युक्त, पीले सरसों से मिली, निकलती हुई नख की किरणों से उज्ज्वल, चञ्चल चितवनों से चित्रित तथा हरी-हरी कोमल दूर्वाओं से सुशोभित लाई की अञ्जलियां कुरुपति के शरीर पर बिखेर रही हैं—वर्षा रही हैं ॥ ३२ ॥

(आगे देखकर) देव ! देखो देखो,

अवनि—जो राजाओं से वेष्टित उत्तम आसन पर बैठे हुए हैं, भगवान् वृषभदेव के द्वारा कथित श्रावक की छठी प्रतिमा में स्थित हैं, जिनका परिवार अत्यन्त प्रसन्न है, तथा जो प्रेमी जनों से सहित हैं ऐसे काशीराज—महाराज अकम्पन आदर के साथ आपकी प्रतीक्षा करते हुये विराजमान हैं ॥ ३३ ॥

राजा—(देखकर)

गांभीर्य—गम्भीरता के सागर और विनय के आधार इन महानुभाव को मेरे नेत्र पिता की तरह देखते हैं ॥ ३४ ॥

विशारद—अहा, महाराज का बड़ा प्रभाव है ।

क्षत्राङ्कुरेण—युग के आदिपुरुष भगवान् वृषभदेव ने स्वयं प्रसन्न

प्रीतो युगादिपुरुषः स्वकराम्बुजाभ्या-
मावर्जितैः कनककुम्भभृतैः पयोभिः ॥ ३८ ॥

नन्द्यावर्तः—एष रत्नमण्डपस्य पादफलकमार्गः । तदवधार्य दीयतामित्र पादो देवेन ।

(राजा उभाभ्यां दत्तहस्तो यथोचितं परिक्रामति)

विशारदः—अहो नु खलु भास्वरकार्तस्वरघनखचितमसृणकुट्टिमस्य समीचीनचीनपट्टसछन्नजाम्बूनदस्तम्भसहस्रसम्भृतस्य समुल्लसद्दुकूलाञ्चपल्लवितरुचिरचन्द्रोपलकस्य मन्दमारुतविधूयमानचन्दनमालाञ्चितमणितोरणकनककिङ्किणी मुखरितमुखस्य मुखविनिहितविकचनारिकेरकुसुमगुच्छमसितशातकुम्भकुम्भशतोपशोभितस्य नातिप्रौढविरूढमङ्गलधान्याङ्कुरनिकरमञ्जरितरत्नपालिकापालिकदलितस्य सुविभक्तमुक्तागुणप्रभमणिप्रतिरङ्गितपताकिकापङ्क्तिरिङ्खितस्य सविशेषदर्शनीयता रत्नमण्डपस्य ।

होकर क्षत्रिय वर्ण के अङ्कुर स्वरूप कुरु, हरि और मघवा के साथ बैठाये हुए इनका अपने कर-कमलों के द्वारा गृहीत स्वर्ण कमलों में स्थित जल के द्वारा अभिषेक किया था ॥ ३८ ॥

नन्द्यावर्त—यह रत्नमण्डप की सीढ़ियों का मार्ग है इसलिये इधर आप सावधानी से पैर दीजिये—कदम बढ़ाइये ।

(नन्द्यावर्त और विशारद जिनके हाथ पकड़े हुए हैं
ऐसे राजा कुरुराज यथायोग्य घूमते हैं)

विशारद—अहा, जिसका फर्श देदीप्यमान सुवर्ण से खचित होने के कारण अत्यन्त चिकना है, जो उत्कृष्ट रेशमी वस्त्रों से आच्छादित सुवर्णमय हजारों खम्भों से परिपूर्ण है, जिसका चँदोवा लहलहाती लाल झालर से सुशोभित है, मन्द मन्द वायु से हिलती हुई चन्दनमाला से सुशोभित मणिमय तोरणों में लगी छोटी छोटी घण्टियों से जिसका अग्रभाग शब्दायमान हो रहा है, मुख पर रखे हुए विकसित नारियल के फूलों के गुच्छों से युक्त सुवर्णमय सैकड़ों कलशों से जो सुशोभित है, धान्य के हरे-हरे मांगलिक अङ्कुरों के समूह से सुशोभित रत्नमय कपालों से जो अलङ्कृत है और जो यथास्थान

नन्द्यावर्तः—(निर्वर्ण्य) अपि चात्र ।
हैयंगवीनाहुतिगंधपूतः कालागुरूणां गुरुरेप धूपः ।
वासेन नासैकरसायनेन व्यालिपतीवाद्य निलिंपमार्गम् ॥ ३६ ॥

(ततः प्रविशति उपविष्टः सपरिवारो महाराजः प्रतीहारश्च)

राजा—

सकलमखिलतत्त्वोद्बोधनं तत्त्वमाद्यं
हतनिखिलविकल्पं निष्कलं तत्त्वमंत्यम् ।
तदधिगमसकामा योगिनश्चारु तेपां
चरितमिति चतुष्कं मंगलं नः कृपीष्ट ॥ ३७ ॥

प्रतीहारः—(अग्रतोऽवलोक्य) महाराज पश्य पश्य । प्रत्यग्रकौतुकबंध-बंधुरनेपथ्यः प्रत्यासीदति परिणयनवेदिकां सोमप्रभसूनुः ।

लगाई हुई मोतियों की मालाओं तथा तरह-तरह की पत्ररचना से सुशोभित पताकाओं की पंक्ति से युक्त है ऐसे रत्नमण्डप की बड़ी सुन्दरता है ।

नन्द्यावर्त—(देखकर) और यहां,

हैयंगवीन—ताजे घी की आहुति की गन्ध से पवित्र यह कृष्णागुरु का बहुत भारी धूमनासिका के लिये प्रमुख रसायन स्वरूप सुगन्ध के द्वारा इस समय मानों आकाश को लिप्त ही कर रहा है ॥ ३६ ॥

(तदनन्तर परिवार-सहित बैठे हुए महाराज
अकम्पन और प्रतीहार प्रवेश करते हैं)

राजा—

सकल—समस्त तत्वों को प्रकट करनेवाले परमौदारिक शरीर-सहित आद्यतत्त्व—अर्हन्त, समस्त विकल्पों को नष्ट करनेवाले शरीर-रहित अन्तिम तत्व—सिद्ध, उनकी प्राप्ति की इच्छा करनेवाले साधु और उनका उत्तम चरित—केवलि-प्रणीत धर्म,ये चारों पदार्थ हमलोगों का मङ्गल करें ।।३७।।

प्रतीहार—(आगे देखकर) महाराज ! देखिये देखिये । नवीन कौतुक बन्धन-कङ्कण-बन्धन से जिसका वेप बहुत सुन्दर जान पड़ता है ऐसा यह सोमप्रभ का पुत्र-जयकुमार विवाह-वेदी के निकट आ रहा है ।

य एष,—

नवमलयजचर्चासक्तसिद्धशोषा
विशदशदकशोभी शुभदम्भोरुहाक्षः ।
मदनिभृतगजेन्द्रोदारखेलप्रयातो
जनयति जनताया नेत्रकौतूहलानि ॥ ३८ ॥

महाराज—(विलोक्य निर्वर्ण्य च) अहो पैतृकमनुसरति कुमारः ।

तथाहि ।

आत्मा वै पुत्रनामेत्यनुभवपदवीमश्नुतेऽसौ श्रुतिर्न.
कौरव्यं भव्यमग्रे यदनुकृतिकृतावर्तनं पश्यतो मे ।
तारुण्ये वर्तमानो वयसि शमनिधिर्निर्विशङ्कं वयस्य-
स्साक्षात्सोमप्रभोऽसाविति मतिरधुना मन्यते धन्यमेनम् ॥३९॥

जो कि यह,

नवमलयज—जो नवीन चन्दन की चर्चा में लगे हुए माङ्गलिक अक्षतों से शुक्ल तिलक से सुशोभित है, जिसके नेत्र कमलों के समान सुशोभित हैं तथा जिसकी चाल मदोन्मत्त गजराज की चाल के समान उत्कृष्ट क्रीडा से युक्त है ऐसा यह सोमप्रभ का पुत्र जयकुमार जनता के नेत्रों में कौतूहल उत्पन्न कर रहा है ॥ ३८ ॥

महाराज—(देखकर तथा वर्णन कर) अहा कुमार अपने पैतृक आचार का अनुसरण कर रहा है ।

क्योंकि,

आत्मा—'आत्मा वै पुत्रनामा'—आत्मा ही पुत्र नाम को प्राप्त होता है यह श्रुति आज हमारे अनुभव के मार्ग को प्राप्त हो रही है क्योंकि आगे विद्यमान तथा पिता का अनुकरण करनेवाले भव्य भाग्यशाली इस कुरुपुत्र—जयकुमार को देखते हुए मेरी बुद्धि ऐसा मान रही है कि निःसन्देह तरुण अवस्था में वर्तमान शान्ति का भण्डार यह मेरा मित्र साक्षात् सोमप्रभ ही है ॥ ३९ ॥

नन्द्यावर्तविशारदौ—एष महाराजः यावदुपसर्पामः (उपसर्पन्ति)। जयतु महाराजः।

राजा—एष कौरव्यो जयः पूज्यपादानभिवादयते।

महाराजः—वत्स चिरं जीव।

प्रतीहारः—विजयतां कौरवेश्वरः।

महाराजः—भो महेन्द्रदत्त किमिदमिदानीं प्रतीक्ष्यते।

प्रतीहारः—महाराज सर्वं सज्जम्। पश्य—

पठति सूक्तानि सदर्भसंस्तरप्रणीतहव्याशननव्यवेदयः।
श्रमी यथासूत्रहुतानलत्रयास्त्रयीविशुद्धाः प्रथमे द्विजन्मनाम् ॥ ४० ॥

अपि च—

शुभग्रहाधिष्टितकेन्द्रशोभितं तृतीयषष्ठायगतेतरग्रहम्।
वदंति जामित्रविशुद्धिमत्तनुं मुहूर्तमह्नाय मुहूर्तकोविदाः ॥ ४१ ॥

नन्द्यावर्त और विशारद—ये महाराज अकम्पन हैं, हम इनके समीप चलते हैं (सब उसके समीप जाते हैं) जय हो महाराज की।

राजा—यह कुरुराज का पुत्र जय पूज्य चरणों को प्रणाम करता है।

महाराज—बेटा! चिरकाल तक जीवित रहो?

प्रतीहार—कौरवेश्वर की जय हो,

महाराज—हे महेन्द्रदत्त! अब किसकी प्रतीक्षा की जा रही है।

प्रतीहार—महाराज सब तैयार है। देखिये,

पठन्ति—जिन्होंने डाभ के आसनों पर बैठकर नवीन-वेदिकाओं में अग्नि को प्रज्वलित किया है, जिन्होंने शास्त्र के अनुसार गार्हपत्य, दाक्षिणात्य और आहवनीय इन तीन अग्नियों में होम किया है तथा जो त्रयी—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र से विशुद्ध हैं ऐसे श्रेष्ठ ब्राह्मण सूक्तियों-मङ्गलमय वचनों का पाठ कर रहे हैं ॥ ४० ॥

और भी,

शुभग्रहा—जो शुभग्रहों से युक्त केन्द्र—लग्न-चन्द्र के मध्यगत चार स्थानों से सुशोभित हैं, जिसमें पाप ग्रह तीसरे छठें और ग्यारहवें स्थान में

अपि च।

समुच्चरत्तूर्यनिनादसान्द्रं प्रासादकुञ्जप्रतिशब्दमन्त्रम्।
शब्दान्तराण्यन्तरयत्यमीषामुद्घोषणं मङ्गलपाठकानाम्॥ ४२॥

इतोऽपि।

गृहीतमाङ्गल्यमनोज्ञमण्डनामिहानयत्याननिताननानुजाम्।
प्रमोदपारिप्लवमञ्जुजल्पितः सखीजनः संप्रति भर्तृदारिकाम्॥४३॥

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टा सुलोचना नवमालिका च)

नवमालिका—इदो इदो पिअसही। (इत इत प्रियसखी।)

(यथोचितं परिक्रामतः)

राजा—(आत्मगतं) कथं प्राप्तैव प्रिया।

(व्यपदेशं विलोक्य औत्सुक्यमात्मगतं)।

यावन्नैव विशेषमेति परितः कण्ठं प्रदिग्धश्चलत्ः

स्थित हैं तथा जो अभिमत—लग्न-नक्षत्र से चतुर्थ नक्षत्र की विशुद्धि से युक्त है ऐसा मुहूर्त निकट है, यह मुहूर्त के विद्वान् कहते हैं॥ ४१॥

और भी,

समुच्चरत्—जो उच्चरित होते हुए तुरही के शब्दों से सान्द्र हैं तथा जिनके मन्त्रों की प्रतिध्वनि महलों में गूंज रही हैं ऐसा इन मङ्गल-पाठकों का यह जोरदार शब्द अन्य शब्दों को अन्तरित कर रहा है॥ ४२॥

इस ओर भी,

गृहीत—आनन्द से चपल एवं मनोहर वचन बोलनेवाली सखियां इस समय मङ्गलमय मनोहर आभूषणों को धारण करनेवाली नम्रमुखी राजपुत्री को यहां ला रही हैं॥ ४३॥

(तदनन्तर ऊपर कहे अनुसार सुलोचना और नवमालिका प्रवेश करती है)

नवमालिका—इधर-इधर प्रियसखी!

(यथायोग्य घूमती है)

राजा—(अपने मन में) क्या प्रिया आ ही गई!

(किसी छल से देखकर बड़ी उत्सुकता के साथ मन में कहता है)

यावन्नैव—जबतक कण्ठ के चारों ओर लगा हुआ कपूर के सम्बन्ध से

कर्पूरव्यतिपंगभूरिसुरभिः कस्तूरिकाकर्दमः ।
यावन्न स्तनयोरयं मलयजक्षोदस्त्यजत्यार्द्रतां
तावत्कौतुकि यद्यदिच्छति मनस्तत्तत्कथं ब्रूमहे ॥ ४४ ॥

इदं च पुनरपरमपत्रपायै धैर्यस्य । यत्किल–

आमुक्तकंकणमधीरदृशः प्रकोष्ठ-
मेप ग्रहीतुमिममद्य कुतूहली नः ।
आमुंचति स्थगितसत्त्वबलावलेपो
रोमांचसंचयमनुस्मरणेन हस्तः ॥ ४५ ॥

नवमालिका—पिअसहि एस महाराओ । जाव पणमेहि । (प्रियसखि एप महाराजः । यावत्प्रणमस्व ।)

(सुलोचना प्रणमति)

महाराजः—(परिष्वज्य) वत्से कल्याणभागिनी भव (उत्थाय)

प्रत्यासीदति कल्याणि वेला दैवज्ञचोदिता ।
प्रसीदति मनश्चैतत्प्रथमं शुभसूचनम् ॥ ४६ ॥

अत्यन्त सुगन्धित यह कस्तूरी का लेप सूख नहीं पाया है और स्तनों पर लगा हुआ यह चन्दन का चूर्ण जबतक आर्द्रता नहीं छोड़ पाया है तबतक कौतुक से युक्त यह हमारा मन जो जो चाहता है उसे हम कैसे कह सकते हैं ॥४४॥

यह एक दूसरी बात धैर्य की लज्जा के लिये हो रहा है ।

आमुक्त—चञ्चलाक्षी की कङ्कण से युक्त इस कलाई को पकड़ने के लिये मेरा यह हाथ इस समय अत्यन्त उत्सुक हो रहा है तथा धैर्य और बल के अहंकार को दूरकर उसके बार-बार होनेवाले स्मरण से रोमाञ्च को धारण कर रहा है ॥ ४५ ॥

नवमालिका—प्रियसखि ! यह महाराज हैं, इन्हें प्रणाम करो ।

(सुलोचना प्रणाम करती है)

महाराज—(आलिङ्गन कर) बेटी कल्याणभागिनी हो ।

(उठकर)

प्रत्यासीदति—हे कल्याणि ! ज्योतिपियों के द्वारा बतलाया हुआ समय

तदिदानीम् । भृङ्गारस्तावत् ।

प्रतीहार.—एष रत्नभृङ्गार' । (उपनमयति)

महाराज —(गृहीत्वा)

इय मया कौरवकैरवेन्दो तुभ्य वितीर्णा गुणरत्नपूर्णा ।
सुलोचना स्वीक्रियता च तस्या स्वय वृतेन प्रथम वरेण ॥ ४७ ॥

तदिदानीम्—

वसुधारावर्षी ते प्रतीच्छतु करः प्रदानजलधाराम् ।
गृह्णातु च करमस्या विगणितपृथ्वीकरादानः ॥ ४८ ॥

(राज्ञो हस्ते सलिलधारामावर्ज्य हस्तमस्या अर्पयति)

राजा—(गृहीत्वा । स्वगत)

चिरेण विस्मारितविप्रलम्भः संभोगशृङ्गारविशृङ्खलोऽद्य ।
सकल्पकोट्या निविडीकृतात्मा सकल्पजन्मा हृदि माद्यतीव ॥४९॥

निकट आ रहा है और मन प्रसन्न हो रहा है यह सबसे पहली शुभ सूचना है ॥ ४६ ॥

इसलिये इस समय झारी देओ ।

प्रतीहार—यह है रत्नमय झारी ।

(झारी देता है)

महाराज—(लेकर)

इय—हे कौरव कुमुदचन्द्र ! मैं तुम्हारे लिये यह गुणरूपी रत्नों से परिपूर्ण सुलोचना अर्पण करता हूँ आप इसे स्वीकृत करें, आप इसके स्वयवृत पति हैं ॥ ४७ ॥

इसलिये इस समय,

वसुधारा—धन की धारा को वर्षानेवाला तुम्हारा हाथ दान-सम्बन्धी जल की धारा को ग्रहण करे तथा पृथिवी के कर—राजस्व ग्रहण की उपेक्षा कर इसके हाथ को स्वीकृत करे ॥ ४८ ॥

(राजा के हाथ में जलधारा छोड़कर सुलोचना का हाथ अर्पित करते हैं)

राजा—(ग्रहण कर अपने मन में)

चिरेण—जिसने चिरकाल बाद विप्रलम्भ शृङ्गार को भुला दिया है,

महाराजः—

मूर्तित्रयोद्भूतिविशेषभूता रत्नत्रयात्मान इमेऽग्नयो वः ।
छत्राणि चक्राणि च यंतु सिद्धयै सिद्धार्चयापादितसंनिधीनि ॥५०॥

अपि च—

यस्य स्वयंभुवो नाभेर्ब्रह्मणो विदुरुद्भवम् ।
विश्वोत्पादलयध्रौव्यसाक्षी चास्तु शिवाय वः ॥ ५१ ॥

प्रतीहारः —

आकाशं मूर्त्यभावादघकुलदहनादग्निरुर्वी क्षमातो
नैःसंग्याद्वायुरापः प्रगुणशमतया स्वात्मनिष्ठः सुयज्वा ।
सोमः सौम्यत्वयोगाद्रविरिति च विदुस्तेजसां सन्निधाना-
द्विश्वात्मातीतविश्वः स भवतु भवतां भूतये भूतनाथः ॥ ५२ ॥

जो संभोग शृङ्गार से स्वच्छन्द हो रहा है तथा जो करोड़ों संकल्पों से अत्यन्त सघन है ऐसा काम इस समय हृदय में मानों उन्मत्त हो रहा है ॥ ४९ ॥

महाराज—

मूर्तित्रयो—रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-स्वरूप ये तीन अग्नियां तथा सिद्ध प्रतिमा के समीप में स्थित छत्र और धर्मचक्र तुम्हारी सिद्धि के लिये हों ॥ ५० ॥

और भी,

यस्य—जिन स्वयंभू ब्रह्मा की उत्पत्ति नाभि—नाभिराज-नामक कुलकर से हुई है तथा जो समस्त पदार्थों से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का साक्षात् करनेवाले हैं वे भगवान् वृषभदेव तुम्हारे कल्याण के लिये हों ॥ ५१ ॥

प्रतीहार—

आकाशं—जो मूर्ति के अभाव से आकाश हैं, पाप-समूह को जलाने से अग्नि हैं, क्षमा से पृथिवी हैं, निष्परिग्रह होने से वायु हैं, अत्यधिक शान्ति से युक्त होने के कारण जल हैं, स्वकीय आत्मा में स्थिर होने से सुयज्वा-याजक हैं, सौम्यता के संयोग से चन्द्रमा हैं, तेज के सन्निधान से

महाराजः—इदं च ते वत्स निसर्गसिद्धेष्वर्येषु क्षत्रियोचितमाचरितु पुनरुक्तमाशास्महे।

चतुर्न्यायी वृत्तं कुलमनघमव्याकुलमवन्
त्रिहामुत्रापायादमलगुणमात्मानमव च।
प्रजाः स्वाश्रायस्व स्वमिव कुमतादूषितमति
पर सामजस्य भज सदसता रत्यरतिदम्॥ ५३॥

राजा—एष गृह्णामि पूज्यपादस्य शिक्षाम्।

नन्द्यावर्त —राजर्षे इयमस्माकं विज्ञप्तिः।

मनुः प्राजापत्यः प्रथमतरमेतद्युगमुखे
चरित्रं क्षत्राहं यदयददधीती श्रुतिशते
अमुष्मिन् निस्तन्द्रः कुरुपतिरसौ साधुचरित
तथाप्येषा शिक्षा स्थिरयति परं प्रीणयति च॥ ५४॥

सूर्य हैं, विश्वरूप हैं तथा विश्व से परे हैं वे भूतनाथ प्राणिमात्र के स्वामी भगवान् जिनेन्द्र आप सब की भूति-ऐश्वर्य के लिये हों॥ ५२॥

महाराज—और हे वत्स! यद्यपि तुम स्वभाव सिद्ध पदार्थों में क्षत्रियोचित आचरण स्वयं करते हो तथापि हम उसकी पुनः आकाङ्क्षा करते हैं।

चतुर्न्यायी—साम आदि चार प्रकार के न्याय से युक्त होते हुए तुम अपने निर्दोष कुल की अच्छी तरह रक्षा करते हुए इस लोक तथा परलोक में निर्मल गुणधारी अपने आत्मा की रक्षा करो, अपनी प्रजा की अपने समान रक्षा करो तथा मिथ्यामत से अपनी बुद्धि को अदूषित रखते हुए तुम सज्जन और दुर्जनों को क्रमशः प्रीति तथा अप्रीति प्रदान करनेवाले श्रेष्ठ सामञ्जस्य—यथार्थवाद की उपासना करो॥ ५३॥

राजा—यह मैं पूज्यपाद की शिक्षा को ग्रहण करता हूँ।

नन्द्यावर्त—राजर्षि! यह हमारी प्रार्थना है।

मनु—भगवान् ऋषभदेव के पुत्र सैकड़ों श्रुतियों के अध्ययन में कुशल भरत चक्रवर्ती ने इस युग के प्रारम्भ में सर्वप्रथम जिस क्षत्रियोचित आचार का निरूपण किया है उसमें यह कुरुपति यद्यपि सावधान हैं तथापि आपको

विशारदः—राजर्षे साधु विज्ञप्तममुना । किंच ।

पुष्णंति कामितविशेषसमीपितार्थ-
सापादयंति दुरितापगमं जनस्य ।
युष्मादृशां प्रशमपूतसमाधिभाजा-
माज्ञाक्षराणि शिरसा पठितानि तानि ॥ ५५ ॥

महाराजः—महाभाग किं ते भूयः प्रियमुपहरामि ।

राजा—

संबंधमीदृशमुपास्य नवीकृतोऽसा-
वस्मास्वनल्पशुभपंक्तिरनुग्रहो वः ।
प्राप्तो मनोरथपदाभ्यधिकः प्रमोदः
भूयः प्रियं मम किमस्ति गवेषणीयम् ॥ ५६ ॥

तथाप्येतद्भवतु ।

यह शिक्षा ज्येष्ठ आचार को स्थिर करती है तथा अत्यन्त संतुष्ट करती है ॥ ५४ ॥

विशारद—राजर्षि ! इसने ठीक कहा है । इसके सिवाय यह बात भी है ।

पुष्णन्ति—शान्ति से पवित्र समाधि को प्राप्त होनेवाले आप जैसे महानुभावों के शिर से पढ़े गये वे आज्ञा-सम्बन्धी अक्षर मनुष्यों के इच्छित विशेष एवं अभिलषित पदार्थ को पुष्ट करते हैं तथा पाप को दूर करते हैं ॥ ५५ ॥

महाराज—महाभाग ! मैं तुम्हारे लिये अधिक क्या प्रिय उपहार दूँ ?

राजा—

सम्बन्ध—इस प्रकार का सम्बन्ध कर हमलोगों पर अत्यधिक कल्याण समूह से युक्त आपका वह अनुग्रह फिर से नवीन कर दिया है । हमलोगों को इच्छा से भी अधिक हर्ष प्राप्त हुआ है अब मेरे लिये अतिशय प्रिय कौन सी वस्तु खोजने योग्य रह गई है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥ ५६ ॥

फिर भी यह हो,

भूयाद्भूतेषु धर्मप्रकृतिरसुमतां निष्प्रकंपानुकंपा
धर्म्यं पात्रे विसृष्टं व्ययनियतिवशादर्जयन्त्वर्थमार्याः।
सन्तानस्थापनायै विदधतु गृहिणः कामखेदापनोदं
चेष्टन्तां चात्मनीना निरुपधिशुचये मोक्षसौख्योदयाय ॥ ५७ ॥

महाराज —एवमस्तु।

अथ च—सर्विदप्रकाशकौटस्थ्यमयीं मायाविलंघिनीम्।
अपवर्गस्य पदवीं त्रयीमाराधयामहे ॥ ५८ ॥

(निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति श्रीगोविंदभट्टस्वामिनः सूनुना श्रीकुमारसत्यवाक्यदेवरवल्लभोदयभूषणनामार्यमिश्राणामनुजेन कवेर्वर्द्धमानस्याग्रजेन कविना हस्तिमल्लेन विरचितं कौतुकबन्धो नाम षष्ठोऽङ्क समाप्तः ॥ ६ ॥

———

भूयाद्भूतेषु—प्राणियों में धर्म का मूल प्रकृति स्वरूप अविचल जीव दया हो, आर्य पुरुष सत्पात्र में दान करने के योग्य पद्धति से धर्म पूर्ण धन का उपार्जन करें, गृहस्थ लोग सन्तान उत्पन्न करने के लिये काम सम्बन्धी खेद को दूर करें और आत्महित के इच्छुक मनुष्य बाह्य उपाधि से रहित होने के कारण पवित्र मोक्ष सुख की प्राप्ति के लिये चेष्टा करें—प्रयत्न करें ॥ ५७ ॥

महाराज—ऐसा हो
और हम भी

संवित्—*जिसमें सम्यग्ज्ञान के प्रकाश की स्थिरता है, जो माया से* परे है तथा जो मोक्ष का मार्ग है उस त्रयी—रत्नत्रय की आराधना करते हैं ॥ ५८ ॥

(सब बाहर निकल गये)

इस प्रकार श्री गोविन्दभट्ट स्वामी के पुत्र श्रीकुमार, सत्यवाक्य, देवरवल्लभ, और उदयभूषण विद्वानों के अनुज तथा वर्द्धमान कवि के अग्रज हस्तिमल्ल कवि के द्वारा विरचित यह कौतुकबन्ध नाम का छठा अङ्क समाप्त हुआ।

———

ग्रंथकारस्य प्रशस्तिः

श्रीमूलसंघव्योमेंदुर्भारते भावितीर्थकृत् ।
देशे समंतभद्राख्यो मुनिर्जीयात्पदर्धिकः ॥ १ ॥
तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यानगंधहस्तिप्रवर्तकः ।
स्वामी समंतभद्रोऽभूद्देवागमनिदेशकः ॥ २ ॥
अवटुतटमटति झटिति स्फुटपटुवाचाटधूर्जटेर्जिह्वा ।
वादिनि समंतभद्रे स्थितवति सति का कथान्येषाम् ॥३॥
शिष्यौ तदीयौ शिवकोटिनामा शिवायनः शास्त्रविदां वरेण्यौ ।
कृत्स्नश्रुतं श्रीगुरुपादमूले ह्यधीतवंतौ भवतः कृतार्थौ ॥ ४ ॥
तदन्वयेऽभूद्विदुषां वरिष्ठः स्याद्वादनिष्ठः सकलागमज्ञः ।
श्रीवीरसेनोऽजनि तार्किकश्रीः प्रध्वस्तरागादिसमस्तदोषः ॥ ५ ॥
यस्य वाचां प्रसादेन ह्यमेयं भुवनत्रयम् ।
तच्छिष्यप्रवरो जातो जिनसेनमुनीश्वरः ॥ ६ ॥

श्री मूल—भारत देश में उत्पन्न, श्रीमूलसंघरूपी आकाश के चन्द्रमा, आगामी तीर्थंकर तथा चारणऋद्धि के धारक श्री समन्तभद्र मुनि जयवन्त हों ॥ १ ॥

तत्वार्थ—वे समन्तभद्र स्वामी तत्वार्थसूत्र के ऊपर गन्धहस्ति नामक टीका के रचयिता तथा देवागम स्तोत्र का निर्माण करने वाले थे ॥ २ ॥

अवटु—वादी समन्तभद्र के रहते हुए स्पष्ट एवं चतुरवक्ता धूर्जटि की भी जिह्वा शीघ्र ही मुख रूपी गर्त में चली जाती थी फिर अन्य लोगों की तो चर्चा ही क्या थी ! ॥ ३ ॥

शिष्यौ—उनके शिवकोटि और शिवायन नाम के दो शिष्य थे । ये दोनों ही शिष्य शास्त्रज्ञ मनुष्यों में श्रेष्ठ थे और श्रीगुरु के चरणमूल में समस्त श्रुत का अध्ययन कर कृतकृत्य हुए थे ॥ ४ ॥

तदन्वये—उन्हीं के वंश में एक वीरसेन नामक आचार्य हुए जो विद्वानों में श्रेष्ठ थे, स्याद्वाद के श्रद्धालु थे, समस्त आगमों के ज्ञाता थे, श्रेष्ठ तार्किक थे और रागादिसमस्त दोषों को नष्ट करने वाले थे ॥ ५ ॥

यस्य—जिनके वचनों के प्रसाद से तीनों लोक अपरिमित हुए थे । उन्हीं वीरसेन स्वामी के शिष्यों में प्रधान एक जिनसेन नाम के आचार्य हुए हैं ।

यद्वाङ्मय पुरोरासीत्पुराण प्रथम भुवि ।
तदीयप्रियशिष्योऽभूद्गुणभद्रमुनीश्वरः ॥ ७ ॥
शलाका' पुरुषा यस्य सूक्तिभिर्भूषिताः सदा ।
गुणभद्रगुरोस्तस्य माहात्म्य केन वर्ण्यते ॥ ८ ॥
यस्य वाक्सुधया भूमावभिषिक्ता जिनेश्वरा ।
तच्छिष्यानुक्रमेयातेऽसख्येये विश्रुतो भुवि ॥ ९ ॥
गोविन्दभट्ट इत्यासीद्विद्वान्मिथ्यात्ववर्जित ।
देवागमनसूत्रस्य श्रुत्वा सद्दर्शनान्वित ॥ १० ॥
अनेकान्तमत तत्त्व बहु मेने विदांवर' ।
नदनास्तस्य सजाता वर्द्धिताखिलकोविदा' ॥ ११ ॥
दाक्षिणात्या जयत्यत्र स्वर्णयक्षीप्रसादत ।
श्रीकुमारकविः सत्यवाक्यो देवरवल्लभ ॥ १२ ॥
उद्यद्भूषणनामा च हस्तिमल्लाभिधानक ।

यद्वाङ्मय—भगवान् आदिनाथ का पुराण पृथिवी पर इन्हीं जिनसेन के वचन स्वरूप प्रकट हुआ था। इन्हीं जिनसेन के प्रिय शिष्य गुणभद्र मुनिराज थे ॥ ७ ॥

शलाका—जिनकी सूक्तियों से सदा शलाका पुरुष विभूषित हुए हैं अर्थात् जिन्होंने उत्तर पुराण के द्वारा शलाका पुरुषों का वर्णन किया है उन गुणभद्र गुरु की महिमा किस के द्वारा कही जा सकती है ! ॥ ८ ॥

यस्य—गोविन्द—जिन गुणभद्र स्वामी के वचन रूपी अमृत से पृथिवी पर तीर्थंकरों का अभिषेक हुआ है अर्थात् जिन्होंने अपनी वाणी से तीर्थंकरों का वर्णन किया है उन्हीं गुणभद्र स्वामी की असख्यात शिष्यपरम्परा के व्यतीत होने पर पृथिवी में अतिशय विश्रुत गोविन्दभट्ट नामक विद्वान् उत्पन्न हुए। ये गोविन्दभट्ट अतिशय विद्वान् थे, मिथ्यात्व से रहित थे तथा देवागमनमोदान-आदि आगम के सुनने से सम्यग्दृष्टि हुए थे ॥ ९-१० ॥

अनेकान्त—वे श्रेष्ठ विद्वान् अनेकान्तसमत तत्त्व को उत्कृष्ट मानते थे। उनके समस्त विद्वानों को बढाने वाले छह पुत्र हुए ॥ ११ ॥

दाक्षिणात्या—श्रीकुमार—वे सब पुत्र दाक्षिणात्य थे और स्वर्णयक्षी देवी के प्रसाद से हुए थे। उनके नाम थे श्रीकुमार, सत्यवाक्य, देवरवल्लभ,

वर्धमानकविश्चेति षडभूवन् कवीश्वराः ॥ १३ ॥
श्रीमद्वीपंगुडीशः कुशलवरचितास्थानपूज्यो वृषेशः
स्याद्वादन्यायचक्रेश्वरगजवशकृद्धस्तिमल्लाह्वयेन ।
गद्यैः पद्यैः प्रबंधैर्नवरसभरितैराद्दतोऽयं जिनेशः
पायान्नः पादपीठस्थलविकटलसत्पांड्यमौलिप्रभौघः ॥ १४ ॥

उद्यद्भूषण, हस्तिमल्ल और वर्धमान कवि। ये सभी श्रेष्ठ कवि थे ॥१२-१३॥

श्रीमद्वीपंगुडीशः—जो श्रीद्वीपंगुडी के स्वामी हैं, कुश और लव के द्वारा रचित स्थान में—मन्दिर में जिनकी पूजा होती है अथवा जो श्रेष्ठ मङ्गल से युक्त देश में पूज्य हैं, धर्म के स्वामी हैं, स्याद्वाद रूपी न्याय के चक्रवर्ती एवं गजेन्द्र को वश करने वाले हस्तिमल्ल कवि ने नव रसों से युक्त गद्य पद्य रूप रचनाओं के द्वारा जिनका आदर किया है, तथा जिनकी चरण चौकी के समीप पाण्ड्य नरेश के मुकुट की कान्ति का समूह अत्यधिक सुशोभित रहता है वे जिनेन्द्र देव हमारी रक्षा करें ॥ १४ ॥

गल्लीलालतनूजेन जानक्युदरसंभुवा ।
पन्नालालेन बालेन टीकैषा रचिता भुवि ॥ १ ॥
विक्रान्तकौरवं रम्यं विद्वज्जनमनोहरम् ।
नाटकं भुवि विख्यातं हस्तिमल्लमहाकवेः ॥ २ ॥
ज्येष्ठशुक्लद्वितीयायां भौमसञ्ज्ञकवासरे ॥
वीरनिर्वाणतो याते संवत्सरकदम्बके ॥ ३ ॥
एकनवचतुर्युग्म-प्रमिते रचिता मया ।
हिन्दीभाषामयी टीका छात्रकल्याणकारिणी ॥ ४ ॥
पदवाक्यविशेषज्ञो हस्तिमल्लो महाकविः ।
रसभावमहाप्राज्ञः क्षमतां स्खलितं मम ॥ ५ ॥
नाहं कविर्न काव्यज्ञः कविपादाब्जषट्पदः ।
स्वचेतस्तृप्तये जातु गुञ्जितं विदधाम्यहम् ॥ ६ ॥

समाप्तमिदं नाटकम् ।